Scanned

अर्थसग्रह

समर्पण

पूज्य गुरुदेव

आचार्य पं० आनन्द झा जी

को

सादर

'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः'

दो शब्द

अर्थसङ्ग्रह ग्रन्थ पर अभी तक हिन्दी में कोई ऐसी व्याख्या न थी जिसमें विषय का स्पष्टीकरण सुचारुरूप से हुआ रहा होता। निश्चय ही हिन्दी माध्यम से उक्त ग्रन्थ के अध्येता छात्रों के सम्मुख ग्रन्थार्थानवबोधविषयक समस्या थी जिसे सुलझाने के लिए इस ग्रन्थ पर 'अर्थबोधिनी' व्याख्या लिखी गई है।

मैंने अपनी इस कृति को अपने पूज्य गुरुदेव आचार्य पं० आनन्द झा जी (अध्यक्ष—प्राच्य संस्कृत-विभाग, लखनऊ विश्व-विद्यालय) को समर्पित किया है। इन्हीं विद्वद्वरेण्य गुरुदेव के चरणों में बैठकर लेखक ने वर्षों अध्ययन किया है। आदरणीय गुरु डा० मातृदत्त जी त्रिवेदी (संस्कृतविभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) से प्रायः शास्त्र-चर्चा होते रहने से लेखक को प्रेरणात्मक तथ्यों की अवगति होती रहती है। एतदर्थ लेखक उनके प्रति आभार व्यक्त करता है।

संस्कृत के शीर्षस्थ विद्वान् हमारे पूज्य गुरुदेव प्रोफेसर को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर लेखक को सदैव अपने परामर्श एवं प्रेरणा से लाभान्वित करते रहे हैं। उनकी इस कृपा का लेखक हृदय से कृतज्ञ है। आदरणीय गुरु डा० शिवशेखरजी मिश्र (संस्कृतविभाग लखनऊ विश्वविद्यालय) की अनवरत प्रेरणा का लेखक विशेष आभारी है।

मेरे मित्र डा० बाबूराम जी पाण्डेय (अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, डी. ए. वी. कालेज कानपुर) ने इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि देखकर इसके प्रकाशित न होने पर चिन्ता व्यक्त की। उन्हीं के प्रयास से ग्रंथ शीघ्र प्रकाशित हो सका है। मैं अपने मित्र डा० पाण्डेय जी को इसके लिए हार्दिक धन्यवाद देता हूँ प्रकाशक महोदय श्री रतिराम जी शास्त्री ने तत्काल ही ग्रन्थ के मुद्रण की व्यवस्था कानपुर में ही कर दी जिससे ग्रंथ शीघ्र मुद्रित हो गया। अतएव मैं उन्हें भी धन्यवाद देता हूँ।

—लेखक

विषय-सूची

विषय—पृष्ठ

[ग] मंत्रप्रकरणम् [१७९–१९६]

(घ) नामधेयप्रकरणम् [१९७–२१७]

भूमिका

मीमांसा दर्शन का उद्भव एवं विकास

मीमांसा शब्द — 'मीमांसा' शब्द का अर्थ 'विचार' होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय वाङ्मय में सर्वप्रथम सिद्धान्त-रूप में तर्क का उपयोग यागसम्पादनविधि के विषय में किया गया। वैदिक साहित्य में यहाँ तक कि मंत्रभाग में 'मीमांसते' शब्द का प्रयोग मिलता है[1]। ब्राह्मण ग्रन्थों के विभिन्न स्थलों में यागक्रियाविषयक विचारविमर्श के अर्थ में 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग मिलता है, इस अर्थ में 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग कौषीतकि जैसे परवर्ती ब्राह्मणग्रंथों में अधिक मिलता है —

'Not rerely in the Brahmaṇas in later texts like the Kauṣītaki, The term 'Mīmāṁsa' occurs as the designation of a discussion on some point of ritual practise[2].,

मीमांसा का उद्भव— ब्राह्मण ग्रथ मंत्रों की यागपरक व्याख्या हैं। यागविधान का उदय कब और कैसे हुआ, ब्राह्मण ग्रंथों में उनका अवतार कहाँ से हुआ, यह कहना कठिन है। यद्यपि ब्राह्मण ग्रंथों में यागसम्पादन-विधियों का ही सविस्तार विवेचन प्राप्त होता है, किंतु वह भी स्वयं में पूर्ण नही है। अवश्य ही कोई मौखिक परम्परा रही होगी जिसके आधार पर परम्परा से विभिन्न शाखाओं में निहित यागप्रक्रिया के विवेचन को समझा और समझाया जाता होगा। शनैः—शनैः यागविज्ञान में समृद्धि होती गई

१— उत्सृज्यां नोत्सृज्यामिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः' (तैत्तिरीयसंहिता ७—५/७/१)

2— Keith: The Karma Mīmāṁsa — page 1

होगी, तद्‌विषयक अनेक समस्यायें उठी होंगी जिनका समाधान होता रहा होगा और मौखिक परम्परा द्वारा प्रभूत यागविज्ञान अनेक पीढ़ियों से संक्रान्त हुआ होगा। मौखिक परम्परा के ह्रासोन्मुख होने के भय से उस कर्मकाण्ड-विषयक ज्ञानराशि को जो ग्रंथ का आकार देने का प्रयास हुआ वही स्मृति-साहित्य है[1]।

ज्यों ज्यों कर्मकाण्ड का प्रचार बढ़ता गया तद्‌विषयक अनेक समस्यायें भी उत्पन्न हुईं।

कर्मकाण्ड के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन के साथ ही अनेक प्रकार के प्रश्न उठ खड़े हुए थे--क्या सभी वैदिक वाक्यों का संबंध याग से है? मंत्र एवं ब्राह्मण ग्रंथों में क्रियाओं के पूर्वापर के सम्बन्ध में होने वाले विरोध-प्राप्तिस्थल में दोन में कौन मान्य होगा? अनेक प्रमाण एक ही साथ एक पदार्थविशेष को अनेक क्रियाओं में विनियुक्त कर रहे हों तो उनमें से कौन मान्य होगा और कौन अमान्य? क्या याग के अनुष्ठान के लिए किन्ही अर्हताओं की आवश्यकता होती है अथवा कोई भी व्यक्ति किसी भी याग का सम्पादन करके उसका फल प्राप्त कर सकता है? क्या यागानुष्ठान की आज्ञा या प्रेरणा वेद के स्वयं अपने शब्दों द्वारा मिलती है? यदि हाँ तो किस प्रकार? किस क्रिया का अनुष्ठान कौन व्यक्ति करेगा? कौन सी क्रिया मुख्य है और कौन उसकी अङ्गभूत? जिन यागों के विधान अपूर्ण हैं उनकी पूर्ति कैसे की जायेगी? इत्यादि ऐसे अनेक प्रश्न थे जिनका उत्तर देना था और वह भी तर्क-संगत--श्रुतिसंगत न्याय पर आधारित--कारणनिर्देशपूर्वक।

याज्ञिकों को ऐसे प्रश्नों का उतर देने के लिये तर्क का सहारा लेना पड़ा। तर्कनिष्ठ सिद्धान्तों का निर्माण हुआ और उन सिद्धान्तों को कम से कम

The old rules regulations began to be collected probably as tradition had it, and this it seems gave rise to the Smṛti literature

(Dasgupta : A History of India Philosophy Vol. I pp 370-71)

मौखिक परम्परा के रूप में संगृहीत किया गया। उक्त प्रकार के सिद्धान्तों का निर्माण करने वालें व्यक्तियों में कुछ ऐसे भी थे जो अनेक पीढ़ियों बाद भी नहीं भुलाये जा सके, जिनके सिद्धान्त सदैव के लिए कर्मकाण्डविज्ञान के आधार बन गये। हो सकता है उन्होंने कुछ ग्रंथों की भी रचना की हो, किन्तु उनके ग्रंथों की प्राप्ति आज हमें नहीं हो रही है।

जैमिनिपूर्वमीमांसक— मीमांसा के उन गण्यमान दार्शनिकों में जिनके ग्रंथों की प्राप्ति आज हमें नहीं होती अथ च जिनके द्वारा अन्विष्ट सिद्धान्तों का प्रभाव मीमांसा दर्शन के मूलभूत प्राप्त ग्रंथ 'मीमांसा–सूत्र' पर महनीय रूप में हैं, मुख्य हैं—बादरि, आत्रेय, लाबुकायन और ऐतशायन आदि। इन मीमांसकों के ग्रंथ प्राप्त न होने के कारण हमारे पास यह जानने का साधन नहीं है कि प्राप्त जैमिनि-सूत्रों में कितना अंश जैमिनि का अपना मौलिक है और कितना पूर्ववर्ती आचार्यों से गृहीत। जैमिनि-सूत्रों की प्रौढ़ता से भी ज्ञात होता है कि सूत्रों का बहुत अधिक अंश पूर्वाचार्यों की देन है[1]।

मीमांसा के मुख्य आचार्यों एवं कृतियों का संक्षिप्त विवरण

जैमिनि–

रचनायें–

१. **मीमांसासूत्र—** मीमांसा दर्शन का प्राप्त मूलभूत ग्रंथ 'मीमांसासूत्र है। इसे 'जैमिनि–सूत्र' भी कहा जाता है। दर्शनजगत् में सूत्रप्रणाली की उद्भावना का श्रेय जैमिनि को ही मिलना चाहिए क्योंकि दर्शनसूत्रसाहित्य

---

1 'The Mīmāṁsā Sūtra of Jaimini presupposes a long history of Vedic interpretaion, since it sums up the general rules (nyāyas) which were in use'.

(Dr, Radhakrishnan : Indian Philosophy Vol. 2 p. 376)

में सर्वप्रथम सूत्ररचना 'जैमिनिसूत्र' ही है, जिनका अनुकरण अन्य सूत्रकारों ने किया।

डा॰ दास गुप्त का मत है कि मीमांसासूत्रों का सम्बन्ध एक शाखा विशेष से प्रतीत होता है, अन्य शाखाओं के सूत्रों का लोप हो गया होगा। जैमिनि ने अनेक आचार्यों का उल्लेख मीमांसा-सूत्रों में किया है, किंतु उनकी कृतियां अप्राप्त हैं। अधिक संभव है उन कृतियों का सम्बन्ध अन्य शाखाओं से हो[1]। परन्तु डा॰ दासगुप्त का यह कथन इसलिए मान्य नहीं प्रतीत होता कि यदि शाखाभेद से मीमांसा का भेद होता और मीमांसा दर्शन में वर्णित वे आचार्य जिनकी कृतियां आज उपलब्ध नहीं हैं डा॰ दासगुप्त के कथनानुसार अन्य शाखा से सम्बद्ध मीमांसा के प्रवर्तक आचार्य होते तो भला उनकी चर्चा इस मीमांसा में, जो डा॰ दासगुप्त की दृष्टि में एकमात्र शाखा की मीमांसारूप में मान्य है, कैसे होती क्योंकि वे विभिन्न शाखाओं की विभिन्न मीमांसायें मानते हैं। तदनुसार एक मीमांसागत एकशाखासम्बद्ध मीमांसा के प्रवर्तक आचार्य का अन्यशाखासम्बद्ध मीमांसा से कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता है। अतः प्रकृत मीमांसा में होने वाले अन्य आचार्यों का उल्लेख ही यह बतलाता है कि उल्लिखित सभी आचार्य प्रकृत मीमांसा से ही सम्बद्ध हैं अतः उन आचार्यों के उल्लेख के आधार पर मीमांसा को शाखाभेद से भिन्न नहीं सिद्ध किया जा सकता।

संभव है कि डा॰ दासगुप्त को इस प्रकार लिखने की प्रेरणा इससे मिली हो कि जैमिनि के नाम पर हमें सामवेद की जैमिनीय शाखा में

1—"........and it is probable that there were different schools of this thought. That Jaimini's Mīmāṁsā sūtras (which are with us the foundations of Mīmāṁsā) are only a comprehensive and systematic compilation of one school is evident from the references he gives to the views in different matters of other preceding writers who dealt with the subject."

1— Dr. Dasgupta : A History of India Philosphy Vol. 1 p.370.

जैमिनीय संहिता, जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीय श्रौतसूत्र एवं जैमिनीय गृह्य-सूत्र भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार शाखाविशेष के साथ ही उनका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। परन्तु मीमांसा दर्शन के अन्दर सभी वेदों से सम्पृक्त विचार उपलब्ध होने के कारण भी प्रकृत मीमांसा को किसी एक वेद की एक-मात्र शाखा की मीमांसा नहीं माना जा सकता।

जैमिनि को स्वसूत्ररचना में प्रभूत सामग्री पूर्वाचार्यों से मिली होगी। वे मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक नही संकलनकर्ता हैं[1]।

जैमिनि ने मीमांसा-सूत्रों की रचना १२ अध्यायों में की है। इसलिए इसे द्वादशलक्षणी भी कहा जाता है[2]। तृतीय, षष्ठ एव दशम अध्यायों को छोड़कर अन्य सभी अध्यायों में से प्रत्येक में ८ पाद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रंथ में ६० पाद प्राप्त होते हैं। सूत्रों की संख्या एक गणना के अनुसार २६५२ है, दूसरी गणना के अनुसार २७४२ मानी जाती है सूत्रों का विभाजन विषय की दृष्टि से अधिकरणों में भी है। सम्पूर्ण अधिकरणों की संख्या ९१५ मानी जाती है[3]। मीमांसासूत्र के प्रत्येक अध्याय में जिन विषयों का विवेचन किया गया हैं उनका संक्षिप्त विवरण विभाग संख्या २ की अर्थबोधिनी में देखिए।

२ **संकर्षण काण्ड**– कतिपय विद्वान् 'संकर्षणकाण्ड' को जैमिनि की रचना मानते हैं। 'संकर्षणकाण्ड' को 'देवताकाण्ड' भी कहा जाता है। 'संकर्षणकाण्ड' पूर्वमीमांसा का ग्रंथ है। इसमें उपासना का विवेचन प्राप्त होता है। उपासना का भी विधान वेद में प्राप्त होता है[4]। इसीलिए उपासना को ही सर्वाधिक महत्त्व देने वाले आचार्य रामानुज ने ब्रह्मसूत्र के अपने श्रीभाष्य में मीमांसादर्शन को 'षोडशाध्यायी' कहा है क्योंकि अध्यायचतुष्टया-

---

1—Dr. Dasgupta : A History of Indian Philosophy. Vol. I p. 370.

२– 'सा हि मीमांसा द्वादशलक्षणी' (सर्वदर्शनसंग्रह)

3— Keith : The Karma Mīmaṁsā p. 4

4— Dr. Radhakrishnan : Indian Philosophy. Vol 2 p. 376

त्मक 'संकर्षणकाण्ड' को भी वे जैमिनिकृत एवं प्रकृतमीमांसादर्शन के अन्तर्गत मानते हैं।

समय— कीथ एवं डा० दासगुप्त के अनु ार मीमांसासूत्रों की रचना का काल लगभग २०० वर्ष ईसापूर्व है[1]। डा० राधाकृष्णन के अनुसार ये सूत्र ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी के पूर्व रचित नहीं माने जा सकते।

जैमिनि का जीवनवृत्त— जैमिनि के जीवनवृत्त के विषय में प्रायः सम्पूर्ण संस्कृतसाहित्य मौन है। बौद्ध एवं जैन साहित्य से भी जैमिनि के जीवनवृत्त पर प्रकाश नहीं पड़ता। महाभारत में जैमिनि का उल्लेख अवश्य है, किन्तु दार्शनिक-रूप में नहीं। पाञ्चरात्र में एक हाथी द्वारा जैमिनि की मृत्यु का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त आश्वलायन एवं सांखायन गृह्यसूत्रों में जैमिनि का उल्लेख हुआ है। किन्तु इस प्रकार के उल्लेखों द्वारा उनके व्यक्तित्व के विषय में हमारा ज्ञान नगण्य ही रहता है।

मीमांसासूत्र के प्राचीन व्याख्याता— भर्तृमित्र, भवदास, हरि, उपवर्ष और वृत्तिकार मीमांसादर्शन के उन आचार्यों में हैं जिनकी व्याख्यायें मीमांसासूत्रों पर थी किन्तु वे सभी अप्राप्य हैं[2]। उक्त आचार्यों में सर्वप्रथम वृत्तिकार हैं। शबरस्वामी ने मीमांसासूत्र' (१।१।५) के भाष्य में एक उद्धरण प्रस्तुत किया है और उसे वृत्तिकार का बतलाया है। वृत्तिकार के उक्त उद्धरण में बौद्धमत का खण्डन मिलता है कुमारिलभट्ट ने वृत्तिकार के उद्धरण की अन्य प्रकार से व्याख्या की है[3]। कीथ वृत्तिकार के उद्धरण में बौद्धों के केवल शून्यवाद का ही खण्डन मानते हैं, विज्ञानवाद का नहीं। अतएव वृत्तिकार का समय ईसा की चतुर्थ शताब्दी के उपरान्त न मानने के

1— Keith : The Karma Mimaṁsa. p. 7
and
Dr. Dasgupta : A History of Indian Philosophy Vol. 1 p. 370

2– Dr. Radhakrishnan : Indian Philosophy Vol. 2, pp. 376–77

३–'वृत्तिकारस्त्वन्यथेमं ग्रन्थं वर्णयाञ्चकार, तस्य निमित्तपरीष्टिरित्येवमादि' रिति भाष्यं, तनादिशब्दं केचित् लुप्तमकारं पठन्ति, तत् दूषयति आदिशब्द इति।"

पक्ष में हैं, अन्यथा यदि वृत्तिकार का समय उक्त काल के बाद होता तो वे विज्ञानवाद का खण्डन अवश्य करते[1]।

मीमांसासूत्र पर वृत्ति लिखने के कारण मीमांसकविशेष को वृत्तिकार कहा गया होगा। वृत्तिकार का वास्तविक नाम अज्ञात है। कुछ लोग भवदास को और कुछ लोग उपवर्ष को वृत्तिकार मानते हैं। जेकोबी के अनुसार बोधायन ने पूर्व एवं उत्तर दोनों मीमांसादर्शनों पर वृत्ति लिखी थी[2]।

शबरस्वामी – मीमांसा-सूत्र' पर प्राप्त सर्वप्रथम व्याख्या का नाम 'शाबरभाष्य' है। इसके रचयिता शबरस्वामी हैं। डा० गङ्गानाथ झा के अनुसार राजा विक्रमादित्य शबरस्वामी के पुत्र थे। विक्रमादित्य की माता क्षत्रियवंशीया थीं। अतएव इस प्रमाण से शबरस्वामी का समय लगभग ५७ वर्ष ईसापूर्व होना चाहिए। शबरस्वामी का असली नाम आदित्यदेव एवं भर्तृहरि तथा वराहमित्र को इनका पुत्र माना जाता है। जैनों के उत्पीडन के कारण आदित्यदेव ने वनवासी शबर का वेश धारण कर लिया था, इसीलिए इन्हें शबरस्वामी कहा जाता है। शबरस्वामी के सम्बन्ध में उक्त सभी सूचनाओं को कीथ महाशय कोरी कल्पना मानते हैं। इनके अनुसार शबर-स्वामी का समय ४०० ईसवी सन् के पूर्व नहीं होना चाहिए।

वार्तिककार–डा० गङ्गानाथ झा के अनुसार 'शाबरभाष्य' पर एक व्याख्या 'वार्तिक' थी। यह व्याख्या आज उपलब्ध नहीं है इसके रचयिता को वार्तिक-कार ही कहा जाता है, क्योंकि उनका नाम अज्ञात है। डा० झा के अनुसार इसी व्याख्या को आधार मानकर प्रभाकर ने शाबरभाष्य पर 'बृहती' नामक व्याख्या लिखी थी[3]।

प्रभाकर– शबरस्वामी के पश्चात् प्रभाकर तथा कुमारिल इन दो मीमांसकों

1— Keith : The Karma Mimamsa p. 7
2— (J. A. O. S. 1911)
3— Dr. Dasgupta : A History of Indian Phiosophy Vol p. 370

ने भिन्न–भिन्न सिद्धान्तों को जन्म दिया । इस प्रकार शावरभाष्य के पश्चात् मीमांसादर्शन की दो भिन्न–भिन्न शाखायें बन गईं । डा० गङ्गानाथ झा के समान कीथ महाशय प्राभाकर मत का उद्भावक प्रभाकर को न मानकर वार्तिककार को मानते हैं जिनकी कृति का अनुसरण करके उन्होंने वृहती नामक अपनी व्याख्या लिखी ।

परम्परा प्रभाकर को कुमरिल का शिष्य मानती है। प्रभाकर के मत को गुरुमत भी कहा जाता है । कीथ प्रभाकर को कुमारिल का परवर्ती मानने को तैयार नहीं । उनकी उक्ति है कि कुमारिल ने प्रभाकर के मतों की आलो–चना की है और स्वतत्र मत स्थिर किये हैं जबकि प्रभाकर शावरभाष्य का अनुमोदन करते हुए चलते हैं और कहीं भी कुमारिलमत की आलोचना करते नहीं पाये जाते हैं[1] ।

प्रभाकर ने संभवतः केवल 'वृहती' एवं 'लघ्वी' दो वृत्तियां लिखी हैं । 'लघ्वी' को 'विवरण' भी कहा जाता है । इनकी शैली सरल है । समस्तपदों का यत्र तत्र ही प्रयोग मिलता है, । भाषा स्पष्ट है, प्रायः एक ही वाक्य में अनेक विचारों को प्रश्रय नहीं दिया गया है, ग्रथ प्रायः प्रश्नोत्तर रूप में है अत-एव कहीं–कहीं पूर्वोत्तर पक्ष समझने में संदेह उत्पन्न हो जाता है ।

कुमारिल— कुमारिल भट्ट अत्यधिक मेधावी मीमांसक थे । इनका समय लगभग ७०० ईसवी सन् माना जाता है । इनके निवास-स्थान के विषय में मतभेद है । एक मत के अनुसार ब्राह्मण कुमारिल विहार प्रान्त (मिथिला) के निवासी थे । दूसरे मत के अनुसार इन्हें दक्षिण भारत का निवासी माना जाता है । कहा जाता है कि पहिले ये बौद्ध थे, बाद में मीमांसक हो गये ।

कुमारिलरचित तीन ग्रन्थों की प्राप्ति होती है । तीनों ग्रन्थ शाबरभाष्य के विभिन्न तीन अंशों की व्याख्यायें है । प्रथम ग्रन्थ का नाम 'श्लोकवार्तिक' है । जैसा कि इस ग्रन्थ का नाम है इसकी रचना श्लोकों में की गई है । यह ग्रन्थ 'शाबरभाष्य' के प्रथम अध्याय

1—Keith : The Karma Mīmaṁsā. pp. 9,10

के प्रथम पाद की व्याख्या है। इस पाद का नाम 'तर्कपाद' है। इसे 'तर्कपाद' इसलिए कहा जाता है कि इस पाद में दार्शनिक विचार प्राप्त होते हैं। 'श्लोकवार्तिक' ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा प्रत्येक दृष्टि से अत्युत्कृष्ट ग्रन्थ है। दूसरे ग्रन्थ का नाम 'तंत्रवार्तिक' है। शावरभाष्य के प्रथम अध्याय के अवशिष्ट तीन पाद, द्वितीय अध्याय एवं तृतीय अध्याय की व्याख्या इस ग्रन्थ में की गई है। कुमारिल के तृतीय ग्रन्थ का नाम 'टुप्टीका है। इस ग्रन्थ में शावरभाष्य के अवशिष्ट अन्तिम नौ अध्यायों की संक्षिप्त व्याख्या की गई है।

कुमारिल भट्ट ने यत्र तत्र भाष्य से विपरीत अपने मत का ख्यापन किया है। कीथ का कथन है कि कुमारिल के ग्रथों को देखने से हमें शङ्कराचार्य के 'शारीरक भाष्य' का स्मरण हो आता है।

मण्डनमिश्र—मण्डन मिश्र ने 'विधिविवेक' एवं 'मीमांसानुक्रमणी' नामक ग्रंथों की रचना की है। 'विधि-विवेक' में 'विधि' पर विचार किया गया है और 'मीमांसानुक्रमणी' में शावरभाष्य में प्रतिपादित विषयों का संक्षिप्त विवेचन है। इसके अतिरिक्त इनकी रचनायें 'भावनाविवेक', 'स्फोटसिद्धि' एवं 'विभ्रमविवेक' हैं। मण्डन मिश्र के सभी ग्रंथ कुमारिल के मत की पुष्टि करते हैं। ये कुमारिल से परवर्ती किन्तु वाचस्पति मिश्र से पूर्ववर्ती हैं।

शालिकनाथ—शालिकनाथ ने अपने गुरु प्रभाकर के मत की पुष्टि की है। इनके मुख्य तीन ग्रंथ प्राप्त होते हैं—

१—**ऋजुविमला**—ऋजुविमला प्रभाकरकृत 'बृहती' ग्रंथ की व्याख्या है।

२—**प्रकरणपञ्चिका**—इस ग्रंथ में प्रभाकरसम्मत ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा प्राप्त होती है।

३—**परिशिष्ट**—'परिशिष्ट' शावरभाष्य की संक्षिप्त व्याख्या है।

शालिकनाथ प्रभाकर के शिष्य बताये जाते हैं। इन्होंने 'प्रकरणपञ्चिका' में धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है, अतएव ये धर्मकीर्ति से परवर्ती हैं।

वाचस्पति मिश्र—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र (ईसवी सन् ८५०) का (१) 'न्यायकणिका' ग्रंथ मण्डन मिश्र के 'विधिविवेक' की टीका हैं। कुमारिलमत का अनुसरण करते हुए इन्होंने (२) 'तत्त्वविन्दु' नामक ग्रन्थ की भी रचना की है।

सुचरित मिश्र—इन्होंने कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' पर 'काशिका' नामक व्याख्या लिखी है।

सोमेश्वर भट्ट—इन्होंने 'तंत्रवार्तिक' की व्याख्या की है जिसे 'न्यायसुधा' अथवा 'राणक' कहा जाता है।

भवनाथ—इनका समय ईसा की दसवीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने प्रभाकर के मत की पुष्टि करते हुए 'नयविवेक' नामक ग्रंथ लिखा।

मुरारि—मीमांसाजगत् में प्रभाकर एवं कुमारिल के मतों के द्वारा दो विभिन्न सम्प्रदाय हो गये थे। एक तीसरा सम्प्रदाय मुरारि मिश्र का भी है। किन्तु मुरारि की कोई भी कृति प्राप्त नहीं होती।

पार्थसारथि मिश्र—मीमांसकों में पार्थसारथि मिश्र का अपना विशिष्ट स्थान है। ये कुमारिलमत के प्रबल समर्थक हैं। इनके ग्रन्थों पर अनेक विद्वानों ने व्याख्यायें लिखी हैं। पार्थसारथि मिश्र ने चार ग्रंथों की रचना की—

१—न्यायरत्नाकर—यह 'श्लोकवार्तिक' की व्याख्या है।

२—शास्त्रदीपिका—इस स्वतन्त्र ग्रंथ की रचना सूत्रों के भाव का बोध कराने के लिये की गई है।

३—तंत्ररत्न—अन्तिम नौ अध्यायों के मीमांसासूत्र-भाष्य की व्याख्या इस ग्रथ में की गई है।

४—न्यायरत्नमाला—स्वतंत्र ग्रंथ है। इस पर प्रसिद्ध वेदान्ती रामानुजाचार्य ने 'राणकरत्न' नामक व्याख्या लिखी है।

रामकृष्ण भट्ट—(सन् १५४३ ई०, इन्होंने पार्थसारथि मिश्र की 'शास्त्र-दीपिका' पर व्याख्या लिखी है, जिसका नाम 'युक्तिस्नेहपूरणी' है। ये माधव के पुत्र हैं।

सोमनाथ–इनके पिता का नाम सूरभट्ट है। ये आन्ध्र ब्राह्मण थे। 'शास्त्र-दीपिका' पर मयूखमालिका' नामक व्याख्या की रचना की।

भट्ट दिनकर–इन्होंने 'शास्त्रदीपिका की व्याख्या लिखी है।

कमलाकर–'शास्त्रदीपिका' के व्याख्याकारों में कमलाकर भी अन्यतम हैं।

विद्यानाथ—(१७१० ईसवी सन्)। इनके पिता का नाम रामचन्द्र था। इन्होंने भी 'शास्त्रदीपिका'पर व्याख्या लिखी है।

माधव–इनका समय ईसा की चौदहवीं शताब्दी है। इन्होंने 'जैमिनीय-न्यायमालाविस्तर' नामक अति प्रसिद्ध मीमांसाग्रंथ की रचना की। यह ग्रंथ मीमांसासूत्रों की व्याख्या है। इसमें पद्यभाग में व्याख्या करने के उपरान्त उसे गद्य द्वारा स्पष्ट किया है।

वेंकट दीक्षित—इन्होंने कुमारिल के 'टुप्टीका' नामक ग्रंथ की व्याख्या लिखी जिसका नाम 'वार्तिकाभरण' है।

अप्पय दीक्षित—(ईसवी सन् १५५२—१६२६) इन्होंने अपने (१) विधि-रसायन' संज्ञक कृति में कुमारिल पर आक्रमण किया है। इनकी दूसरी कृति का नाम (२) 'उपक्रमपराक्रम' है।

आपदेव–(ईसा की १७वीं शताब्दी) आपने 'मीमांसान्यायप्रकाश' नामक ग्रंथ लिखा जिसे 'आपोदेवी' भी कहा जाता है। ये मराठा ब्राह्मण थे[1]। इन्होंने अपने पिता अनन्तदेव से ही विद्या का अध्ययन किया, अन्य किसी से नहीं। कीथ ने आपदेव को 'गोविन्द' का शिष्य माना है किन्तु चिन्नस्वामि-शास्त्री एवं एजर्टन आदि विद्वान् कीथ की इस धारणा को निस्सार मानते हैं[2]। चिन्नस्वामिशास्त्री के अनुसार आपदेव द्वारा सदानन्द के वेदान्तसार की 'दीपिका' नामक व्याख्या एवं आपस्तंब श्रौतसूत्र की एक व्याख्या लिखी जाने की सूचना मिलती है। इनके दो विद्वान् पुत्र हुए—अनन्तदेव एवं जीवदेव[3]।

1—Edgerton : Mīmāṁsānyāyaprakāśa P. 17

२–चिन्नस्वामी शास्त्री: 'मीमांसान्यायप्रकाश' पृष्ठ १३

3—Keith : the Karma Mīmāṁsā P. 13

अनन्तदेव–आपदेव के पुत्र अनन्तदेव ने 'मीमांसान्यायप्रकाश' की व्याख्या लिखी जिसका नाम 'भाट्टालङ्कार' है। इन्होंने 'स्मृतिकौस्तुभ' नामक ग्रंथ की भी रचना की।

जीवदेव–अनन्तदेव के भ्राता जीवदेव ने 'भाट्टभास्कर' ग्रंथ की रचना की

लौगाक्षिभास्कर–(ईसाकी १७ वीं शताब्दी) 'अर्थसंग्रह' ग्रंथ के रचयिता लौगाक्षिभास्कर के विषय में विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।

खण्डदेव–इनकी मृत्यु वाराणसी में ईसवी सन् १६६५ में हुई मानी जाती है। इन्होंने (१) 'भाट्टदीपिका' एवं (२) 'मीमांसाकौस्तुभ' नामक ग्रंथ लिखे।

शंभुभट्ट–(ईसवी सन् १७०८)। ये खण्डदेव के शिष्य माने जाते हैं। इन्होंने अपने गुरु के 'भाट्टदीपिका' ग्रंथ पर व्याख्या लिखी है।

गोपालभट्ट–अप्पयदीक्षित के 'विधिरसायन' का खण्डन इन्होंने अपने 'विधिरसायनभूषण' नामक कृति में किया है।

शंकरभट्ट–अपनी (१) 'विधिरसायनदूषण' संज्ञक रचना में इन्होंने अप्पय-दीक्षित के 'विधिरसायन' का खण्डन किया है। (२) 'मीमांसाबालप्रकाश' इनकी दूसरी कृति है।

केशव–विश्वनाथ के पुत्र केशव ने शंकरभट्ट के 'मीमांसाबालप्रकाश' पर व्याख्या लिखी है।

राघवानन्द–इनकी कृति का नाम 'मीमांसासूत्रदीधिति' है।

रामेश्वर—इन्होंने 'मीमांसासूत्र' की व्याख्या लिखी। इस व्याख्या का नाम 'सुबोधिनी' है।

विश्वेश्वर—इन्हें गागाभट्ट भी कहते हैं। इन्होंने 'भट्टचिन्तामणि' संज्ञक ग्रन्थ की रचना की।

कृष्णयज्वा—इन्होंने 'मीमांसापरिभाषा' नामक लघुकाय ग्रन्थ की रचना की है।

रघुनाथ—इनकी कृति का काम 'मीमांसारत्न' है। इन्होंने सुचरितमिश्र-कृत 'काशिका' का उपयोग किया है।

नारायणतीर्थमुनि—इन्होंने 'भट्टभाषाप्रकाश' ग्रंथ की रचना की।

रामकृष्ण उदीच्य भट्टाचार्य—इनके ग्रंथ का नाम 'अधिकरणकौमुदी' है।

वल्लभाचार्य—इनकी (१) 'पूर्वमीमांसाकारिका' नामक कृति में ४२ कारिकायें हैं जिनमें जैमिनिसूत्रों का सार ग्रथित है। इनके द्वारा रचित दूसरे ग्रंथ का नाम (२) 'जैमिनिसूत्रभाष्य' है।

वेंकटनाथ वेदान्ताचार्य—कीथ के अनुसार इन्होंने (१) 'मीमांसापादुका' संज्ञक कृति में तर्कपाद के विषय को छन्दोवद्ध किया है एवं (२) 'सेश्वरमीमांसा' में पूर्व एवं उत्तर दोनों मीमांसामतों का सम्मेलन कराया है।

वेंकटाध्वरि—इन्होंने (१) 'त्रिविधत्रयपरित्राण' में तीन प्रकार की विधियों की एवं (२) 'मीमांसामकरन्द' में अर्थवाद की प्रामाणिकता प्रतिपादित की है।

नारायण—ये केरलनिवासी थे। इन्होंने कुमारिलमतानुसारी 'मानमेयोदय' संज्ञक ग्रंथ की रचना की।

लौगाक्षिभास्कर एवं उनका 'अर्थसंग्रह'

लौगाक्षिभास्कर का नाम—इनका नाम भास्कर था। लौगाक्षि इनके परिवार का नाम था। अर्थसंग्रह के उपसंहारश्लोक में इन्होंने अपने को 'भास्कर' कहा है। वहाँ 'लौगाक्षि' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है—

'बालानां सुखबोधाय भास्करेण सुमेधसा।
रचितोऽयं समासेन जैमिनीयार्थसंग्रहः॥'

इसी प्रकार 'तर्ककौमुदी' के उपान्तिम श्लोक में इन्होंने अपने को 'भास्करशर्मा' कहा है—

'विद्वद्भास्करशर्मा यो बालव्युत्पत्तिसिद्धये।
यथाकणादसिद्धान्तमकरोत्तर्ककौमुदीम्॥'

यद्यपि अर्थसंग्रह के मङ्गलाचरण श्लोक में एवं तर्ककौमुदी के मङ्गलाचरणगत द्वितीय श्लोक में इन्होंने अपने लिए 'लौगाक्षि' शब्द का प्रयोग अवश्य किया है, किन्तु 'लौगाक्षि' वंशनाम ही प्रतीत होता है जैसा कि अन्य विद्वानों का भी मत है—

'Bhaskara of the Laugakṣi family flourished towards the end of the 16th Century[1]' एवं 'His proper name was Bhaskara, his surname being Laugakṣi[2]'

लौगाक्षिभास्कर का वंश—जैसा कि पूर्व बताया जा चुका है इनके वंश का नाम 'लौगाक्षि' था। इनके पिता का नाम मुद्गल एवं पितामह का नाम रुद्र था। रुद्र कवि थे[३]। डॉ० विद्याभूषण के अनुसार लौगाक्षिभास्कर रुद्र के भतीजे थे[४]।

लौगाक्षिभास्कर का स्थान—इनके स्थान के विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। इन्होंने मणिकर्णिका (वाराणसी) का उल्लेख किया है[५] किन्तु वाराणसी के उल्लेखमात्र से उन्हें वाराणसी का निवासी और वहीं जन्म लेने वाला मान लेना समुचित नहीं प्रतीत होता। दूसरे मत के अनुसार इन्हें दक्षिणभारत का निवासी माना जाता है[६]।

1—Dr. G. Jha : Pūrva Mīmāṁsā and its Sources, Blbliography p. 53.

2—Dr. Vidyabhusan; A History of Indian Logic p. 395.

3—'The author was son of Mudgala, and grandson of the poet Rudra.'
(Keith ; Indian Logic and Atomism, p. 38)

4—'Laugakṣi Bhaskara, well versed in Nyāya, Vaiśeṣika and Mīmāṁsā philosophies, was son of Mudgala and nephew of poet Rudra'
(A History of Indian Logic, p. 395)

5—Keith : Indian Logic and Atomism, p. 38)

6—Dr. G. Jha The Pūrva-Mīmāṁsā and its Sources, Bibliography. p. 53.

लौगाक्षिभास्कर का व्यक्तित्व--लौगाक्षिभास्कर 'वासुदेव' एवं 'रमा' के उपासक थे। इन्होंने अपने दोनों ग्रन्थों--'अर्थसंग्रह' एवं 'तर्ककौमुदी' के मङ्गलाचरण एवं 'तर्ककौमुदी' के एक उपसंहारश्लोक में भी 'वासुदेव' एवं 'रमा' को प्रणाम किया है--

(१) 'वासुदेवं रमाकान्तं नत्वा लौगाक्षिभास्करः'

(अर्थसंग्रह–मंगलाचरणश्लोक)

(२) श्रीवासुदेवं नवनीरदाभं रमाधरालङ्कृतपार्श्वभागम्'

(तर्ककौमुदी : प्रथम मंगलश्लोक)

(३) 'श्रीवासुदेवं सुरवैरिभङ्गं रमाधरालिङ्गितसुन्दराङ्गम्'

(तर्ककौमुदी : अन्तिम उपसंहारश्लोक)

इनके 'वासुदेव' एवं 'रमा' पौराणिक प्रतीत होते हैं। कारण, इन्होंने अपने 'वासुदेव' को मत्स्य आदि अवतार लेकर संसार को संतुष्ट करने वाले पौराणिक ईश्वर के रूप में उल्लेख किया है--

'श्रीवासुदेवं नवनीरदाभं रमाधरालङ्कृतपार्श्वभागम्।
मत्स्यादिरूपैः कृतलोकतोषं विद्यानिदानं परमं नमामि'॥

इसी विषय की पुष्टि तर्ककौमुदी के अन्तिम मङ्गलाचरणश्लोक में प्रयुक्त 'वासुदेवम्' के विशेषणों से हो जाती है--

'श्रीवासुदेवं सुरवैरिभङ्गं रमाधरालङ्कृतसुन्दराङ्गम्।
पादाब्जसंभूतपवित्रमङ्गं नमामि तं वारितदोषसङ्गम्॥'

लौगाक्षिभास्कर को अपनी विद्वत्ता पर गर्व था। अनेक संस्कृत विद्वानों की भांति इन्होंने अपनी विद्वत्ता का उल्लेख अपने शब्दों में किया है। तर्ककौमुदी के उपसंहारगत उपान्तिम श्लोक में प्रयुक्त 'विद्वद्भास्करशर्मा' पद एवं अर्थसंग्रह में 'सुमेधसा' पद इनके अपने विद्याभिमान को सूचित करते हैं।

अर्थसंग्रह का निर्माण करते समय इन्होंने जैमिनि को प्रणाम नहीं किया

किन्तु तर्ककौमुदी के मङ्गलश्लोक में अक्षपाद और कणाद को नमस्कार किया है—

'अक्षपादं मुनिं नत्वा कणादं च ततः परम् ।
लौगाक्षिणा भास्करेण तन्यते तर्ककौमुदी ॥'

लौगाक्षिभास्कर के स्थितिकाल के विषय में दो मत

(क) आपदेव से पूर्ववर्ती—कुछ विद्वानों का मत है कि आपदेव ने अपने 'मीमांसान्यायप्रकाश' संज्ञक ग्रंथ की रचना लौगाक्षिभास्कर के 'अर्थसंग्रह' को आधार बनाकर की है। अतएव लौगाक्षिभास्कर पूर्ववर्ती हैं, आपदेव परवर्ती। इस मत के समर्थकों में से अन्यतम प्रबल समर्थक एजर्टन महोदय हैं। इन्होंने मीमांसान्यायप्रकाश का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। लौगाक्षिभास्कर को आपदेव से पूर्ववर्ती मानने के पक्ष में इनके विचार इस प्रकार प्रतीत होते हैं—

१—'मीमांसान्यायप्रकाश' में बहुत से अंश ऐसे हैं जो अर्थसंग्रह के प्रासङ्गिक स्थलों से अधिक समीप हैं, न कि 'न्यायरत्नमाला' के अंशों से। यद्यपि चिन्नस्वामि ने कुछ ऐसे समान अंशों की तुलना दिखलाकर 'न्यायरत्न-माला' को 'मीमांसान्यायप्रकाश' की रचना का आधार माना है किन्तु वे अंश जितने समीप अर्थसंग्रह से हैं उतना 'न्यायरत्नमाला' से नहीं। इस विषय में सन्देह नहीं कि आपदेव ने 'न्यायरत्नमाला' का उपयोग किया था किन्तु साम्य के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि बहुत से ऐसे अंश हैं जो सीधे 'न्यायरत्नमाला' से नहीं गृहीत हुए हैं अपितु 'अर्थसंग्रह' से[1]।

1—'The Nyāyaratnamālā is not named but was certainly used by Āpadeva. Chinnaswāmī. Introduction p. 2.. lists a number of passages in which the two works agree almost verbatism. The force of most of these comparisons is greatly weakened by the fact that they are also found in the Artha-

२—अर्थसंग्रह लघुकाय ग्रंथ है, अनेक स्थलों पर अस्पष्ट भी है। आपदेव ने विषय को सुस्पष्ट करने के लिए अर्थसंग्रह को आधार बनाकर वर्ण्य विषय का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया[1]।

३—मीमांसान्यायप्रकाश में कुछ ऐसे अंश हैं जिनमें अर्थसंग्रह के मत का खण्डन मिलता है, किन्तु इस प्रसंग में अर्थसंग्रहकार ने आपदेव के मत पर विचार नहीं किया, अपितु पूर्णतः मौन हैं। एजर्टन ने ऐसे कई अंशों का निर्देश किया है। उनके मत में ऐसे अशों में से 'मीमांसान्यायप्रकाश' का निम्नलिखित अंश भी है—

'न तन्मात्रसंकोचार्थत्वादुपसंहारस्य, तदन्यमात्रसंकोचार्थत्वात् पर्युं-दासस्येति—केचित्। अन्येतु…………'[2]।

एजर्टन महाशय यहाँ अर्थसंग्रह के 'उपसंहारो हि तन्मात्रसंकोचार्थः। ……पर्युदासस्तु तदन्यमात्रसंकोचार्थं इति ततो भेदात्'[3] इस अंश का खण्डन

---

saṁgraha, and as a rule in forms which are closer to the Āpodevī than is the Nyāyaratnamālā. I shall show presently that there is some reason to believe that the Arthasaṁgraha was older than the Āpodevī and served as a source for it instead of vice versa, as Chinnaswāmī believes. It is, therefore, at least possible that Āpadeva took those passages from the Arthasaṁgraha, and not from the Nyāyaratnamālā directly. But that he had some direct knowledge of the latter is proved by the fact that he follows it verbally in some passages which are lacking in the Arthasaṁgraha.

(Mīmāṁsānyāyaprakāśa. Introduction, p. 20)

1—Mīmāṁsānyāyaprakāśa, Introduction, p. 22.

२—मीमांसान्यायप्रकाश, पृष्ठ १७२–७३

३—अर्थसंग्रह, विभाग संख्या—८३

मानते हैं। उनके अनुसार 'केचित्' एवं 'अन्ये' पदों से क्रमशः सोमेश्वर एवं पार्थसारथि मिश्र के मत को नहीं लिया जा सकता है, जैसा कि चिन्नस्वामिशास्त्री[1] ने लिया है। कारण, इनकी कृतियों में प्रासङ्गिक मत नहीं प्राप्त होता है[2]।

आपदेव से परवर्ती—कीथ[3] एवं डॉ० राधाकृष्णन[4] आदि विद्वान् लौगाक्षिभास्कर को आपदेव से परवर्ती मानते हैं। इन विद्वानों के अनुसार लौगाक्षिभास्कर ने मीमांसान्यायप्रकाश को आधार मानकर अर्थसंग्रह ग्रंथ की रचना की। इस प्रकार लौगाक्षिभास्कर का समय ईसा की सत्रहवीं शताब्दी निश्चित होता है।

एजटंन महोदय के उक्त विचार सारहीन प्रतीत होते हैं। कारण,—

१—मीमांसान्यायप्रकाश के अंशों की समानता न्यायरत्नमाला के अंशों की अपेक्षा अर्थसंग्रह के अंशों से अधिक होने पर आपदेव को अर्थसंग्रह का अनुगमन करने वाला मान लेना उचित नहीं। ऐसा मानना तर्कसंगत होगा कि आपदेव ने न्यायरत्नमाला से जिन अंशों को ग्रहण किया उनमें स्वाभिमत परिवर्तन भी किया होगा। अर्थसंग्रहकार ने मीमांसान्यायप्रकाश से प्रायः शब्दशः सामग्री ग्रहण की, अतएव दोनों ग्रंथों में अधिक समानता है।

१—"केचिदिति न्यायसुधाकृत इत्यर्थः।' अत्रैव पार्थसारथिमिश्रमतमाह—अन्ये त्विति" (सारविवेचिनी, पृष्ठ १७३)

2—Edgerton : The Mīmāṁsānyāyaprakāśa :, p. 174.

3—'Even better known, perhaps, is the Arthasaṁgraha of Laugākṣi Bhāskara, which seems to be based in part on the work of Āpadeva, and if so must belong to the seventeenth century.'

(Keith : The Karma Mīmāṁsā, p. 13)

4—'Laugākṣi Bhāskara's Arthasaṁgraha, which is also popular, is based on Āpadeva's work.'

(Dr. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol II; p. 378)

२—अर्थसंग्रह लघुकाय ग्रंथ है, अधिक स्थानों पर अस्पष्ट है,संभवत: उसे स्पष्ट और बोधगम्य बनाने के लिये ही आपदेव ने मीमांसान्यायप्रकाश की रचना की, यह युक्ति भी सारहीन इसलिये प्रतीत होती है कि सत्रहवीं शताब्दी मीमांसायुग के ह्रास का काल है। ह्रासकाल में रचित ग्रथों का कलेवर उत्तरोत्तर प्राय: कम होता जाता है। मीमांसान्यायप्रकाश भी मीमांसा का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने वाले छात्रों के लिये बड़ा पड़ रहा होगा, अतएव उसी को संक्षेप करके अर्थसंग्रह ग्रन्थ की रचना की गई। यह दूसरी बात है कि एक आधस्थलों पर अर्थसंग्रहकार ने विषय को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट कर दिया है।

३–ऐसा प्रतीत होता है कि एजर्टन महाशय ने कतिपय उद्धरणों की ओर संकेत करके मीमांसान्यायप्रकाश में अर्थसंग्रह का खण्डन माना है, वह भी उपयुक्त नहीं है। कारण, जिस मत का खण्डन मीमांसान्यायप्रकाश में हुआ है वह प्राचीन है, अत: वह अवश्य किसी ग्रन्थ का मन्तव्य होना चाहिये, भले ही एजर्टनमहोदय को वह मत ढूँढ़ने पर न मिल सका हो। चिन्नस्वामी ने प्राय: उन स्थलों में प्रासङ्गिक मतों के उद्‌भावकों का उल्लेख भी किया है। जहांतक मेरा अपना विचार है अर्थसंग्रहकार ने किसी नवीन मत को जन्म नहीं दिया। उन्होंने सरल भाषा में परम्परागत मीमांसा को संक्षेपमात्र कर दिया है। किन्तु प्रतिपादित मत किसी विद्वान् की दृष्टि में उपयुक्त हो सकते हैं, दूसरे की दृष्टि में अनुपयुक्त। यद्यपि 'मीमांसान्यायप्रकाश' का मत अर्थसंग्रहकार के मत के विरुद्ध है किन्तु फिर भी अर्थसंग्रह में न तो उसका खण्डन मिलता है न मण्डन। यह आवश्यक न था कि अर्थसंग्रहकार प्रतिपद मीमांसान्यायप्रकाश का ही अनुकरण और समर्थन करते। एक आध स्थलों में उन्होंने पूर्वपरम्परागत अन्य मत का ही आदर किया होगा, आपदेव द्वारा प्रतिपादित मत का नहीं। अर्थसंग्रह संक्षिप्त ग्रंथ है। उसमें सर्वत्र या बहुत्र मतों के खण्डन मण्डन का स्थान नहीं सुलभ हो सकता। अतएव यदि अर्थसंग्रहकार ने 'मीमांसान्याय-प्रकाश' के खण्डनीय मत का खण्डन नहीं किया तो उन्हें आपदेव के पश्चाद्वर्ती नहीं मान लिया जाना चाहिये।

इस प्रकार लौगाक्षिभास्कर को आपदेव से परवर्ती मानना चाहिये एवं जैसा अधिकांश विद्वानों ने निर्णय किया है इनका समय ईसा की सत्रहवीं शताब्दी प्रतीत होता है।

लौगाक्षिभास्कर की कृतियाँ

लौगाक्षिभास्कर की दो कृतियाँ प्राप्त होती हैं—

क—तर्ककौमुदी

ख—अर्थसंग्रह

(क) तर्ककौमुदी—'तर्ककौमुदी' न्यायवैशेषिक मत का लघुकाय ग्रंथ है। सर्वप्रथम दो मंगलश्लोक पूर्वोल्लिखित 'श्रीवासुदेवं, एवं 'अक्षपादं मुनिं' आदि मिलते हैं।

'तर्ककौमुदी' प्रशस्तपाद के भाष्य का अनुसरण करती है[1]। मंगलाचरण के उपरान्त ग्रंथ का प्रारंभ वैशेषिक के पदार्थों के उल्लेख से इस प्रकार होता है—

'तत्राभिधेयाः पदार्थाः। ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तैव। तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।'

किन्तु जैसा कि पहिले बतलाया जा चुका है इस ग्रंथ में न्यायसम्मत पदार्थों का भी विवेचन किया गया है। मणिकण्ठकृत 'न्यायरत्न' के उपोद्घात (पृष्ठ ९९) में वि० सुब्रह्मण्य शास्त्री ने तर्ककौमुदी के विषय में अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है—

'लौगाक्षिभास्करशर्मणा वैशेषिकतन्त्रसिद्धपदार्थजाततत्त्वं, नैयायिकसिद्धं

1—'More recent, doubtless, is the Tarka–Kaumudī of Laugākṣi Bhāskara, which is a clear and elegant exposition of the syncretist school, following the Bhāṣya of Praśastapāda.'
(Keith : Indian Logic and Atomism, p 58)

चतुर्विधं प्रमाणं, पञ्चविधान् हेत्वाभासांश्च संक्षेपेण निरूपयन्ती न्यायवैशेषिक-दर्शनव्युत्पित्सूनामुपकाराय तर्ककौमुदी विरचिता। व्याप्तिग्राहकस्य, पक्षत्वस्य, अनैकान्तिकत्रैविध्यस्य च गङ्गेशोपाध्यायाभिमतस्य निरूपकोऽयं चिन्तामणिकारादर्वाचीन इति निश्चिनुमः। बुद्धिनामकस्य गुणस्य निरूपणप्रसङ्गेन चतुर्विधं प्रमाणं, तस्य चतुष्ट्वं प्रामाण्यस्य परतस्त्वञ्च सुनिरूपितमत्र। बालानामनुपयोगात् परीक्षा न कृतेति ब्रुवन्, उक्तपदार्थतत्त्वज्ञानस्य निःश्रेयसहेतुत्ववचनेन तर्ककौमुदीमुपसंजहार[१]।'

तर्ककौमुदी के अन्त में उपसंहाररूप में 'विद्वद्भास्करशर्मा' एवं 'श्रीवासुदेवं' आदि दो श्लोक प्राप्त होते हैं।

(ख) अर्थसंग्रह—लौगाक्षिभास्कर की दूसरी कृति 'अर्थसंग्रह' है। यह निर्णय करना कठिन है कि लौगाक्षिभास्कर ने पहिले 'तर्ककौमुदी' की रचना की अथवा 'अर्थसंग्रह' की।

'अर्थसंग्रह' पूर्वमीमांसा का ग्रंथ है, वह भी कर्मकाण्डपरक। यह ग्रंथ प्रमाणमीमांसा अथवा तत्त्वमीमांसा जैसे दार्शनिक विषयों का स्पर्श नहीं करता। इस ग्रंथ में केवल कर्मकाण्डपरक विषयों पर विचार किया गया है न कि 'मानमेयोदय' आदि ग्रंथों की भांति वैदिकक्रियातिरिक्त दार्शनिक तत्त्वों पर भी। मीमांसादर्शन के मूलभूत ग्रंथ जैमिनीय सूत्रों पर आधारित होने के कारण कर्मकाण्डपरक विचार को भी दर्शन माना जाता है। वस्तुतः कर्मकाण्ड पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार प्रस्तुत करने के कारण 'अर्थसंग्रह' एवं 'मीमांसान्यायप्रकाश' आदि ग्रंथों के विचार को 'दर्शन' शब्द से अभिहित करना समीचीन ही है और इसीलिये इन ग्रंथों को भी 'दर्शनग्रंथ' माना जाता है। विश्व में स्यात् कोई ऐसी संस्कृति हो जिसमें धर्मकर्मकाण्ड पर ऐसा वैज्ञानिक विचार प्रस्तुत किया गया हो।

'अर्थसंग्रह' लिखने का प्रयोजन—सत्रहवीं शताब्दी में मीमांसादर्शन की

१—न्यायरत्नम् Government Oriental Manuscripts Library Madras, 1953

स्थिति और भी दयनीय हो गई थी। विद्वद्वर्ग विशेषत: न्याय एव वेदान्तदर्शन के पठनपाठन में संलग्न था। अतएव मीमांसादर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिये दीर्घकाय ग्रंथ उपादेय न थे। आवश्यकता थी ऐसे लघुकलेवर ग्रंथ की जिसके माध्यम से सरलतापूर्वक छात्र का मीमांसादर्शन में प्रवेश हो सकता। सम्भवत: इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये लौगाक्षिभास्कर ने 'अर्थसंग्रह' नामक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की। लौगाक्षिभास्कर ने ग्रंथ के 'वासुदेवं रमाकान्तं' आदि मङ्गलश्लोक एवं 'बालानां सुखबोधाय' आदि उपसंहार-श्लोक में स्वयं कहा है कि वे बालकों (अव्युत्पन्न विद्यार्थियों) का जैमिनिशास्त्र में प्रवेश हो सके इसलिये 'अर्थसंग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना कर रहे हैं।

अर्थसंग्रह का मीमांसादर्शन में स्थान–कर्मकाण्डपरक मीमांसादर्शन पर 'अर्थसंग्रह' जैसा दूसरा लघुकाय एवं बोधगम्य ग्रन्थ नहीं है। 'मीमांसापरिभाषा' आदि ग्रंथ अर्थसंग्रह की समानता नहीं कर सकते। यद्यपि चिन्नस्वामी शास्त्री ने 'मीमांसान्यायप्रकाश' को निम्नलिखित शब्दों में सर्वोत्कृष्ट कहा है–

'सुदृढमिदमभिधातुं शक्यते शास्त्रेऽस्मिन् नैतादृश: प्रकरणग्रन्थोऽद्य-यावत् प्रकाशं नीत:। किं बहुना नाद्याप्येतादृशो ग्रन्थो विरचित इत्यपि वक्तुं शक्यते।.........योऽयमिदानीमुपलभ्यतेऽस्माभिरर्थसंग्रहाख्यो ग्रंथ: स प्रायेणास्य प्रतिकृतिरेवेति करबदरसमानमेतत्[१]।'

और उनका कथन यथार्थ भी है। किन्तु मीमांसान्यायप्रकाश अर्थसंग्रह की अपेक्षा बड़ा ग्रंथ है, अतएव मीमांसादर्शन में प्रवेश की इच्छा रखने वाले व्यक्ति के लिए जितना उपादेय ग्रंथ अर्थसंग्रह है उतना मीमांसान्यायप्रकाश नहीं। अर्थसंग्रह की लोकप्रियता का मुख्य कारण इसकी सरल भाषा एवं शैली है––

'It is an elementary book which is so very useful for the

१–मीमांसान्यायप्रकाश–भूमिका, पृष्ठ ११

beginners. Due to its easy and simple style the book has become so very popular amongst the Sanskritists.[1],

अर्थसंग्रह की व्याख्यायें—अर्थसंग्रह पर सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कृत व्याख्या रामेश्वरशिवयोगिभिक्षु ने लिखी है। इस व्याख्या का नाम 'कौमुदी' है[२]। इनके गुरु का नाम सदाशिवेन्द्र सरस्वती था एवं सदाशिवेन्द्र सरस्वती के गुरु का नाम गोपालेन्द्र सरस्वती था। यह व्याख्या बनारस में लिखी गई थी जो कलकत्ते से प्रकाशित हो चुकी है। बम्बई एवं वाराणसी से अर्थसंग्रह के कई संस्करण निकल चुके हैं। डा० जी० थिबो (Dr. G. Thibaut) का अँग्रेजी अनुवाद सन् १८८२ ई० में प्रकाशित हो चुका है। डी० वी० गोखले ने अर्थसंग्रह का अँग्रेजी अनुवाद किया है, जिसके साथ में मूल 'कौमुदी' व्याख्या भी है एवं अन्त में शब्दार्थकोष भी दिया गया है। यह ग्रन्थ ओरिएण्टल बुक एजेन्सी पूना से १९३२ में प्रकाशित हुआ है।

ए० वी० गजेन्द्रगडकर तथा आर० डी० करमकर ने मिलकर अर्थसंग्रह के अनुवाद के साथ ही अन्त में सरल अँग्रेजी में टिप्पणी (notes) दिया है जो बोधगम्य, विस्तृत एवं अत्यधिक उपादेय हैं। श्री टाटाम्बरस्वामिकृत 'दीपिका' संज्ञक हिन्दी टीका चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी से सन् १९५३ ई० में पहली बार प्रकाशित हुई है। यह टीका अतिसंक्षिप्त है और रामेश्वरकृत कौमुदी व्याख्या का अनुगमन करती है। सम्भवतः हिन्दी भाषा में प्रकाशित केवल यही एक टीका है।

अर्थसंग्रह के प्रतिपाद्य विषय

मीमांसादर्शन के अनुसार सम्पूर्ण वेद का सम्बन्ध क्रिया अर्थात् याग से है[३]। कोई भी ऐसा वेद का वाक्य अथवा शब्द नहीं है जिसका साक्षात्

1—Dr. G. Jha : Pūrva—Mīmāṁsā and its Sources, Bibliography, p. 53.

२—'श्री जैमिनिनये ग्रन्थः प्रवेशाय निरूपितः ।
विदुषा तत्र बालानां कौमुदीयं वितन्यते ॥'
(कौमुदी व्याख्या का प्रस्तावनाश्लोक)

३—देखिये विभाग संख्या – ५

अथवा परम्परया याग से सम्बन्ध न हो। यहाँ 'क्रिया' (याग) एवं 'धर्म' शब्द पर्यायवाची माने गये हैं।

मीमांसक वेद को 'अपौरुषेय वाक्य' मानता है। वेद किसी पुरुष की रचना नहीं है। वह ईश्वर की भी रचना नहीं है। कारण, प्राचीन मीमांसा ईश्वर का अस्तित्व नहीं मानती। सम्पूर्ण वेद के ५ प्रभेद माने जाते हैं–(१) विधि, (२) मंत्र, (३) नामधेय, (४) निषेध और (५) अर्थवाद[१]। इन पाँचों के ही अन्तर्गत मंत्रब्राह्मणात्मक वेद के सभी वाक्य आ जाते हैं। अर्थसंग्रह में इन्हीं पांचों विषयों का क्रमशः विवेचन किया गया है।

(१) विधि

लक्षण—वेद के उस भाग को विधि कहा जाता है जो लौकिक प्रमाणों से न ज्ञात होने वाले पदार्थ (प्रधानक्रिया, अङ्गक्रिया, द्रव्य, क्रम, अधिकार आदि) का विधान करती है। 'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः[२]'। उदाहरण के लिए 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इस वाक्य को विधि माना जाता है क्योंकि यह वाक्य स्वर्ग प्राप्त कराने वाले 'अग्निहोत्र' नामक याग के अनुष्ठान का विधान करता है। 'अग्निहोत्र' के अनुष्ठान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है इस विषय का ज्ञान प्रत्यक्षादि अन्य किसी प्रमाण से नहीं हो पाता है।

विधि और चोदना—पूर्वपक्षी का कथन है कि जैमिनि ने 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मीमांसासूत्र-१।१।२) के द्वारा यह बतलाया है कि चोदना (विधि) के द्वारा जिसका विधान किया जाता है वह 'धर्म' होता है। इस प्रकार धर्म केवल विधि–जो कि वेद के पाँच अङ्गों में से एक है–का प्रतिपाद्य है, न कि सम्पूर्ण वेद का। फिर 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो

१—देखिये विभाग संख्या—१२

२—देखिये विभाग संख्या—१३

धर्मः' [1] इस धर्मलक्षण में 'धर्म' को वेद का प्रतिपाद्य पदार्थ क्यों माना गया है ?

सिद्धान्ती का उत्तर है कि जैमिनि के उक्त धर्मलक्षण में 'चोदना' पद का अर्थ 'वेद' है विधिमात्र नहीं।

विधि और भावना—'यजेत स्वर्गकामः' एक विधि है। 'यजेत' पद 'यज्' धातु में 'त' प्रत्यय जुड़कर बना है। 'त' प्रत्यय 'तिङ्' होने के कारण सामान्यरूपेण 'आख्यात' कहा जाता है और विधिलिङ् होने के कारण विशेषरूपेण 'लिङ्' कहा जाता है। अर्थात् 'त' प्रत्यय के भी 'आख्यातत्व' एवं 'लिङ्त्व' ये दो अंश हुए। मीमांसा के अनुसार 'त' प्रत्ययगत 'आख्यातत्व' अंश से आर्थी भावना और 'लिङ्त्व' अंश से शाब्दीभावना समझी जाती है। भावना क्या है ? शाब्दी एवं आर्थी भावनाएँ क्या हैं ? इसका विवेचन अग्रिम पंक्तियों में किया जा रहा है। विशेष विवेचन ग्रन्थ के विभाग संख्या ६–११ में देखिए।

भावना का स्वरूप–भावना के शास्त्रीय स्वरूप को समझने के लिए पहिले उसके लौकिक रूप को समझ लेना अधिक सहायक होगा। मान लीजिये कि यज्ञदत्त देवदत्त से कहता है कि 'ओदन पच' (भात पकाओ)। देवदत्त को यज्ञदत्त के 'ओदनं पच' वाक्य को सुनकर यह ज्ञान होता है कि यज्ञदत्त का प्रयोजन मुझ (देवदत्त) में पाकानुष्ठान के प्रति प्रवृत्ति (उन्मुखता) उत्पन्न करना है। तदनुसार देवदत्त में पाकानुष्ठान के प्रति उन्मुखता (प्रवृत्ति) उत्पन्न होती है। 'देवदत्त में पाकानुष्ठान के प्रति उत्पन्न होने वाली उन्मुखता (प्रवृत्ति)–रूप मानसिक क्रिया' को आर्थीभावना कहा जायेगा और यज्ञदत्त में 'देवदत्तगत आर्थीभावना को उत्पन्न करने की उन्मुखता'–रूप 'मानसिक व्यापार' को शाब्दीभावना' कहा जायेगा। ध्यान रहे भावना मानसिक क्रिया है, शारीरिक क्रिया नहीं।

१—देखिये विभाग संख्या—६

इसी प्रकार 'यजेत स्वर्गकामः' एक वैदिक विधिवाक्य है। इसका प्रयोजन श्रोता व्यक्ति में यागानुष्ठान के प्रति उन्मुखता (प्रवृत्ति) उत्पन्न करना है। उक्त वाक्य का प्रयोजन-- अभिप्रायविशेष' ही 'शाब्दीभावना' है और श्रोता व्यक्ति में जो यागसम्पादन करने की प्रवृत्ति (उन्मुखता) उत्पन्न होती है उसे आर्थीभावना कहा जाता है।

भावना का लक्षण—अर्थसंग्रह (विभाग संख्या ७) में भावना का लक्षण 'भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः' किया गया है। विषय का विस्तृत पिष्टपेषण न हो इसलिये उचित यही है कि पाठक इस विषय का विचार वहीं पर देखने का कष्ट करें।

भावना के प्रभेद—भावना के दो प्रभेद हैं—(१) शाब्दीभावना (२) आर्थीभावना। शाब्दीभावना प्रवर्तक वाक्य के प्रयोक्ता व्यक्ति में रहती है, जैसा कि अभी 'भावना का लक्षण' शीर्षक में बतलाया जा चुका है। शाब्दीभावना भी दो प्रकार की समझी जानी चाहिए—एक तो 'ओदनं पच' आदि लौकिक वाक्यों का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों में रहने वाली शाब्दीभावना और दूसरी 'यजेत स्वर्गकामः' आदि वैदिक विधिवाक्यों में रहने वाली शाब्दीभावना। वेद पौरुषेय नहीं है, अपितु नित्यशब्दात्मक हैं, अतएव वेदगत विधिवाक्य भी नित्यशब्दात्मक ही हुए। उक्त प्रकार से शब्दात्मक विधिवाक्य में रहने के कारण ही इस भावना को शाब्दीभावना कहते हैं।

भावना का दूसरा प्रभेद 'आर्थी भावना' है। इस भावना की उत्पत्ति शाब्दीभावना से होती है। पूर्वोक्त 'देवदत्तगत ओदनपाकानुष्ठान के प्रति उत्पन्न प्रवृत्ति' तथैव 'श्रोतृगत यागानुष्ठान के प्रति उत्पन्न प्रवृत्ति' को आर्थी भावना कहा जायेगा।

भावना के तीन अंश--भावना के तीन अंश होते हैं, चाहे वह भावना शाब्दी हो या आर्थी। प्रत्येक भावना के तीन अंश ये हैं—साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता। जिस प्रकार 'कुर्यात्' (करे) इस लौकिक विधिवाक्यस्थल में भावना को 'किं कुर्यात्' अर्थात् 'क्या करे'? 'केन कुर्यात्' अर्थात् 'किससे करे' एवं 'कथं कुर्यात्' अर्थात् 'कैसे करे' इस प्रकार तीन

अंशों की अपेक्षा होती है उसी तरह 'यजेत' इत्यादि विधिवाक्यस्थल में भी भावना को 'किं भावयेत्' 'केन भावयेत्' एवं 'कथं भावयेत्' इस प्रकार तीन अंशों की अपेक्षा होती है। जिन अंशों से क्रमशः इन आकाङ्क्षाओं की शान्ति होती है उन्हें साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता कहा जाता है।

शाब्दीभावना का भाव्य (साध्य) आर्थीभावना होती है, क्योंकि शाब्दीभावना आर्थीभावना को उत्पन्न करती है। शाब्दीभावना के ज्ञान का 'साधन' लिङ्आदि प्रत्यय का ज्ञान होता है। शाब्दीभावना के साध्य (श्रोता व्यक्ति में क्रियानुष्ठान के प्रति होने वाली उन्मुखतारूप आर्थीभावना) की उत्पत्ति विधेय के प्रशंसक वाक्य (अर्थवाद) से होती है। इसलिए 'अर्थवाद के द्वारा ज्ञात क्रिया की प्रशंसा' ही इतिकर्तव्यता' समझी जाती है।

आर्थीभावना के भी साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता ये तीन अंश होते हैं। आर्थीभावना का साध्य--स्वर्गादि फल एवं साधन–यागादिक्रिया होती है एवं आर्थीभावना के इतिकर्तव्यतारूप में प्रयाज आदि अङ्ग क्रियायें अन्वित होती हैं।

विधि के विभाग—अर्थसंग्रह में विधि का विभाजन तीन प्रकार से किया गया है :—

प्रथम विभाजन—इसके अन्तर्गत तीन प्रकार की विधियाँ प्राप्त होती हैं।

१–विधि— इसी को प्रधान विधि या उत्पत्तिविधि कहा जाता है, यथा–'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' यह प्रधानविधि अथवा उत्पत्तिविधि है।[1]। अन्य प्रमाणों से अज्ञात अर्थ (क्रिया) का ज्ञान कराने के कारण इसे प्रधान विधि अथवा विधि माना जाता है[2]

१—देखिये विभाग संख्या—१३

२—'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः' यह विधिसामान्य का लक्षण है विधिविशेष का नहीं। किन्तु प्रकृतस्थल में जो उदाहरण दिया गया है वह उत्पत्ति विधि का उदाहरण है। इसीलिए इसे उत्पत्तिविधि के अन्तर्गत मानकर विभाजन प्रस्तुत किया गया है।

२—गुणविधि—जिस विधि में क्रिया का विधान न किया गया हो, अपितु केवल क्रिया के अङ्ग का विधान किया गया हो, उसे गुणविधि कहते हैं। इस स्थल में क्रिया की प्राप्ति अन्य उत्पत्तिविधियों से हुआ करती है। इसका उदाहरण 'दध्ना जुहोति' यह वाक्य है। इस स्थल में केवल 'दधि' का विधान किया गया है। 'जुहोति' पदबोध्य होमरूप क्रिया की प्राप्ति 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इस वाक्य से होती है।

३—विशिष्टविधि—इस विधि को 'गुणविशिष्ट विधि एवं 'गुणविशिष्टकर्मविधि' भी कहा जाता है। इस विधिस्थल में गुण एवं क्रिया दोनों का एक ही विधान विशेषणविशेष्यभावापन्न-रूप में किया जाता है।

द्वितीय विभाजन—इस विभाजन के अन्तर्गत विधि के चार प्रभेद माने गये हैं—(१) उत्पत्ति विधि, (२) विनियोग विधि, (३) अधिकार विधि और (४) प्रयोगविधि। विधियों का मुख्य विभाजन यही है।

१—उत्पत्तिविधि—उत्पत्तिविधि उस विधि को कहते हैं जो केवल ऐसे प्रधान कर्म का विधान करती है जिसका ज्ञान अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं हुआ रहता है। इसका उदाहरण है—'अग्निहोत्रं जुहोति'। प्रथम विभाजन में इसी को ही 'विधि' या 'प्रधानविधि' कहा गया है एवं विधियों के तृतीय-विभाजन में इसी को अपूर्वविधि भी कहा जायेगा।

२—विनियोगविधि—विनियोगविधि के द्वारा अङ्गी एवं अङ्ग के बीच में होने वाले अङ्गाङ्गिभाव-रूप सम्बन्ध का ज्ञान होता है अर्थात् इस विधि से यह ज्ञान होता है कि कौन किसका अङ्ग है और कौन किसका अङ्गी। उदाहरण के लिये 'दध्ना जुहोति' इस विनियोगविधि को लिया जा सकता है। यहाँ 'दधि' होम का अङ्ग है और 'होम' दधि का अङ्गी अर्थात् प्रधान। जो दूसरे के लिए हो उसे अङ्ग कहते हैं और जिसके लिए दूसरे हों उसे अङ्गी कहा जाता है।

विनियोग विधिस्थल में कौन अङ्ग है और कौन अङ्गी इसका निर्णय

मीमांसा की युक्तियों पर आधारित है[१]। विनियोगविधि के द्वारा कौन किसका अङ्ग है और कौन किसका अङ्गी इसका ज्ञान छः प्रमाणों की सहायता से होता है। ये ६ प्रमाण हैं—(१) श्रुति, (२) लिङ्ग, (३) वाक्य (४) प्रकरण, (५) स्थान एवं (६) समाख्या। इन प्रमाणों की सहायता से विनियोगविधि के द्वारा अङ्गाङ्गिभाव का बोध होता है।

कभी-कभी स्थलविशेष में एक ही साथ उक्त ६ प्रमाणों में से एकाधिक प्रमाणों की प्रवृत्ति होने लगती है। ऐसी स्थिति में किस प्रमाण द्वारा बोध्य विनियोग प्रामाणिक माना जाये? और किस प्रमाण के द्वारा बोध्य विनियोग अप्रामाणिक माना जाये ऐसी? समस्या उपस्थित होती है। इस विषय में मीमांसकों का यह निर्णय है कि उक्त परिगणित ६ प्रमाणों में से जब किन्हीं दो प्रमाणों की प्रवृत्ति विनियोगबोध में एकसाथ होने लगे तो प्रत्येक पूर्ववर्ती प्रमाण अपने किसी भी परवर्ती प्रमाण से अधिक बलवान् माना जायेगा। इसीलिए पूर्ववर्ती प्रमाण के द्वारा बोध्य अङ्गाङ्गिभाव ही प्रामाणिक होगा। पूर्ववर्ती प्रमाणों के परवर्ती प्रमाणों से बलवान् होने के कारणों का निर्देश ग्रंथकार ने ग्रंथ के तत्तत् स्थलों पर किया है। विस्तारभिया श्रुत्यादि प्रमाणों के प्रभेद, लक्षण एव उनके परस्पर बलाबल का विचार प्रकृतस्थल पर नहीं किया जा रहा है। पाठक इन विषयों का विवेचन ग्रंथ के प्रासंगिक स्थलों पर देखने का कष्ट करें।

३—प्रयोगविधि—प्रयोगविधि के द्वारा अङ्गक्रियाओं के अनुष्ठान के क्रम का बोध होता है—'अत एवाङ्गानां क्रमबोधको विधिरित्यपि लक्षणम्[२]'। अभिप्राय यह है कि 'किस अङ्गक्रिया के अनुष्ठान के पश्चात् किस अङ्गक्रिया का अनुष्ठान किया जाना चाहिए इस प्रकार अङ्गक्रियाओं के अनुष्ठान के क्रम का निर्णय प्रयोगविधि के द्वारा होता है। 'प्रयोग' शब्द का अर्थ ही है

१—देखिये विभाग संख्या २२ एवं आगे

२—देखिए विभाग संख्या—५०

'अनुष्ठान'। शीघ्र अनुष्ठान तभी सम्पन्न हो सकता है जब अङ्भूतक्रियाओं के क्रम का ज्ञान शीघ्र हो, अन्यथा किस क्रिया के पश्चात् कौन सी क्रिया अनुष्ठित की जायेगी इसका निश्चय न होने के कारण यागानुष्ठान शीघ्र न हो सकेगा। इससे सिद्ध होता है कि अनुष्ठान (प्रयोग) की शीघ्रता अर्थात् प्राशुभाव का बोध कराने वाली विधि को प्रयोगविधि कहते हैं– 'प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः'[1]।

यदि याग की अङ्गक्रियायें क्रमशः एक के बाद दूसरी अव्यवहितरूपेण अनुष्ठित न होंगी तो उन सभी अङ्गक्रियाओं का परस्पर सम्पर्क स्थापित न हो सकेगा। क्योंकि अङ्गक्रियाओं का अनुष्ठान अविच्छिन्नरूपेण होता रहना चाहिये, अन्यथा उन क्रियाओं में सहभाव—साहित्य न हो सकेगा। हम यह न कह सकेंगे कि 'यह क्रिया इस क्रिया के साथ अनुष्ठित हुई हैं', जब कि सभी अङ्गक्रियाओं का अपनी प्रधान क्रिया के साथ एकवाक्यता का सम्बन्ध रहता है अर्थात् अङ्गक्रियायें और प्रधान क्रिया सब मिलकर एक वाक्यरूप में होती हैं। जैसे वाक्यप्रयोगस्थल में 'सन्निधि' का होना आवश्यक होता है उसी प्रकार इन अङ्गक्रियाओं में भी क्रमशः अव्यवधानेन अनुष्ठान होना आवश्यक होता है। अङ्गक्रियाओं के क्रम का बोध के कराने वाली विधि को ही 'प्रयोगविधि' कहा जाता है। उदाहरण के लिये 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' यह विधि प्रयोग विधि है, क्योंकि उक्त विधि में प्रयुक्त 'क्त्वा' प्रत्यय से यह ज्ञात होता है कि वेद (कुशमुष्टि) के निर्माण करने के पश्चात् वेदी का निर्माण करना चाहिये, अर्थात् इस विधि से दो अङ्ग-क्रियाओं के पूर्वापरभाव का ज्ञान होता है।

प्रयोगविधि के द्वारा क्रम का बोध छः प्रमाणों द्वारा होता है। वे छः प्रमाण हैं—(१) श्रुति (२) अर्थ (३) पाठ (४) स्थान (५) मुख्य एवं (६) प्रवृत्ति।

१—देखिये विभाग संख्या ५०

प्राय: ऐसा भी होता है कि विधिविशेषस्थल में श्रुति आदि एकाधिक प्रमाणों की प्रवृत्ति होने लगती है। एक प्रमाण के द्वारा निर्णीत क्रम दूसरा होता है और दूसरे प्रमाण के द्वारा निर्णीत क्रम दूसरा। ऐसी स्थिति में पूर्ववर्ती प्रमाण द्वारा निर्णीत क्रम स्वीकार्य होता है और परवर्ती प्रमाण द्वारा निर्णीत क्रम अस्वीकार्य। कारण, श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, समाख्या एवं प्रवृत्ति इन सभी प्रमाणों में प्रत्येक पूर्ववर्ती प्रमाण किसी भी अपने परवर्ती प्रमाण से बलवान् है। लिङ्ग' श्रुति से दुर्बल किन्तु अन्य सभी प्रमाणों से अधिक बलवान् है, 'मुख्य' प्रवृत्ति से बलवान् है किन्तु अन्य सभी प्रमाणों से दुर्बल। प्रवृत्ति सबकी अपेक्षा दुर्बल है।

प्रत्येक पूर्ववर्ती प्रमाण क्रमनिर्णय का बोध शीघ्र कराता है और परवर्ती प्रमाण विलम्ब से, इसीलिये प्रत्येक पूर्ववर्ती प्रमाण अपने परवर्ती प्रमाण से अधिक बलवान् होता है।

(४) अधिकार विधि—'अधिकार' शब्द का अर्थ 'फलस्वाम्य' ('क्रिया के फल का स्वामी होना') होता है। फलस्वाम्य' का भी अर्थ 'फलभोक्तृत्व' ('फल का भोक्ता होना') होता है। जिस विधि के द्वारा यह ज्ञान होता है कि किस क्रिया के फल का भोक्ता कौन व्यक्ति हो सकता है उस विधि को अधिकारविधि कहते हैं। सभी व्यक्ति सभी याग के अधिकारी नहीं होते। विशेषगुणों से युक्त व्यक्ति ही यागविशेष का फल प्राप्त कर सकता है। अतः वही व्यक्ति उस यागविशेष का अधिकारी होता है। अधिकारविधिस्थल में यागकर्ता के विशेषण भी सुने जाते हैं। इन्हीं विशेषणों को हम अधिकार कहते हैं। कारण, इन्हीं विशेषणों के बल पर ही अनुष्ठाता व्यक्ति अनुष्ठित क्रिया के फल का भोक्ता होता है।

उदाहरण के लिये 'यजेत स्वर्गकामः' एक अधिकार विधि है। जिस व्यक्ति में स्वर्ग की कामना'—रूप अधिकार होगा वही यागनिष्पादनोपरान्त स्वर्ग की प्राप्ति कर सकेगा, अन्य नहीं। इसी प्रकार 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' भी एक अधिकारविधि है। इस विधि के द्वारा यह

बोध होता है कि राजसूय याग के अनुष्ठान का फल उसी व्यक्ति को प्राप्त हो सकता है जो—(१) राजा (क्षत्रिय) हो और साथ ही साथ (२) उस व्यक्ति को स्वाराज्य की इच्छा हो। इस प्रकार 'राजत्व' एवं 'स्वाराज्य कामना' इन दो अधिकारों का बोध कराने के कारण इस विधि को अधिकार-विधि कहते हैं।

तृतीय विभाजन––विधि का तृतीय विभाजन मंत्रप्रकरण में अनुषङ्गतः प्राप्त होता है[1]। यहाँ विधि के तीन प्रभेद माने गये हैं—(१) अपूर्वविधि (२) नियमविधि एवं (३) परिसंख्या विधि। इस स्थल पर[2] कुमारिल भट्ट के तंत्रवार्तिक (१. २. ३. ४) का एक श्लोक उद्धृत किया गया है जिसमें उक्त तीनों विधियों के लक्षण दिये गये हैं।

श्लोक इस प्रकार है :—

'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते॥'

(१) **अपूर्वविधि**––अपूर्वविधि के लिये ही कुमारिल ने 'विधि' शब्द का प्रयोग किया है। विधि के पूर्वविभाजन में इसी विधि को उत्पत्तिविधि या प्रधान विधि कहा गया है।

(२) **नियम विधि**—नियमविधि का लक्षण है[3]—

'नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः' अर्थात् अनेक साधनों से सिद्ध होने योग्य क्रिया की सिद्धि जब अनभिप्रेत साधन द्वारा होने लगती है तब जिस अभिप्रेत साधन की प्राप्ति नहीं हो रही थी उसकी प्राप्ति कराने वाली विधि को नियम-विधि कहते हैं।

१—देखिये विभाग संख्या (६१—६५)
२—देखिये विभाग संख्या ६२
३—देखिये विभाग संख्या ६२

उदाहरण द्वारा इस विधि का स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा। 'व्रीहीनवहन्ति' वाक्य को नियमविधि माना जाता है। 'व्रीहीनवहन्ति' का अर्थहै—'धान कूटना चाहिये'। धान से भूसी हटाने के अनेक साधन हो सकते हैं, जैसे 'पत्थर से रगड़ कर भूसी हटाना' 'नाखूनों से धानों को छीलकर भूसी हटाना' आदि। इसी प्रकार अन्य साधनों से भी तुषविमोक हो सकता है। जब 'अवहनन' (कूटने) के अतिरिक्त अन्य किसी साधन की प्राप्ति होने लगती है तब अप्राप्त-अवहनन का विधान 'व्रीहीनवहन्ति' विधिवाक्य द्वारा किया जाता है।

(३) परिसंख्या विधि—परिसंख्या विधि की शब्दावली तो विध्यात्मक होती है किन्तु इसका अभिप्राय निषेधात्मक होता है। परिसंख्या' शब्द का अर्थ 'वर्जनबुद्धि' होता है[1]। परिसंख्याविधि का लक्षण है—'उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः' अर्थात् जहाँ दोनों वैकल्पिक पदार्थों की युगपत् प्राप्ति हो रही हो तो दोनों में से एक विशेष पदार्थ की निवृत्ति की बोधक विधि को परिसंख्या विधि कहा जाता है। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' वाक्य परिसंख्या विधि का एक उदाहरण है। इस वाक्य का सरल अर्थ यह है कि 'पञ्जे वाले पाँच जीव—(१) खरगोश, (२) साही, (३) गोह, (४) गैंडा और (५) कछुआ—ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए भक्ष्य हैं, अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय को चाहिये कि वे इन पाँच जीवों को खायें।' किन्तु 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' का परिसंख्याविधिबोध्य अर्थ है—'पञ्च-पञ्चनख के अतिरिक्त जीवों का भक्षण नहीं करना चाहिए।' इस प्रकार यहाँ विधिश्रुत 'पञ्चपञ्चनखभक्षण' की निवृत्ति ही अर्थ है। बुभुक्षित व्यक्ति में किसी भी जीव को भक्षण करके अपनी बुभुक्षा को शान्त करने की प्रवृत्ति स्वभावतः पाई जाती है, चाहे वे जीव उक्त 'पञ्च पञ्चनख' के अन्तर्गत हों या तदतिरिक्त 'अपञ्चपञ्चनख' के अन्तर्गत। परिसंख्याविधि प्रकृतस्थल में

१—देखिए विभाग संख्या—६३

श्रुत 'पञ्च पञ्चनख' जीवों के भक्षण का विधान न करके 'पञ्च पञ्चनख
जीवों के अतिरिक्त जीव भक्ष्य नहीं हैं' इस विषय का बोध कराती है।

परिसंख्या के दो प्रभेद होते हैं—(१) श्रौती परिसंख्या और (२)
लाक्षणिकी परिसंख्या[१]। लाक्षणिकी परिसंख्या के तीन दोष माने जाते हैं—
(१) श्रुतिहानि (२) अश्रुतकल्पना एवं (३) प्राप्तबाध। इन दोषों का
विवेचन विभाग संख्या ६५ में किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विधियों का यह त्रिविध विभाजन दृष्टि-
कोणभेद से किया गया ब, अर्थात् उन्हीं विधियों का प्रकारान्तर से तीन
रूपों में वर्गीकरण किया गया है। 'व्रीहीनवहन्ति' विनियोग विधि भी है
और नियमविधि भी। 'यजेत स्वर्गकामः' अपूर्वविधि भी है और दृष्टिकोण-
भेद से अधिकारविधि भी।

विधि को सुनकर व्यक्ति में यागादि के अनुष्ठान के प्रति प्रवृत्ति उत्पन्न
होती है एवं यागानुष्ठान के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अतएव विधि
वेद का प्रमुख अंश है।

(२) मंत्र

विधि के पश्चात् वेद के दूसरे प्रभेद 'मंत्र' पर विचार किया गया है।

यागानुष्ठान के लिए अनेक पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है। इन पदार्थों में घृत, काष्ठ, पात्र, हव्य आदि द्रव्य आते हैं। यही नहीं याग अङ्गक्रियाओं एवं देवता आदि के विना भी सम्पन्न नहीं हो सकता। सारांश यह कि याग के सम्पन्न होने में अनेक पदार्थ अपेक्षित होते हैं चाहे वे द्रव्यरूप, देवतारूप अथवा क्रियारूप हों अथवा अन्य किसी रूप में हों।

यागानुष्ठान (प्रयोग) में उपयुक्त (समवेत) पदार्थों का स्मरण मंत्रों द्वारा किया जाता है, यही मंत्रों की उपयोगिता है (प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः[२])। यह नियम है कि प्रयोगसमवेत पदार्थों का स्मरण मंत्रों के

१—देखिये विभाग संख्या—६१
२—देखिये विभाग संख्या—६१

उच्चारण के द्वारा ही करना चाहिये (मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्[1]) । प्रयोग समवेत अर्थ का स्मरण कराना ही मंत्रों के उच्चारण का दृष्ट प्रयोजन है। यदि उक्त प्रकार से मंत्रों के उच्चारण का दृष्ट प्रयोजन न माना जायेगा तो मंत्रों के उच्चारण का प्रयोजन अदृष्ट मानना होगा। इस प्रकार मंत्रोच्चारण अदृष्टफलक होने लगेगा। किंतु जहाँ कहीं दृष्टफल की संभावना हो, अदृष्ट फल की कल्पना को मीमांसक उचित नहीं मानता (संभवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्)। इसलिए मंत्रोच्चारण का प्रयोजन प्रयोगसमवेत पदार्थों का स्मरण कराना है।

किन्तु जिन मंत्रों में प्रयोगसमवेत पदार्थों के स्मरण कराने की क्षमता नहीं होती उन मंत्रों के उच्चारण को अगत्या अदृष्टार्थक मान लेना होता है[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि मंत्र भी यागादि क्रियाओं के अनुष्ठान में उपयोगी होने के कारण धर्मपरक (क्रियापरक) होते हैं।

(३) नामधेय

मंत्र के पश्चात् ग्रन्थकार ने वेद के तृतीय प्रभेद नामधेय पर विचार प्रस्तुत किया है। 'नामधेय' शब्द का अर्थ 'नाम' अर्थात् 'संज्ञा' होता है। 'नामधेय' शब्द कर्ममीमांसा का एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है 'यागविशेष का नाम'। 'नामधेय' शब्द 'यागनामधेय' का सक्षिप्त रूप है।

विधियों में प्रयुक्त किसी शब्दविशेष को योगशक्ति के द्वारा प्राप्त किसी अर्थ का बोधक न मानकर यदि यागविशेष का नाम मान लिया जाता है तो उस शब्द को 'नामधेय' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यह एक विधिवाक्य है। इस वाक्य का साधारण अर्थ है—'पशुप्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति उद्भिद् से याग करे'। 'उद्भिद्' शब्द का यौगिक अर्थ खनित्र (कुदाली—जिससे मिट्टी खोदी जाती है) होता है, क्योंकि 'उद्भिद्' शब्द की व्युत्पत्ति ही है- 'उद्भिद्यते ऊर्ध्वं विदीर्यते भूमिरनेन'। किन्तु मीमांसक प्रकृतस्थल में 'उद्भिद्' शब्द का अर्थ कुदाल या फावड़ा नहीं

१—देखिये विभाग संख्या—६१

२—देखिए विभाग संख्या—६६

लेता। वह तो 'उद्भिद्' शब्द को यागविशेष का नाम-नामधेय मानता है। उसकी दृष्टि में एक विशेष याग को 'उद्भिद्' कहते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मीमांसक जहाँ चाहे वहीं किसी शब्द को यागनामधेय मान ले किसी शब्द को यागनामधेय मानने के कुछ कारण--निमित्त होते हैं जिन निमित्तों के आधार पर किसी शब्द को यागनामधेय मानना पड़ता है। यदि वहाँ उन शब्दों को यागनामधेय न माना जाये तो असह्य अनर्थ उत्पन्न हो जाये।

चार ऐसे निमित्त हैं जिनसे शब्द याग के नामधेय माने जाते हैं। वे हैं—

(१) मत्वर्थलक्षणा होने का भय
(२) वाक्यभेद होने का भय
(३) तत्प्रख्यशास्त्र
और (४) तद्व्यपदेश

उक्त चारों निमित्तों का सोदाहरण परिचय ग्रन्थ के प्रासंगिक स्थल (विभाग संख्या ६८—७४) में देखना चाहिए। संक्षेप में यह समझना चाहिए कि—

(१) यदि किसी स्थल में शब्दविशेष का यौगिक अर्थ लेने पर मत्वर्थ-लक्षणा माननी पड़े तो मत्वर्थलक्षणा-रूप दोष हो जाने के भय से वहाँ उस शब्द का यौगिक अर्थ नहीं लिया जाता है। अपितु उसे याग का नामधेय मान लिया जाता है।

(२) इसी प्रकार यदि कहीं शब्दविशेष के यौगिक अर्थ को लेने से वाक्यभेद होने लगे तो उस दोष से बचने के लिए उस शब्द को याग का नामधेय माना जायेगा।

(३) जहाँ गुणबोधक अन्य श्रुति प्रमाण प्राप्त होता है वहाँ गुणार्थक शब्द भी उस गुण का बोधक न होकर याग का नामधेय हो जाता है।

(४) उपमान एवं उपमेय भिन्न होते हैं। जहाँ विधि एवं अर्थवादगत उपमेय एवं उपमान शब्द एक ही हों वहाँ विधिगत शब्द याग का नामधेय होगा।

कुछ लोग 'उत्पत्तिशिष्टगुणवलीयस्त्व' को नामधेय होने में पाँचवां कारण मानते हैं किन्तु सिद्धान्त पक्ष 'उत्पत्तिशिष्टगुणवलीयस्त्व' को 'तत्प्रख्यशास्त्र' रूप निमित्त में ही अन्तर्भूत कर लेता है[1]।

(४) निषेध

नामधेय के पश्चात् ग्रंथकार ने वेद के चतुर्थ प्रभेद 'निषेध' पर विचार किया है। 'निषेध' ऐसे वाक्य को कहते हैं जो पुरुष को अनर्थकारणभूत-क्रियाओं के करने से रोकते है—'पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः[2]। विधि-वाक्य किसी क्रियानुष्ठान के प्रति पुरुष को प्रवृत्त करता है, जब कि निषेध-वाक्य पुरुष को निवृत्त करता है अर्थात् विधिवाक्य पुरुष में क्रियानुष्ठान के प्रति प्रवर्तना उत्पन्न करता है, जब कि निषेधवाक्य निवर्तना।

निषेधवाक्य का सर्वाधिक प्रचलित उदाहरण 'न कलञ्जं भक्षयेत्' है। 'न कलञ्जं भक्षयेत्' का साधारण अर्थ है—'पुरुष कलञ्ज (विषाक्त बाण से मारे गये पशु-पक्षी का मांस) न खाये'। यह वाक्य पुरुष को 'कलञ्जभक्षण'-रूप क्रिया के करने से निवृत्त करता है। कारण, कलञ्जभक्षण से नरक-रूप अनर्थ—अनिष्ट की प्राप्ति होती है।

निवर्तनाबोध—निषेधवाक्यों के द्वारा निवर्तना का बोध होता है सही, किन्तु किस प्रकार ? निषेध वाक्य में 'नञ्' (न) का प्रयोग होता है, इसी-लिए उसे निषेध कहा जाता है। 'न कलञ्जं भक्षयेत्' वाक्य को इसीलिए निषेधवाक्य माना जाता है कि इसमें 'नञ्' (न) का प्रयोग किया गया है। इस वाक्य के द्वारा निवर्तना का प्रतिपादन तभी हो सकेगा जब 'भक्षयेत्' पदगत लिङ्' प्रत्यय के अर्थ—(शाब्दीभावना) का अन्वय नञर्थ के साथ हो। कारण, 'लिङ्'—प्रत्यय का अर्थ प्रवर्तना होता है।उसका नञर्थ के साथ अन्वय होने पर निवर्तना का बोध होगा, क्योंकि 'नञ्' का यह स्वभाव ही है कि

१—देखिये विभाग संख्या—७४

२—देखिए विभाग संख्या—७५

वह अपने से अन्वित पदार्थ के विरोधी का व्यापक होता है। प्रवर्तना की विरोधिता निवर्तना में ही होती है।

'भक्षयेत्'—गत आख्यातत्वांशवाच्य आर्थीभावना का नञर्थ से अन्वय नहीं हो सकता। कारण, आर्थीभावना लिङर्थवाच्य-शाब्दीभावना के प्रति उपसर्जनभूत-गौण है। एक के प्रति उपसर्जनभूत पदार्थ दूसरे से अन्वित नहीं हो सकता। जैसे 'राजपुरुषमानय' इस वाक्यस्थल में 'राजा' का अन्वय 'आनय' से न होगा। कारण, राजा पुरुष के प्रति उपसर्जन-गौण है। इसी प्रकार 'भक्ष्' धातु के अर्थ का अन्वय भी नञर्थ के साथ न होगा, क्योंकि धात्वर्थ आर्थीभावना के प्रति उपसर्जन-रूप में विद्यमान है। कलञ्ज के अर्थ का भी नञर्थ के साथ अन्वय नहीं होगा। कारण, तब तो 'न कलञ्जं भक्षयेत्' का अर्थ होगा 'कलञ्जविरोधिनं भक्षयेत्' अथवा 'कलञ्जाभावं भक्षयेत्'। किन्तु वाक्यप्रयोक्ता का अभिप्राय ऐसा नहीं है।

प्रत्ययार्थ से नञर्थ के अन्वय में बाधक—

प्रत्ययार्थ से नञर्थ के अन्वय होने में दो बाधक होते हैं—(१) 'तस्य-व्रतमित्युपक्रम' और (२) 'विकल्पप्रसक्ति'[१]। प्रथम बाधक तब होता है जब कर्तव्यबोधक वाक्यों के प्रकरण में निषेधवाक्य का पाठ मिलता है। ऐसे स्थलों पर निषेधवाक्यों का अर्थ निवर्तना नहीं लिया जाता, अपितु प्रवर्तना लिया जाता है, इसलिये प्रत्ययार्थ का नञर्थ से अन्वय न होकर धात्वर्थ का अन्वय होता है[२]। दूसरा बाधक वहाँ माना जाता है जहाँ शास्त्रप्रतिपादित पदार्थ का विधान वैकल्पिक होने लगता है। विकल्प का होना भी दोष ही है जिससे बचने के लिए धात्वर्थ का नञर्थ से अन्वय नहीं किया जाता। इस प्रकार विकल्प आपन्न नहीं होगा[३]।

१—देखिए विभाग संख्या—७८

२—देखिए विभाग संख्या—७९

३—देखिये विभाग संख्या ८०—८२

विकल्प और प्रतिषेध—किसी किसी स्थल पर विकल्प आपन्न होने पर भी विकल्प भी स्वीकार्य होता है और धात्वर्थ से नञर्थ का अन्वय करके निषेध भी माना जाता है, क्योंकि उन स्थलों पर ऐसा मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं शेष रहता है[1]। विधि एवं निषेध दोनों के द्वारा क्रतु का अनुष्ठान सम्पन्न होता है[2]। निषेधवाक्यवोध्य कुछ ऐसे भी निषिध्यमान पदार्थ होते हैं जिनका आचरण याग में नहीं करना चाहिए अर्थात् वहाँ विकल्प नहीं माना जाता है[3]।

(५) अर्थवाद

अन्त में वेद के अन्तिम (पाँचवें) प्रभेद 'अर्थवाद' पर विचार किया गया है। अर्थवाद भी परम्परया धर्म (यागादि क्रिया) से सम्बद्ध रहते हैं।

विधि वाक्य के द्वारा विधेय पदार्थ की प्रशंसा और निषेध वाक्य द्वारा निषेध्य पदार्थ की निन्दा अर्थवाद द्वारा की जाती है, ('प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः[4]')।

अर्थवाद के प्रभेद—ग्रन्थकार ने अर्थवाद का वर्गीकरण दो प्रकार से किया है। प्रथम वर्गीकरण में अर्थवाद के दो प्रभेद माने गये हैं—(१) विधिशेष एवं (२) निषेधशेष। दूसरे वर्गीकरण में अर्थवाद के तीन प्रभेद माने गये हैं—(१) गुणवाद, (२) अनुवाद एवं (३) भूतार्थवाद।

प्रथम वर्गीकरण—इस वर्गीकरण का आधार विधेय एवं निषेध्य क्रिया की क्रमशः प्रशंसा एवं निन्दा है।

(१) विधिशेष—विधिवाक्य एवं उसके अर्थवाद वाक्य में एकवाक्यता होती है[5] 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जैमिनिसूत्र-

---

१—देखिए विभाग संख्या—८४
२—देखिए विभाग संख्या—८५
३—देखिए विभाग संख्या—८५
४—देखिए विभाग संख्या—८६
५—देखिए विभाग संख्या—८७

१।२७) । वाक्य का मुख्य अंश विधि है एवं अर्थवाद उसका शेष अंश। इसीलिए उस अर्थवाद को जो विधि द्वारा विधेय पदार्थ की स्तुति करता है 'विधिशेष' कहा जाता है। 'विधिशेष' अर्थवाद विधेय की प्रशंसा द्वारा व्यक्ति को विधेय पदार्थ का अनुष्ठान करने के लिये प्रेरित करता है।

(२) निषेधशेष—इसी प्रकार जो अर्थवाद निषेध वाक्य के द्वारा निषेध्य पदार्थ की निन्दा करता है, 'निषेधशेष' कहा जाता है। 'निषेधशेष' अर्थवाद का यही प्रयोजन है कि वह निषेध्य पदार्थ की निन्दा करके श्रोता व्यक्ति में निषेध्य क्रिया के अनुष्ठान के प्रति निवर्तना उत्पन्न करता है अर्थात् उस व्यक्ति को अनर्थभूत क्रिया के करने से रोकता है।

द्वितीय वर्गीकरण—अर्थवाद के प्रकृत वर्गीकरण का आधार अर्थवाद के प्रतिपाद्य विषय के ज्ञान का अन्य प्रमाणों से होना या न होना है

(१) गुणवाद—जिस अर्थवाद के वाच्यार्थ का विरोध प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होता है और फिर अगत्या लाक्षणिक अर्थ स्वीकार किया जाता है, गुणवाद कहा जाता है[1]।

(२) अनुवाद—जिस अर्थवाद का वाच्यार्थ अन्य प्रमाण या प्रमाणों से पूर्व ही ज्ञात रहता है उसे अनुवाद कहते हैं।

(३) भूतार्थवाद—जिस अर्थवाद का विषय न तो किसी प्रमाण से बाधित होता है ओर न किसी प्रमाण से पूर्वज्ञात ही रहता है उसे 'भूतार्थवाद' कहते हैं।

१—देखिए विभाग संख्या—८८

।। श्री गुरवे नमः ।।

अर्थसंग्रहः

(क) प्रस्तावना

प्रसङ्ग—सर्वप्रथम ग्रन्थकार ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति हेतु मङ्गलाचरण कर रहे हैं :—

(१–मङ्गलश्लोकः)

वासुदेवं रमाकान्तं नत्वा लौगाक्षिभास्करः ।
कुरुते जैमिनिनये प्रवेशायार्थसंग्रहम् ।।१।।

अर्थ —लक्ष्मी के वल्लभ विष्णु को नमस्कार करके जिज्ञासुओं के जैमिनि-दर्शन में प्रवेशहेतु लौगाक्षिभास्कर अर्थसंग्रह न मक ग्रंथ की रचना कर रहा है ।

अर्थबोधिनी —प्राचीन मीमांसा ईश्वर में विश्वास नहीं करता रहा है । जैमिनि के सूत्रों में ईश्वर की सिद्धि नहीं पाई जाती । जैमिनि वेद को अपौरुषेय मानते हैं । उनका कर्ता पुरुष नहीं, वे नित्य हैं । अतएव ईश्वर को भी उनका कर्ता नहीं माना जाना चाहिये* किन्तु कालक्रम से सांख्य एवं वैशेषिक की भांति मीमांसा भी सेश्वर हो गया है । सेश्वर हो जाने पर जनता ग्रंथ का स्वागत करती थी । उधर बौद्ध, जैन आदि और भी अधिक निरीश्वर होते जा रहे थे । षड्दर्शन सेश्वररूप में जनता के हृदय को आकृष्ट कर सकते थे । प्रतीत होता है कि इसीलिए वैदिक दर्शनों में उत्तरोत्तर ईश्वरसत्ता की अधिक पुष्टि की गई ।

कुछ विद्वान् इस मङ्गलाचरण में ईश्वर का प्रतिपादन नहीं मानते

* देखिये मीमांसा सूत्र एवं शाबरभाष्य—१।१।२७–३२

अपितु विष्णु देवता (न कि ईश्वर) की स्तुति मानते हैं। विष्णु देवता के लिये यज्ञ किया जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु को उतम देवता माना गया है, अग्नि की भांति उसे भी सर्वदेवतारूप माना गया है।† इस प्रकार कुछ टीकाकार यहाँ केवल विष्णु देवता की स्तुति मानते हैं न कि ईश्वर को। किंतु उन टीकाकारों का मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। कारण, यदि द्रव्य-त्याग के लिए देवता की वंदना की जाती तो ऐतरेय ब्राह्मण के प्रथम देवता अग्नि हैं, उसकी वन्दना क्यों नहीं की गई। क्या मीमांसा के किसी ग्रन्थ में प्राप्त मङ्गलाचरण में अग्नि मरुत, इन्द्र, अश्विन् आदि देवताओं की वन्दना मिलती है। उत्तर होगा नहीं मिलती। इसलिए यह सिद्ध होता है कि यहां ईश्वररूप विष्णु की वंदना की गई, केवल द्रव्यत्याग के लिए विष्णु देवता की नहीं। फिर देवता-रूप विष्णु जिन्हें याग का भाग दिया जाता है क्या वे 'रमाकान्त' एवं 'वासुदेव' अर्थात् 'रमा' के पति और 'वसुदेव' के पुत्र हैं ? 'वसुदेव' के पुत्र और 'रमा'—लक्ष्मी के पति के रूप में अवतार लेने वाले विष्णु अथवा कृष्ण थे जिन्हें हमारी परम्परा ईश्वर या अवतार ही मानती है, न कि केवल यागभाग प्राप्त करने वाले देवता।

'वासुदेव' और 'रमाकान्त' पद भी साभिप्राय प्रतीत होते हैं। मीमांसा पुरुष को क्रिया में प्रवृत्त करता है। विभिन्न यज्ञों का सम्पादन करने के पश्चात् पुरुष को भोग प्राप्त होते हैं। गृहस्थ जीवन सुखमय होता है। सुन्दर 'पत्नी' एवं 'पुत्रों' की प्राप्ति होती है। 'वासुदेव' पद पुत्र की ओर सङ्केत करता है जब कि 'रमा' पद 'सुन्दर रमणी' की ओर। ये दोनों पद लाक्षणिक हैं जिनका लक्ष्य यज्ञप्राप्य भोग, विलास, वैभव आदि समझना चाहिए।

'लौगाक्षिभास्करः कुरुते' का अर्थ 'लौगाक्षिभास्कर करता है' हुआ। यहाँ

---

† 'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः' तथा 'अग्निर्वै सर्वा देवता विष्णुः सर्वा देवताः'।

(ऐतरेय ब्राह्मण—१।१ पृष्ठ ६, ७)

पर 'कुरुते' पद प्रथम पुरुष में है किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि प्रकृत मङ्गलश्लोक का रचयिता कोई अन्य व्यक्ति है जो यह सूचित कर रहा है कि लौगाक्षिभास्कर 'अर्थसंग्रह' की रचना करता है। वस्तुतः लौगाक्षिभास्कर ने अपने लिए ही 'कुरुते' पद का प्रयोग किया है। यही शैली हमको अन्य ग्रंथों में भी प्राप्त होती है। आचार्य मम्मट 'काव्य-प्रकाश' के प्रारंभ में—'ग्रंथारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति' लिखते हैं। 'परामृशति' पद प्रथम पुरुष में होने पर भी उत्तम पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है।

मङ्गलाचरण का प्रयोजन—१—प्रारम्यमाण ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति एवं २—परम्पराप्राप्त शिष्टाचार का पालन है। चूँकि प्राचीन परम्परा से ग्रन्थकारों ने अपने ग्रंथों में मङ्गलाचरण किया है। यह एक प्रकार से शिष्ट ग्रथकारों का आचरण था। इसलिए भी मङ्गलाचरण करना अपरिहार्य माना गया। नास्तिक ग्रंथकारों ने भी (बौद्ध आदि) मङ्गलाचरण किये हैं। (देखिये—न्यायविन्दु)

प्रसङ्ग—मङ्गलाचरण के पश्चात् अब ग्रंथकार लौगाक्षिभास्कर को ग्रंथ प्रारंभ करना है। यहाँ सर्वप्रथम वे महर्षि जैमिनिकृत सूत्रों के बारह अध्यायों में विभक्त होने की सूचना देते हुए प्रकृत ग्रंथ का मूल स्रोत जैमिनिकृत सूत्रसमुदाय ही है यह बतलाने के लिए जैमिनिकृत प्रथम सूत्र को उद्धृत करते हैं :—

(२—मीमांसादर्शनस्य प्रथमसूत्रस्य निर्देशः)

अथ परमकारुणिको भगवान् जैमिनिधर्मविवेकाय द्वादशलक्षणीं प्राणिनाय। तत्रादौ धर्मजिज्ञासां सूत्रयामास अथातो धर्मजिज्ञासेति ॥

अर्थ—अत्यन्त दयालु भगवान् जैमिनि ने धर्म का अधर्म से पृथक्-रूप में ज्ञान कराने के लिए बारह अध्यायों वाले मीमांसा दर्शन का प्रणयन किया। उसमें सर्वप्रथम धर्मजिज्ञासा को 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र द्वारा प्रति-

पादित किया । इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—'इसलिए अब धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिये' ।

अर्थबोधिनी 'अथ' शब्द मङ्गलसूचक भी माना जाता है । यथा—"ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ ।' अर्थात् 'पहिले कभी ब्रह्मा के कण्ठ को फोड़कर 'ओंकार' एवं 'अथ' शब्द बाहर निकल आये थे । इसलिए मङ्गलकारी हैं ।' किन्तु यहाँ पर 'अथ' शब्द का अर्थ मङ्गलसूचक न होकर प्रारम्भ है । यद्यपि यहाँ अथ शब्द अधिकारार्थ, (आरंभार्थ) है फिर भी 'अन्यार्थंनीयमानोदककुंभवत्' मङ्गलार्थ माना जा सकता है। अर्थात् जलपान आदि अन्य प्रयोजन के लिए ले जाया जाता हुआ जलपूर्ण घट किसी पथिक के लिये मङ्गलार्थ हो जाता है वैसे ही 'अथ' शब्द का प्रयोग अधिकारार्थ के साथ मङ्गल का भी बोधक हो सकता है ।

'परमकारुणिक' और 'भगवान्' इन दो पदों का प्रयोग करके लौगाक्षि-भास्कर ने जैमिनि के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रदर्शित करते हुए मीमांसा दर्शन की उपादेयता प्रदर्शित की है । दुःखनिमग्न जीवों के प्रति करुणा का भाव रखने वाले भगवान् जैमिनि ने अपने ग्रंथ की रचना की ।

'विवेक' का अर्थ पार्थक्य अर्थात् 'अलग होना' होता है । अतएव 'धर्मविवेक' का अर्थ 'धर्म का पार्थक्य' हुआ । किन्तु 'विवेक' शब्द सापेक्ष है । कोई पदार्थ किसी दूसरे ही पदार्थ से विविक्त (पृथक्) होता है । अतएव यहां इस प्रकार के दूसरे पदार्थ—'अधर्म' का अध्याहार करना चाहिए । तब 'धर्मविवेक' का अर्थ 'अधर्म से धर्म का पार्थक्य' हो जाता है । जैमिनि ने मीमांसा-शास्त्र का प्रणयन 'अधर्म से धर्म के विवेक' का ज्ञान कराने के लिए किया । पार्थसारथि मिश्र ने 'धर्म' पद को उपलक्षणार्थ माना है जिससे अधर्म भी गृहीत होता है । अधर्म भी जिज्ञासा का विषय है । अधर्म के स्वरूप को जानकर उसका विनाश करना इष्ट होता है । ये आचार्य अकार का प्रश्लेष

करके सूत्र को 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (अथातोऽधर्मजिज्ञासा) रूप देकर सूत्राक्षर ोसे ही 'अधर्म' अर्थ के ग्रहण किये जाने के पक्ष में भी हैं ।१

मीमांसासूत्र १६ अध्यायों में विभक्त पाये जाते हैं। विवेचक विद्वान् केवल प्रथम बारह अध्यायों को ही जैमिनि की रचना मानते हैं। इसीलिए लौगाक्षिभास्कर ने जैमिनि की रचना को 'द्वादशलक्षणी' अर्थात् 'बारह अध्याय (लक्षण) वाली' कहा है। मीमांसादर्शन (द्वादशलक्षणी) के बारह अध्यायों में प्रतिपादित विषयों का विवरण इस प्रकार है—अध्याय संख्या १ में विधि आदि का प्रमाण्य; २ में विधिनिहित कर्मों का भेद; ३ में विहित कर्मों में अङ्गाङ्गिभाव; ४ में क्रतुप्रयुक्त (यज्ञ के लिए) अनुष्ठेय एवं पुरुषार्थप्रयुक्त (स्वर्गादि) अनुष्ठेय पदार्थों (कर्मों) का परिमाण (सीमा); ५ में पदार्थों (कर्मों) के अनुष्ठान का क्रम; ६ में अधिकार; ७ में प्रकृति-याग में उपदिष्ट अङ्गों का विकृति याग में सामान्य नियम से प्राप्त अतिदेश; ८ में विशेष अतिदेश; ९ में ऊह; १० में सामान्यातिदेश से प्राप्त पदार्थ का विकृत याग में उपदिष्ट अङ्गविशेष के द्वारा बाध; ११ में तन्त्र। 'अनेक विधियों में विहित अङ्गों का एक बार अनुष्ठान करने से सभी विधियोंका उपकार होजाना'* तन्त्र कहलाता है' और १२ में प्रसङ्ग।

'सूत्रयामास' का अर्थ है 'सूत्रेण प्रतिपादयामास' अर्थात् सूत्रबद्ध किया।

प्रसङ्ग—अग्रिम पंक्तियों में 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस जैमिनि सूत्र की व्याख्या की गई है। सूत्र के अन्तर्गत आये हुए 'अथ' एवं 'अतः' इन दो शब्दों के अर्थ का स्पष्टीकरण विशेष रूप से किया गया है :—

१—'धर्मग्रहणं चोपलक्षार्थम्—अधर्मस्यापि हानाय जिज्ञास्यत्वात् । अकार-प्रश्लेषेण वा सूत्रमधर्मजिज्ञासायामपि व्याख्येयमिति निरवद्यम् ।'

(शास्त्रदीपिका–१।१।१।१।—पृष्ठ ३९–४०)

* 'द्वादशे चैकाङ्गिप्रयुक्तस्याङ्गानुष्ठानस्य.................उपकार इति' ।

(कौमुदी–पृष्ठ २-६)

(३—उक्त सूत्रस्य पर्यवसितार्थः)

अत्राथशब्दो वेदाध्ययनानन्तर्य्यवचनः । अतः शब्दो हि वेदाध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं ब्रूते "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यध्ययनविधौ तदध्ययनस्यार्थज्ञानरूपदृष्टार्थकत्वेन व्यवस्थापनात् । तथा च वेदाध्ययनानन्तरं यतोऽर्थज्ञानरूपदृष्टार्थकं तदध्ययनमतो हेतोर्धर्मस्य वेदार्थस्य जिज्ञासा कर्तव्येति शेषः । जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा । अतो धर्मविचारशास्त्रमिदमारम्भणीयमिति शास्त्रारम्भसूत्रार्थः ।

अर्थ—यहाँ ('अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र में) 'अथ' शब्द वेदाध्ययन की अनन्तरता का वाचक है और 'अतः' शब्द वेदाध्ययन की दृष्टार्थकता का वाचक है क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन विधि के प्रकरण में यह निश्चय किया जा चुका है कि वेद के अध्ययन का दृष्ट प्रयोजन अर्थज्ञान है और इस प्रकार सूत्रार्थ यह हुआ—चूँकि वेद के अध्ययन का दृष्ट फल अर्थज्ञान होता हैं इसलिए वेदाध्ययन (मौखिक अक्षरराशिग्रहण) के अनन्तर धर्म अर्थात् वेद के अर्थ की जिज्ञासा करनी चाहिए। सूत्र में 'कर्तव्या' पद शेष है, उसे जोड़ लेना चाहिए । यहाँ 'जिज्ञासा' पद की विचार में लक्षणा है । इस प्रकार मीमांसा दर्शन के प्रारंभिक सूत्र का अर्थ है—'अतः यह धर्म के विचार से सम्पन्न शास्त्र प्रारंभ किये जाने योग्य है' ।

अर्थबोधिनी—कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका 'अर्थ' अर्थात् 'प्रयोजन' दृष्ट अर्थात् इसी लोक में 'देखा गया' होता है । ऐसे कर्मों को दृष्टार्थ कहते हैं । किन्तु कुछ कर्म—जैसे ज्योतिष्टोम आदि याग—ऐसे होते हैं जिनका फल (स्वर्ग आदि) इस लोक में नहीं दिखाई देता, अतएव ऐसे कर्मों को 'अदृष्टार्थ'—जिनका 'फल' इस लोक में 'न देखा गया हो'—कहते हैं । इनके फलों की प्राप्ति मरणोपरान्त मानी गई है । 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' अर्थात् 'अपनी शाखा के वेद का अध्ययन करना चाहिए' यह एक विधि है जो विधान करती है कि वेद को पढ़ो । अब प्रश्न यह उठता है कि यहाँ 'अध्ययन'—रूप

कर्म का फल दृष्ट है अथवा अदृष्ट। ध्यान रहे यहाँ 'अध्ययन' पद का अर्थ 'अक्षरराशिग्रहण' अथवा 'गुरूच्चारणानूच्चारण' मात्र है। जैसा गुरु उच्चारण करे वैसा अनुकरण द्वारा उच्चारण करना सीख लेना मात्र 'अध्ययन' का अर्थ है। संक्षेप में विधिपूर्वक वेद का 'रट' लेना मात्र 'वेदाध्ययन' कहलाता है।

वेदाध्ययन के प्रयोजन के सम्बन्ध में मीमांसा के आचार्यों में मतभेद है। प्राभाकर मत के अनुसार वेदाध्ययन अदृष्टार्थक (स्वर्गादिप्राप्ति हेतु) है। इसके अनुसार अध्ययन करके स्नान कर लेना चाहिए-'अधीत्य स्नायात्'। स्नान सम्पूर्ण अध्ययन के समाप्त होने पर किया जाता है। इसी को समावर्तन संस्कार भी कहते हैं जो कि विद्याध्ययन की समाप्ति का सूचक है। किन्तु भाट्टमत इससे भिन्न है। इस मत के अनुसार वेदाध्ययन का फल दृष्ट है, और वह दृष्टफल है 'अर्थ ज्ञान' अर्थात् धर्मज्ञान क्योंकि सम्पूर्ण वेद का तात्पर्य धर्म में है--'वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्'।[१]

प्राभाकर एव भाट्ट सम्प्रदाय के निर्दिष्ट मतों पर शास्त्र दीपिका में भी विचार किया गया है तथा युक्तियों द्वारा अध्ययन की दृष्टार्थकता की स्थापना की गई है।[२] अर्थसंग्रहकार भी भाट्टमत के पोषक हैं। अध्ययन दृष्टफलक होता है यह सिद्ध करने के लिए एक विशेष युक्ति है। जहाँ किसी पदार्थ के दृष्ट एवं अदृष्ट दोनों फल सम्भव हों वहाँ दृष्ट फल ही लिया जाना चाहिए।[३]

इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि वेद के अध्ययन का फल दृष्ट है। वेदाध्ययन दृष्टार्थ है इसलिए (अतः) वेदाध्ययन के पश्चात् (अथ) अध्ययन

१--विभाग संख्या--५

२--शास्त्रदीपिका--१।१।१।१

३--'सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्'

(विभाग-६१)

के दृष्ट फल 'वेदार्थ' अर्थात् 'धर्म' की जिज्ञासा (धर्मजिज्ञासा) करनी चाहिए। यही 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र का अर्थ है।

अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र में क्रिया पद का अभाव है। अतएव 'कर्तव्येति शेषः' लिखकर 'कर्तव्या' पद का अध्याहार किया गया है। तब 'अथातो धर्मजिज्ञासा कर्तव्या' या 'अथ अतः धर्मस्य जिज्ञासा कर्तव्या' रूप प्राप्त हुआ। 'अथ' शब्द का अर्थ 'अनन्तरम्' अर्थात् 'बाद में' और 'अतः' शब्द का अर्थ 'अस्माद् हेतोः' अर्थात् 'इस कारण से' या 'इसलिए' होता है। तब सूत्र का अर्थ हुआ—'अनन्तरम् अस्माद् हेतोः धर्मस्य जिज्ञासा कर्त्तव्या'। अब प्रश्न होता है—'कस्मादनन्तरम्' ? और 'कस्माद् हेतोः ? क्रमशः उत्तर मिलता है 'वेदाध्ययनानन्तरम्' अर्थात् 'वेद के अध्ययन के अनन्तर' और 'यतोऽर्थज्ञानरूपदृष्टार्थकं तदध्ययनमतो हेतोः' अर्थात् चूँकि उसका अध्ययन अर्थज्ञानरूप दृष्टफल वाला है इस कारण से। 'धर्म' का अर्थ 'वेदार्थ' होता है[1] इस प्रकार सूव सूत्र का रूप हो जाता है—

'वेदाध्ययनानन्तरं यतोऽर्थज्ञानरूपदृष्टार्थकं तदध्ययनमतो हेतोर्धर्मस्य वेदार्थस्य जिज्ञासा कर्तव्या'। यही शब्दावली अर्थसंग्रह में प्राप्त होती है।

उक्त वाक्य का अन्वित रूप इस प्रकार हो सकता हैं—'यतः तदध्ययनम् अर्थज्ञानरूपदृष्टार्थकम् अतो हेतोः वेदाध्ययनानन्तरं धर्मस्य वेदार्थस्य जिज्ञासा कर्तव्या।' इसका अनुवाद इस प्रकार हुआ—चूँकि उस (वेद) का अध्ययन (उच्चारण) अर्थज्ञानरूप दृष्टफल वाला है इस कारण से वेद के अध्ययन (उच्चारण की शिक्षा) के अनन्तर धर्म-(अर्थात्) वेद के अर्थ-की जिज्ञासा करनी चाहिए'।

'जिज्ञासा कर्तव्या' का अर्थ होता है—'जिज्ञासा करनी चाहिए' परन्तु जिज्ञासा 'जानने की इच्छा' है और इच्छा 'करने' का विषय नहीं है अर्थात्

१––'वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्'
(विभाग–५)

इच्छा होती है, भले ही वह किन्हीं निमित्तों से हो किंतु 'कर्तव्या' अथवा 'कुरु' इन प्रैष वाक्यों द्वारा इच्छा उत्पन्न नहीं की जा सकती है। इसलिए जिज्ञासा का अभिधेय अर्थ प्रकृत स्थल में चरितार्थ न होने से लक्ष्य अर्थ–'विचार' ले लिया गया है। तब 'जिज्ञासा कर्तव्या' के स्थान पर 'विचारः कर्तव्यः' वाक्य हो गया। इस प्रकार 'अथातो धर्मजिज्ञासा' का अभिप्राय यह हुआ—'वेदाध्ययन के दृष्टार्थ होने के कारण, मीमांसाशास्त्र, जिसमें धर्म पर विचार किया गया हो, प्रारम्भ किये जाने योग्य है।'

प्रसङ्ग—'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र के 'अथ', 'अतः' एवं 'जिज्ञासा' इन तीन शब्दों की व्याख्या ग्रन्थकार ने पिछली पंक्तियों में कर दिया है। अब 'धर्म' के स्वरूप का निरूपण अग्रिम पंक्तियों में किया जा रहा है।१

(४—धर्मलक्षणविचारः)

अथ को धर्मः किं तस्य लक्षणमिति चेत्। उच्यते—यागादिरेव धर्मः। तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति। प्रयोजनेऽतिव्याप्तिवारणाय प्रयोजनवदिति। भोजनादावतिव्याप्तिवारणाय वेदप्रतिपाद्य इति। अनर्थफलकत्वादनर्थभूते श्येनादावतिव्याप्तिवारणायार्थ इति।

अर्थ—अब 'धर्म क्या है?' उसका लक्षण क्या है? यदि ऐसे प्रश्न किये जायें तो उत्तर इस प्रकार है—'याग आदि क्रिया' ही धर्म है और 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' यह धर्म का लक्षण है। उक्त धर्मलक्षण में 'प्रयोजनवत्' शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि स्वर्ग आदि प्रयोजन

१—यद्यपि शब्दक्रम से 'अथ' एवं 'अतः' के पश्चात् 'धर्म' की व्याख्या होनी चाहिए थी, तदनन्तर 'जिज्ञासा' की। किन्तु चूँकि 'जिज्ञासा' शब्द की व्याख्या छोटी है और 'धर्म' की व्याख्या का विस्तार पूरे ग्रन्थ में है, अतएव 'सूचीकटाहन्यायेन' 'जिज्ञासा' की व्याख्या के पश्चात् धर्म की व्याख्या की गई है।

में होने वाली अतिव्याप्ति दूर हो जाये। इसी प्रकार 'भोजन' आदि में होने वाली अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए 'वेदप्रतिपाद्यः' पद का प्रयोग किया गया है। श्येन याग अनर्थ (नरक) का अनुभव कराता है अतएव अनर्थ के कारणभूत श्येनयाग में होने वाली अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए धर्म-लक्षण में 'अर्थः' पद का प्रयोग किया गया है।

अर्थबोधिनी—मीमांसा दर्शन का प्रतिपाद्य विषय धर्म है। धर्मज्ञान ही इस दर्शन का प्रयोजन है–'यदा हि धर्मजिज्ञासा कर्तव्येत्युक्त्वा शास्त्रमारभ्य-माणं दृश्यते तदा नूनमिदं शास्त्रं धर्मज्ञानप्रयोजनमित्यवगम्यते।'[1] कुमारिल भट्ट ने जैमिनि के 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र को मीमांसा दर्शन के प्रयोजनभूत धर्म नामक विषय की व्याख्या करने के लिए रचित माना है।[2]

मीमांसा दर्शन में 'धर्म' शब्द पारिभाषिक है। इस दर्शन में याग आदि पदार्थों को धर्म माना गया है। लौगाक्षिभास्कर ने धर्म का स्वरूप प्रदर्शित करते हुये लिखा है—'यागादिरेव धर्मः' अर्थात् याग आदि ही धर्म हैं। रामेश्वर के मत से 'यागादिरेव' में 'एव' शब्द चैत्यवन्दन आदि के धर्मता के निवारण हेतु प्रयुक्त हुआ है।[3] 'यागादिः'–गत 'आदि' शब्द भी सार्थक है। चिन्नस्वामी ने 'मीमांसान्यायप्रकाश' के 'यागादिः' पद की व्याख्या करते हुये लिखा है कि 'आदि' पद से 'दान होम आदि क्रियायें' तथा द्रव्य, गुण आदि पदार्थ गृहीत होते हैं[4]।

१—शास्त्र दीपिका—१।१।१।१

२—'अथातो धर्मजिज्ञासासूत्रमाद्यमिदं कृतम्।
धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्॥'
(मीमांसाश्लोकवार्तिक—श्लोक संख्या–११)

३—'यागादिरेवेत्येवकारेण चैत्यवन्दनादिधर्मत्वं वारयति।'
(कौमुदी पृष्ठ १३)

४—'आदिपदेन दानहोमादयो द्रव्यगुणादयश्च गृह्यन्ते।'
(सारविवेचनी—पृष्ठ-२)

उक्त पंक्तियों में धर्म का लक्षण किया गया है। पहिले लक्षण का स्वरूप समझ लेना चाहिये। लक्षण उसे कहते हैं जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव इन तीनों दोषों से रहित हो—'तदेव हि लक्षणम् यदव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवरूपदोषत्रयशून्यम्।

किसी लक्षण में अधिकाधिक तीन दोष हो सकते हैं—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव। जो लक्षण लक्ष्यभूत (जिसका लक्षण अभिप्रेत हो) पदार्थ के कुछ भाग को छोड़ देता है उसमें अव्याप्ति दोष माना जाता है अर्थात् लक्ष्य के एक देश में लक्षण की व्याप्ति (पहुँच) न होना 'अव्याप्ति' दोष कहलाता है, जैसे—'कपिल वर्ण का पशु गाय (या बैल) होती है' इस लक्षण में अव्याप्ति दोष है क्योंकि श्वेत या लाल आदि वर्ण की गायों तक उक्त लक्षण नहीं पहुंचता। लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में लक्षण का पहुँच जाना 'अतिव्याप्ति' दोष है क्योंकि लक्षण गाय का करना है अतएव गाय लक्ष्य हुई, भैंस आदि अन्य सींग वाले पशु अलक्ष्य हुए। सींग गाय के अतिरिक्त भैंस आदि अन्य पशुओं के भी होते हैं अतएव 'सींग का होना' स्वरूप गोलक्षण की अतिव्याप्ति लक्ष्य—गाय के अतिरिक्त अलक्ष्य—भैंस आदि में हो जाती है। जब लक्षण द्वारा लक्ष्य का बिल्कुल स्पर्श न हो तब लक्षण में 'असंभव' दोष माना जाता है। 'एक शफ (खुर) वाले पशु को गाय कहते हैं' यह असंभव का उदाहरण हुआ। सभी गायों के खुर चिरे होते हैं, घोड़ों आदि के नहीं। उक्त लक्षण एक गाय में भी नहीं पहुंचता, अतएव यहाँ असभव दोष है। इस प्रकार उक्त तीनों लक्षण दुष्ट होने के कारण अशुद्ध हैं, अतएव पदार्थ के यथार्थ स्वरूप के बोधक नहीं हैं।

गाय का दोषरहित लक्षण है—'सास्ना' युक्त होना, क्योंकि उसे देखकर गाय का परिचय मिलता है अतः गाय का लक्षणवाक्य यह होगा—कि जिस पशु के सास्ना अर्थात् गलकम्बल हो वह गाय है। यह लक्षण शुद्ध है क्योंकि इसमें तीन में से एक भी दोष नहीं है। सभी गायों के गले में सास्ना होती

---

* तर्कसग्रह पर 'पदकृत्य' टीका।

है अतएव 'अव्याप्ति' दोष नहीं होगा । गोभिन्न अन्य पशुओं के गले में सास्ना नहीं होती अतएव अतिव्याप्ति दोष नहीं हुआ । 'सास्ना आदि का होना' लक्ष्य (गाय) में पाया जाता है, अतः यहाँ 'असंभव' दोष भी नहीं है ।†

लौगाक्षिभास्कर ने धर्म का लक्षण इस प्रकार किया है—'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' । दोषत्रयविमुक्त होने के कारण यह लक्षण शुद्ध है । ग्रंथकार ने दिखलाया है कि विभिन्न विषयों में होने वाली अतिव्याप्ति के निवारण के लिए ही यहाँ पर 'वेदप्रतिपाद्य', 'प्रयोजनवत्' एवं 'अर्थ' शब्दों का प्रयोग किया गया है । लक्षणगत 'प्रयोजनवत्'—शब्द के प्रयोग से प्रयोजन का निवारण होता है अन्यथा प्रयोजन भी धर्म हो जाता । 'धर्म' प्रयोजन वाला होता है, स्वर्गादि धर्म के प्रयोजन होते हैं, इसलिए धर्म प्रयोजन वाला (प्रयोजनवान्) होता है, प्रयोजन नहीं । इस प्रकार धर्म के लक्षण द्वारा प्रयोजन गृहीत नहीं होता । लक्षण में 'वेदप्रतिपाद्य' शब्द के प्रयोग से भोजन आदि का निवारण हो जाता है, क्योंकि भोजन या भोजन करने का विधेय रूप में प्रतिपादन वेद में नहीं मिलता । भोजन स्वभावप्राप्त है । मानव स्वभाव से भोजन का इच्छुक प्राणी होता है । भोजन 'प्रयोजन-वत्-क्षुधानिवृत्तिरूप प्रयोजन वाला–होता है, अर्थ–इष्ट होता है, अनिष्टकारी नहीं । फिर भी वह 'वेदप्रतिपाद्य' नहीं होता अर्थात् विधेय रूप में वेद में प्रतिपादित नहीं होता । अतएव लक्षण के अनुसार भोजन धर्म नहीं है । 'वेदप्रतिपाद्य' पद के प्रयोग से 'भोजन' का निवारण हो जाता है ।

---

† 'तदेवं हि लक्षणं यदव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवरूपदोषत्रयशून्यम् । यथा गोः सास्नादिमत्त्वम् । अव्याप्तिश्च लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वम् । अत एव गोर्न कपिलत्वं लक्षणं तस्यातिव्याप्तिग्रस्तत्वात् । अतिव्याप्तिश्च लक्ष्यवृत्तित्वे सत्यलक्ष्यवृत्तित्वम् । अत एव गोर्न शृङ्गित्वं लक्षणं तस्यातिव्याप्ति-ग्रस्तत्वात् । असंभवश्च लक्ष्यमात्रावृत्तित्वम् । यथा गोरेकशफवत्त्वं लक्षणं तस्यासंभवग्रस्तत्वात् ।'

(तर्कसंग्रह पर पदकृत्य टीका)

लक्षण में तीसरा व्यावर्तक शब्द 'अर्थ' है। 'अर्थ' पद से अभिप्राय ऐसी क्रिया से है जो सुखमात्र का जनक हो। श्येन याग आदि से शत्रुमारण-जन्य सुखरूप फल होने पर भी अन्त में नरक मिलता है क्योंकि श्येन आदि याग करने वाले के लिये प्रायश्चित्त का भी विधान है, अतः श्येन याग आदि दुःख के भी जनक होते हैं, सुख मात्र के जनक नहीं। इसीलिये 'अर्थ' पद का प्रयोग लक्षण वाक्य में कर देने पर श्येन याग आदि में होने वाली अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। यह इसलिये कि उक्त प्रकार से वह (श्येन याग) अर्थ कहलाने का अधिकारी नहीं होता कि उसे 'वेदप्रतिपाद्य-प्रयोजवान् अर्थ' कहा जा सके।

प्रसङ्ग—अब ग्रन्थकार स्वकृत धर्मलक्षण की जैमिनिकृत धर्मलक्षण से आपाततः प्रतीत होने वाली असङ्गति का निवारण करते हैं—

(५ वेदस्याखिलस्य धर्मप्रतिपादकत्वमेव)

न च 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (जैमिनिसूत्र १–२–३) इति सौत्रतल्लक्षणविरोधः। चोदनापदस्य विधिरूपवेदैकदेशपरत्वा-दिति वाच्यम्। तत्रापि चोदनाशब्दस्य वेदमात्रपरत्वात्। वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्।

अर्थ—'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' इस धर्मलक्षण का 'चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः' (जैमिनि सूत्र १.१.२) इस मीमांसासूत्र में प्रतिपादित धर्मलक्षण से विरोध उपस्थित हो रहा है, क्योंकि चोदना शब्द (सूत्रस्थ) वेद के एक अंश विधि मात्र का वाचक है, सम्पूर्ण वेद का नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कारण, वहाँ जैमिनि सूत्र में भी 'चोदना' शब्द पूरे वेद के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है न कि केवल विधि अर्थ में। यह इसलिये कि सारे वेदों का तात्पर्य धर्म में होने के कारण समग्र वेद धर्म का ही प्रतिपादक है।

अर्थबोधिनी—पिछली पंक्तियों में ग्रंथकार ने धर्म का लक्षण—'वेद-प्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' किया है। वेद पाँच भागों में विभक्त हैं यथा—

विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद* । ग्रंथकार के लक्षण के अनुसार इन पाँचों में धर्म का प्रतिपादन मान्य होता है। किन्तु इस धर्म के लक्षण का जैमिनिकृत धर्म के लक्षण से विरोध प्रतीत होता है । जैमिनिकृत धर्म का लक्षण है-'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' अर्थात् प्रेरणादायी "विधि" वाक्य द्वारा जो प्रतिपादित होता है वह है धर्म† । 'यजेत स्वर्गकामः' आदि अप्रवृत्तप्रवर्तक विधियाँ जो याग करने के लिये प्रेरित करती हैं, 'चोदना' शब्द से कहीं जाती हैं‡ और विधि वेद के पाँच भागों में से एक है।* पूर्वपक्ष का सारांश यह है कि ग्रंथकार की दृष्टि में जहाँ समग्र वेद (विधि, मन्त्र, नामधेय निषेध एवं अर्थवाद) धर्म का प्रतिपादक माना जाता है वहाँ सूत्रकार जैमिनि की दृष्टि में वैसा न माना जाकर वेद के एकदेशमात्रभूत केवल विधि को ही धर्म का प्रतिपादक माना गया है। समग्र वेद का प्रतिपाद्य और केवल वेदैकदेश विधि का प्रतिपाद्य ये दोनों भला कैसे एक हो सकते हैं ?

प्रकृत पंक्तियों के प्रथम वाक्य में उक्त विरोध का प्रदर्शन करके उसका परिहार किया गया है। वाक्य का अन्वित रूप इस प्रकार होगा—"चोदना-पदस्य विधिरूपवेदैकदेशपरत्व् 'चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः' इति सौत्रतल्ल-क्षणविरोध† इति च न वाच्यम्" अर्थात् और 'चोदना' पद के विधि रूप

---

* 'स च विधिमन्त्रनामधेयनिषधार्थवादभेदात् पञ्चविधः' (विभाग १२)

† 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकवचनमाहुः' (शाबरभाष्य)

‡ 'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः' (श्लोकवार्तिक)

* 'चोदनापदस्य विधिरूपवेदैकदेशपरत्वात्' (विभाग–५)

† सूत्रे भवम् अथवा सूत्रे प्रतिपादितं सौत्रम् । तस्य धर्मस्य लक्षणं तल्लक्षणम् । सौत्रञ्च यत्तल्लक्षणं सौत्रतल्लक्षणम् तेन विरोधः सौत्रतल्लक्षणविरोधः । 'चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः' इति जैमिनिसूत्रप्रति-पादिनधर्मलक्षणेन 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' इत्यस्मद्धर्म-लक्षणस्य विरोध इति पूर्वपक्षहृदयम् । वस्तुतस्तु तन्न तथा ।

वेद के एक अंश का वाचक होने के कारण 'चोदनालक्षणोऽर्थो' धर्मः इस (जैमिनि) सूत्र में प्रतिपादित उस (धर्म) के लक्षण से (हमारे धर्म के लक्षण का) विरोध है ऐसा नहीं कहना चाहिये।"

दोनों धर्मलक्षणों में विरोध क्यों नहीं है? ग्रंथकार का उत्तर है- 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' में 'चोदना' पद का तात्पर्य सम्पूर्ण वेद से है (तत्रापि चोदना शब्दस्य वेदमात्रपरत्वात्)। 'चोदना' पद से विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद सभी विवक्षितरूपेण ज्ञातव्यहैं। 'चोदना' का अर्थ विधि वाक्य होता है इसमें किसी को सन्देह नहीं। मन्त्र और नामधेय[२] भी विधि या चोदना से सम्वद्ध ही हैं। अव रहे निषेध और अर्थवाद। अर्थवाद के द्वारा पुरुष यागादि का अनुष्ठान करने के लिए प्रेरित किया जाता है अतएव अर्थवाद भी विधि से सम्बद्ध है।[3] रहा निषेध। चोदना एवं निषेध दोनों परस्पर विरोधी हैं। चोदना-वाक्य प्रर्वतक होता हैं और निषेध निवर्तक।[४] फिर चोदना पद का अर्थ निषेध कैसे हो सकता है? इस कठिनाई को दूर करने के लिए श्लोक-वार्तिककार ने कहा है कि प्रवृत्तिस्थल में या निवृत्तिस्थल में उसके पूर्व होने वाली शब्दश्रवणजन्य बुद्धि ही 'चोदना' पद का अर्थ है।[५] इस प्रकार निषेध भी चोदना-प्रतिपाद्य के अन्तर्गत आ जाता है।

१—देखिए 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः'

(विभाग-६१)

२—'नामधेयानाञ्च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम्'

(विधाग-६७)

३—विशेष विवरण के लिये अर्थवाद का स्थल देखिये।

४—'पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः'

(विभाग-७५)

५—'प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा या शब्दश्रवणेन धीः सा चोदना'।

(श्लोकवार्तिक)

मंत्रादि वेद भी धर्म का ही प्रतिपादन करते हैं और विधि-रूप चोदना भी जब धर्म का प्रतिपादन करती है तब धर्मप्रतिपादकता सब में समान होने के कारण मंत्रादि को भी 'चोदना' शब्द से कहा जा सकता है। इसलिए सूत्रस्थ चोदना पद को समग्रवेदपरक मानना उचित है। ऐसी परिस्थिति में उक्त प्रदर्शित विरोध बिल्कुल स्थान नहीं पाता।

प्रसङ्ग—किस प्रकार 'यागादि' धर्म (१) 'वेदप्रतिपाद्य' (२) प्रयोजनवान् और (३) अर्थ है, इस विषय पर प्रकाश डाला जा रहा है :—

(६. विधिपदे धातुप्रत्ययांशार्थविवेचनम्)

स च यागादिः 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिवाक्येन स्वर्गमुद्दिश्य पुरुषं प्रति विधीयते। तथाहि। 'यजेत' इत्यत्रास्त्यंशद्वयं यजिधातुः प्रत्ययश्च। प्रत्ययेऽप्यस्त्यंशद्वयं आख्यातत्वं लिङ्त्वं च। तत्राख्यातत्वं दशलकारसाधारणं लिङ्त्वं पुनर्लिङ्मात्रे। उभाभ्यामप्यंशाभ्यां भावनैवोच्यते।

अर्थ—और 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्य के द्वारा उस भाग का विधान स्वर्ग के उद्देश्य से पुरुष के प्रति किया जाता है। इसे स्पष्ट रूप से यों समझें—'यजेत' इस पद में 'यज्' धातु और 'त' प्रत्यय ये दो अंश हैं। 'त' प्रत्यय में भी दो अंश हैं— (१) आख्यातत्व एवं (२) लिङ्त्व (लिङ् का धर्म*)। 'आख्यातत्व' धर्म दसों लकारों में रहता है किन्तु 'लिङ्त्व' केवल 'लिङ्' में ही रहता है। 'आख्यातत्व' एवं 'लिङ्त्व' इन दोनों अंशों के द्वारा भावना का बोध होता है।

अर्थबोधिनी—'यजेत स्वर्गकामः' यह वैदिक वाक्य है। इस प्रकार के वाक्यों को विधि कहा जाता है। इसका अर्थ यह है कि जो पुरुष स्वर्गरूप फल को चाहता हो वह याग करे। स्वर्ग केवल सुखप्रद होने के कारण 'अर्थ'

---

* यहाँ 'धर्म' का अर्थ वैशेषिकदर्शनसम्मत स्वभाव है न कि मीमांसाभिमत यागादि क्रिया।

रूप है 'अनर्थ नहीं' इस प्रकार याग धर्म हुआ क्योंकि धर्म के स्वरूप का परिचय देते हुए ग्रंथकार ने कहा था—'यागादिरेव धर्मः तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः'।

'यजेत स्वर्गकामः' एक विधि वाक्य है, जो याग जैसे धर्म के अनुष्ठान का विधान करता है। यह विधान ऐसे पुरुष के प्रति किया जाता है जिसे स्वर्गरूप प्रयोजन की कामना हो (स्वर्गकामः पुरुषः)। प्रश्न यह है कि यह विधान किस प्रकार होता है? मीमांसक का उत्तर इस प्रकार है—'यजेत स्वर्गकामः' विधि में 'यजेत' पद में दो अंश हैं—(१) 'यज्' धातु (२) 'त' प्रत्यय (√यज+त)। 'यज्' धातु हैं जो अनुष्ठान, पुरुष, संख्या, काल आदि के सम्बन्ध से रहित हैं अर्थात् केवल 'यज्' धातु के उच्चारण से याग सम्पन्न होने या किये जाने (अनुष्ठान) की सूचना नहीं मिलती और अनुष्ठान की सूचना न होने के कारण 'मैं, तुम या और कोई' जैसे (पुरुष) का भी याग के अनुष्ठान से सम्बन्ध ,नहीं हैं। न तो एक दो या अधिक (संख्याविशिष्ट) व्यक्तियों का याग के अनुष्ठान से सम्बन्ध है। इसी प्रकार भूत, भविष्य या वर्तमान जैसे काल या लकार का क्रिया के अनुष्ठान होने से सम्बन्ध नहीं है।

किन्तु प्रत्यय (त) जुड़कर धातु का रूप (यजेत) क्रिया पद बनता है। 'यजेत' क्रिया पद याग के अनुष्ठान का बोधक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'यज्' धातु याग के सामान्य रूप का बोधक है और 'त' प्रत्यय अनुष्ठान का बोधक। अनुष्ठान के साथ ही 'त' प्रत्यय प्रथम पुरुष (पुरुष) एकत्व (संख्या), विधिलिङ् (लकार) का भी बोधक है।

अब यह प्रश्न उठता है कि 'त' से अनुष्ठान का ज्ञान कैसे होता है? अनुष्ठान होने की प्रक्रिया को विस्तार से आगे समझाया जायेगा। पहिले इतना समझ लेना चाहिये कि 'त' प्रत्यय लिङ् (विधि) लकार* का

१* लकार दस होते हैं :—
लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ् ('विधि' एवं 'आशीः') लुङ्, लृङ्।

तिङ्[2]प्रत्यय है। तिङ् होने के कारण 'त' प्रत्यय में तिङ्धर्म–तिङ्त्व अर्थात् आख्यातत्व है एवं लिङ् का रूप होने मे इसमें लिङ्त्व भी विद्यमान है। इस 'त' प्रत्यय के दो अंश हो जाते हैं—१--आख्यातत्व एवं २--लिङ्त्व। आख्यातत्व या तिङ्त्व धर्म दसों लकारों में रहता है क्योंकि तिङ् प्रत्ययों का उपयोग दसों लकारों में होता है। किन्तु लिङ्धर्म-लिङ्त्व केवल लिङ् लकार में ही रहता है क्योंकि लिङ्त्व धर्म लिङ् का अपना विशेष धर्म है। 'आख्यातत्व' एवं 'लिङ्त्व' इन दोनों अंशों से भावना का बोध होता है और भावना के द्वारा ही पुरुष याग कर्म में प्रवृत्त किया जाता है। भावना का विवेचन ग्रंथकार विस्तार से आगे करेंगे।

प्रसङ्ग—अब भावना का लक्षण करके उनके दोनों भेद बतलाये जा रहे हैं—

(७—प्रत्ययांशयोर्भावनाद्वयबोधकत्वम्)

भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः। सा द्विधा। शब्दी भावना आर्थी भावना चेति।

अर्थ—उत्पत्तिशील की उत्पत्ति में कारणभूत जो उत्पादयिता का मानसिक व्यापारविशेष होता है उसे भावना कहा जाता है। भावना दो प्रकार की होती है—(१) शाब्दी भावना और (२) आर्थी भावना।

अर्थबोधिनी—'भावना' यह मीमांसा दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। यहाँ इसका लक्षण 'भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः' किया गया है [1]। भावना–सिद्धान्त मीमांसा के प्रसिद्ध सिद्धान्तों में से अन्यतम है।

२† 'तिङ्' प्रत्यय अठारह होते हैं :—
तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्; त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महिङ्।

१—'मीमांसान्यायप्रकाश' में भावना का लक्षण इस प्रकार मिलता है :—
'भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेषः।'
(मीमांसान्यायप्रकाश–पृष्ठ २)

भावना के स्वरूप को स्पष्ट रूप में समझने के लिए एक लौकिक उदाहरण दिया जा रहा है। कल्पना कीजिए कि यज्ञदत्त ने देवदत्त से कहा कि 'भात पकाओ' (ओदनं पच) देवदत्त यज्ञदत्त का 'ओदनं पच' वाक्य सुनता है फिर सोचता है कि यज्ञदत्त का प्रयोजन है कि मुझ (देवदत्त) में भात पकाने के प्रति उन्मुखता (प्रवृत्ति) उत्पन्न हो ताकि मैं भात पकाऊँ। अतः देवदत्त में भात पकाने के प्रति उन्मुखता (प्रवृत्ति) उत्पन्न होती है। तदनुसार वह चावल आदि सामग्री से भात पकाने की क्रिया सम्पन्न करता है। वहाँ देवदत्त की प्रवृत्ति के उत्पन्न होने में अनुकूल होने वाला प्रवर्तक यज्ञदत्त का अभिप्राय शाब्दी भावना है। पाकात्मक क्रिया के अनुष्ठान होने में अनुकूल होने वाली देवदत्त की प्रवृत्ति आर्थी भावना है।

उक्त उदाहरण में दो भाग समझे जाने चाहिये—

(१) यज्ञदत्त के अभिप्राय का विषयभूत देवदत्त में प्रवृत्ति का उत्पन्न होना।

(२) देवदत्त में उत्पन्न प्रवृत्ति का विषय ओदन पाचन होना।

भावना के लक्षण 'भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः' को दोनों भागों पर कार्यान्वित करने से क्रमशः शाब्दी एवं आर्थी भावना का स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा—

(१) 'भवितुः' पद 'भवितृ' प्रातिपदिक के षष्ठी एकवचन का रूप है, प्रथमा एक वचन में भविता रूप बनेगा। 'भवितृ' का अर्थ है 'होने वाला' अर्थात् 'उत्पन्न होने वाला' (उत्पद्यमान)। यहाँ 'देवदत्तनिष्ठपाकविषयक-प्रवृत्ति' (अर्थात् देवदत्त में भात पकाने के प्रति उन्मुखता) ही भविता या या उत्पद्यमान है। 'भवन' का अर्थ है 'होना' अर्थात् उत्पन्न होना (उत्पत्ति)। 'अनुकूल' का अर्थ है 'सहायक' अथवा 'कारणभूत'। 'भावयितुः' पद भावयितृ के षष्ठी एकवचन का रूप है। प्रथमा एकवचन में 'भावयिता'

रूप बनेगा। 'भावयिता' का अर्थ है 'उत्पादयिता'। यहाँ यज्ञदत्त भावयिता है[1]। 'व्यापारविशेष' का अर्थ है अभिप्रायविशेष'।

भावना के लक्षण की व्याख्या इस प्रकार होगी–'भवितुः उत्पद्यमानायाः ओदनपाककरणविषयकदेवदत्तप्रवृतेः भवनस्य उत्पत्तेः अनुकूलः कारणभूतः भावयितुः यज्ञदत्तस्य व्यापारविशेषः मानसिकव्यापारविशेषः अभिप्रायविशेषः।' अर्थात् पाकविषयक देवदत्त की प्रवृति के उत्पन्न होने में कारणभूत अर्थात् सहायकभूत यज्ञदत्त का अभिप्रायविशेष भावना (शाब्दी) है। यज्ञदत्त के वाक्य को सुनकर ही देवदत्त में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। अतएव यज्ञदत्त में भावना है जिसकी शक्ति के फलस्वरूप देवदत्त में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। भावना अभिप्रायविशेष है। अभिप्राय का कोई साध्य होता है। यहाँ भावना (शाब्दी) का साध्य देवदत्त की प्रवृत्ति है[2]। आर्थीभावनारूप देवदत्त की

१—भावना, भविता, भवन, भावयिता ये सभी 'भू' धातु से निष्पन्न परस्पर सापेक्ष शब्द हैं। 'भू' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय का णिजन्त स्त्रीलिङ्ग रूप 'भावना' बनता है। भावना की व्युत्पत्ति है—'भाव्यते अनया इति भावना' अर्थात् 'जिसके द्वारा होने के लिये प्रेरित किया जाये उसे भावना कहते हैं।'

इसी प्रकार 'भावयति इति भावयिता' अर्थात् 'जो होने के लिये प्रेरित करता है' वह भावयिता है, 'भाव्यते इति भविता' अर्थात् 'जिसे होने के लिये प्रेरित किया जाये वह भविता है' एवं 'भवति इति भवनम्' अर्थात् 'होना' भवन है। इनके साथ भावना का संबंध इस प्रकार है :—

'भावयिता भावनया भवितारं भावयति' अर्थात् भावयिता भावना के द्वारा 'होने वाले' को 'होने' के लिये प्रेरित करता हैं। इसी अर्थ को भावना-लक्षण में प्रकारान्तर से व्यक्त किया गया है।

२—'अन्योत्पादानुकूला भावना साध्यरूपिणी'

(कौमुदी पृष्ठ—२१)

प्रवृत्ति की सिद्धि यज्ञदत्तनिष्ठ भावना से होती है। ध्यान रहे भावना व्यापार-विशेष अर्थात् क्रियाविशेष हैं। विशेष इसलिए कि भावना बाह्यजगत् में प्रत्यक्ष देखी जाने वाली क्रिया नहीं है अपितु मानसिकी क्रिया है—मानस व्यापार। क्रिया के द्वारा जिस प्रकार कुछ करने की ओर उन्मुख हुआ जाता है उसी प्रकार भावना के द्वारा भी कुछ होने—उत्पन्न होने—की ओर उन्मुख हुआ जाता है। शाब्दीभावनारूप क्रिया आर्थीभावना को उत्पन्न करती है। यज्ञदत्तनिष्ठशाब्दीभावनारूपक्रिया देवदत्तप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना को उत्पन्न करती हैं।

इसी प्रकार 'यजेत स्वर्गकामः' यह वैदिक वाक्य है। यहाँ भावयिता यही वैदिक वाक्य (में स्थित लिङ् अंश) है, कोई व्यक्तिविशेष नहीं[1]। अतः इस वाक्य को सुनकर 'स्वर्गकाम' (स्वर्ग को प्राप्त करने की इच्छा वाले) पुरुष में यागानुष्ठानविषयक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, अतएव स्वर्ग-काम व्यक्ति की यागविषयक प्रवृत्ति यहाँ पर भविता हुई। इस वैदिक वाक्य में शाब्दी) भावना का लक्षण इस प्रकार चरितार्थ होता है—'भावना नाम भवितुः स्वर्गकामप्रवृत्तेः भवनानुकूल उत्पत्त्यनुकूलः भावयितुः लिङः व्यापार-विशेषः प्रेरणात्मककर्मविशेषः'।

(२) अब द्वितीय भाग देवदत्त में उत्पन्न प्रवृत्ति का विषय ओदनपाचन होने' में भावना का लक्षण चरितार्थ किया जा रहा है। इस प्रकार यह

१— 'यजेत स्वर्गकामः' वाक्य में भावयिता केवल 'यजेत' के 'त' प्रत्यय का 'लिङ्' अंश है, क्योंकि 'स्वर्गकामः' पद में भावना नहीं है, वह तो अधिकारी पुरुष का विशेषणमात्र है। 'यजेत' में भी 'यज्' धातु भावयिता का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती क्योंकि प्रत्ययरहित धातु-मात्र से प्रेरणा का बोध नहीं होता। 'त' प्रत्यय में 'आख्यातत्व' एवं लिङ्त्व' दो अंश हैं। उनमें 'आख्यातत्व' क्रियासामान्य का बोधक है जब कि प्रवर्तना 'लिङ्त्व' में रहती है। अतएव लिङ्' ही भावयिता है।

लक्षण आर्थी भावना का होगा। ध्यान रहे कि यहाँ भविता 'ओदनपाक' होगा और भावयिता देवदत्त होगा। तब भावना की व्याख्या इस प्रकार होगी —'भावना नाम भवितुः उत्पद्यमानस्य ओदनस्य भवनस्य उत्पत्तेः अनुकूलः कारणभूतः भावयितुः उत्पादयितुः देवदत्तस्य व्यापारविशेषः मानसिकक्रियारूपः औन्मुख्यभावः'। अर्थात् उत्पन्न होने वाले भात के उत्पन्न होने में कारणभूत देवदत्त का मानसिक व्यापारविशेष भावना (आर्थी) है।

इसी प्रकार 'यजेत स्वर्गकामः' इस वैदिक वाक्य के 'त'-प्रत्ययनिष्ठ लिङ् में शाब्दी भावना है। उस शाब्दी भावना से श्रोता में आर्थी भावना की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार शाब्दीभावना का भाव्य या उत्पाद्य आर्थी भावना है। शाब्दी भावना एक अभिप्राय-विशेष है जो लिङ् में स्थित रहता है। अभिप्रायविशेष यह है कि श्रोता में याग करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो। 'श्रोता में याग करने की प्रवृत्ति' को ही आर्थी भावना कहेंगे। आर्थी भावना इसलिये कहते हैं कि मुख्य प्रयोजनभूत अर्थ के साथ अर्थात् फल के साथ वह भावना अव्यभिचारिणी होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि देवदत्त में साङ्गयागानुकूल प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर उसके द्वारा किये जाने पर साङ्ग-याग से स्वर्गात्मक फल (अर्थ) अवश्य प्राप्त होता है परन्तु यह परिस्थिति शाब्दी भावना के लिये नियतभाव से नहीं हो पाती। यज्ञदत्त का यह अभिप्राय होने पर भी कि 'देवदत्त याग करे' यदि देवदत्त याग में प्रवृत्त न हो तो अप्रवर्तमान देवदत्त को स्वर्गात्मक फल (अर्थ) नहीं प्राप्त होता है, अतः यज्ञदत्तगत अभिप्राय को देवदत्तगत स्वर्गात्मक फलस्वरूप अर्थ का अव्यभिचारी नहीं कहा जा सकता—कारण नहीं कहा जा सकता।

'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य के साथ (आर्थी) भावना का लक्षण इस प्रकार घटित होगा —'भावना नाम भवितुः उत्पद्यमानस्य धात्वर्थस्य स्वर्गस्य वा भवनस्य उत्पत्तेः अनुकूलः जनकः भावयितुः उत्पादयितुः स्वर्ग-कामस्य पुरुषस्य व्यापारविशेषः' अर्थात् उत्पन्न होने वाली यागरूप क्रिया

अथवा स्वर्ग की उत्पत्ति का कारणभूत स्वर्गकाम श्रोता की प्रवृत्ति आर्थी भावना होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'भावना नाम........ व्यापार-विशेषः' यह भावना का एक सामान्य लक्षण है जो शाब्दी एवं आर्थी दोनों भावनाओं के लिये समान है।

प्रसंग—भावना सामान्य के लक्षण के पश्चात् अब शाब्दी भावना का लक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है—

(८—सभेदशाब्दीभावनानिरूपणम्)

तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दी भावना। सा च लिङंशेनोच्यते। लिङ्श्रवणेऽयं मां प्रवर्तयति मत्प्रवृत्त्यनुकूल-व्यापारवानयमिति नियमेन प्रतीतेः। यद्यस्माच्छब्दान्नियमतः प्रतीयते तत् तस्य वाच्यम्। यथा गामानय इत्यस्मिन् वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम्। स च व्यापारविशेषो लौकिकवाक्ये पुरुष-निष्ठोऽभिप्रायविशेषः। वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावाल्लिङादिशब्द-निष्ठ एव। अत एव शाब्दीभावनेति व्यवह्रियते।

अर्थ—उन दोनों भावनाओं में से प्रयोजक के उस व्यापारविशेष को, जो प्रयोज्य पुरुष की प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाला होता है, शाब्दी भावना कहा जाता है। शाब्दी भावना का बोध 'लिङ्' अंश से होता है। प्रयोजक पुरुष जब लिङ्' अंश को सुनता है तब वह यह समझता है कि 'यह प्रयोजक पुरुष मुझे कर्म में प्रवृत्त कराना चाहता है अतः इस प्रयोजक वृद्ध में मेरी प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाला व्यापार है'। यही व्यापार 'लिङ्-वाच्य' शाब्दी भावना है, क्योंकि नियमतः जिस शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है वह अर्थ उसी शब्द का वाच्य होता है; जैसे 'गामानय' यहाँ 'गो' शब्द का अर्थ 'गोत्व' इसीलिए होता है। वह व्यापार-विशेष अर्थात् शाब्दी भावना लौकिक वाक्य में तो पुरुषगतव्यापारविशेष

होता है और वैदिक वाक्य में यह भावना शब्दनिष्ठ होती है, क्योंकि मीमांसा सिद्धान्त में वेदकर्त्ता कोई पुरुष नहीं होता। शब्द में निष्ठ होने के कारण इस भावना का नाम शाब्दी भावना पड़ा।

अर्थबोधिनी—पहिले उल्लेख किया जा चुका है कि भावयिता का मानस व्यापार या अभिप्रायविशेष जो कि प्रवृत्त पुरुष की प्रवृत्ति का हेतु है, शाब्दी भावना कहलाता है। भावयिता को ही प्रयोजक वृद्ध कहा जाता है प्रयोजक इसलिए कि वह दूसरे व्यक्ति को कर्म में युक्त होने के लिए प्रेरित करता है और वृद्ध इसलिए कि उसे शब्दार्थसम्बन्ध का सम्यक् ज्ञान है। प्रयोजक वृद्ध को उत्तमवृद्ध भी कहते हैं। जिस व्यक्ति (पुरुष) को प्रेरित किया जाता है वह प्रयोज्य वृद्ध होता है। प्रयोज्यवृद्ध को मध्यमवृद्ध भी कहते हैं। प्रयोजकवृद्ध का अभिप्रायविशेष लिङ् शब्द का वाच्य-अर्थ होता है। लिङ् शब्द को सुनकर ही यह समझा जाता है कि लिङ् शब्द के प्रयोक्ता में (शाब्दी) भावना है। शाब्दी भावना का प्रत्यक्ष अनुभव प्रयोज्य वृद्ध क नहीं होता। प्रयोज्य वृद्ध को प्रयोजक वृद्ध में रहने वाली एवं लिङ् का वाच्य होने वाली शाब्दीभावना का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है। शाब्दी भावना लिङ् का अर्थ है (स च लिङंशेनोच्यते-प्रतिज्ञा) लिङ्–'त' के सुनने पर प्रयोज्य वृद्ध इस प्रकार अनुभव करता है–'यह (प्रयोजक वृद्ध) मुझे प्रवृत्त करा रहा है, यह (प्रयोजक वृद्ध) मेरी प्रवृति में अनुकूल व्यापार वाला है अर्थात् इस व्यक्ति में भावना वर्तमान है जिससे मुझमें प्रवृत्ति उत्पन्न हो' इस बात के नियमतः (अनिवार्यरूपेण) प्रतीत (अनुभूत) होने के कारण (लिङ्श्रवणेऽयं मां प्रवर्तयति मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयमिति नियमेन प्रतीतेः–हेतु)। और जब ऐसा अनुभव होता है तब अवश्य लिङ् शब्द का अर्थ शाब्दी भावना है, अन्यथा लिङ् शब्द के सुनने से ही ऐसा अनुभव क्यों होता कि इस व्यक्ति में मेरी प्रवृत्ति का जनक व्यापारविशेष है। जिस शब्द से जो अर्थ नियमतः प्रतीत होता है वही उसका वाक्य–अर्थ होता है (यद्यस्माच्छब्दान्नियमतः प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम्–व्याप्ति)। जैसे

'गाम् आनय' में 'गो' शब्द से सर्वदा गोत्व सामान्य) अर्थ समझा जाता है[1] (यथा गामानय इत्यस्मिन् वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम् - उदाहरण) अतः लिङ् से नियमतः समझा जाने वाला अर्थ (शाब्दी भावना) भी यथार्थ है[2]।

मीमांसक 'गो शब्द का अभिधेय अर्थ 'गो'–व्यक्ति न लेकर 'गोत्व' सामान्य लेते हैं अर्थात् 'गो' कहने से हमें विश्व की समस्त 'गो' व्यक्तियों में रहने वाले सामान्य का बोध होता है। गोत्व सामान्य प्रत्येक गाय में रहता है जिसके आधार पर प्रत्येक गाय को गाय कहा जाता है। यदि 'गो' शब्द एक गाय (गो व्यक्ति) का वाचक होता तो जिस गाय का वाचक होता केवल उसी गाय के लिये प्रयुक्त होता। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। किसी भी काल एवं देश की किसी गो–व्यक्ति को गाय कहा जाता है। इसका अर्थ यही हुआ कि 'गो' शब्द सभी गायों में रहने वाले एक गोत्व (सामान्य) का वाचक है। हाँ, व्यवहार में 'गामानय' कहने पर 'गो' व्यक्ति को छोड़कर 'गोत्व' नहीं लाया जा सकता, अतएव गाय (गो व्यक्ति) लाई जाती है। इस प्रकार मीमांसक 'गो' शब्द का अर्थ 'गोत्व' सामान्य मानते हैं।

'लिङ्' शब्द है। शब्द सदा अर्थ का वाचक होता है। 'लिङ्' शब्द का अर्थ 'शाब्दी भावना' है। 'शाब्दी भावना', जैसा कि ऊपर उल्लेख हो चुका है, 'लिङ् का प्रयोग करने वाले पुरुष में रहती है। किन्तु वैदिक वाक्य जैसे– 'यजेत स्वर्गकामः' अपौरुषेय है, अतएव ऐसे स्थलों में शाब्दीभावना को तत्तत् वेदवाक्यों में ही स्थित मानना होगा। वेद शब्दात्मक है, अतएव तन्निष्ठ होने के कारण चेतन या अचेतन उभयगत प्रयोजक भावना को शाब्दी भावना कहा जाता है।

१––देखिये विभाग सख्या–९

२––'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलं व्यापारं लिङादिशब्दनिष्ठतयानुभावयिता तस्य लिङादिशब्दान्नियमेन प्रतीयमानत्वाल्लिङादिशब्दवाच्यत्वमित्यनुमान-प्रदर्शनाय व्याप्तिं दर्शयति। यदित्यादिना। तत्रोदाहरणमाह। यथेत्यादि'। (कौमुदी—पृष्ठ—२२)

प्रसंग–अब शाब्दी भावना के तीन अंशों पर प्रकाश डाला जा रहा है:–

(९ शब्दभावनाया अंशत्रयम्)

सा च भावनांशत्रयमपेक्षते साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च, किं भावयेत् केन भावयेत् कथं भावयेदिति । तत्र साध्याकांक्षायां वक्ष्यमाणांशत्रयोपेता आर्थी भावना साध्यत्वेनान्वेति एकप्रत्यय-गम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः । संख्यादीनामेकप्रत्ययगम्यत्वेऽप्य-योग्यत्वान्न साध्यत्वेनान्वयः । साधनाकांक्षायां लिङादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति । तस्य च करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन, तत्पूर्वमपि तस्याः शब्दे सत्त्वात् । किंतु भावनाज्ञापकत्वेन शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेन वा । इतिकर्तव्यताकांक्षायामर्थवाद-ज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति ।

अर्थ–और वह भावना (शाब्दी) तीन अंशों की अपेक्षा रखती है। ये तीन अंश हैं–(१) साध्य (२) साधन और (३) इतिकर्तव्यता । उक्त अपेक्षात्रय का स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है–'किं भावयेत्' (क्या किया जाये), 'केन भावयेत् (किससे किया जाये) और कथं भावयेत्' (कैसे किया जाये) । शाब्दीभावना के साध्य की आकांक्षा होने पर आर्थीभावना साध्य-रूप में अन्वित होती है । आर्थीभावना के तीन अंश होते हैं जिनका उल्लेख आगे[1] किया जायेगा। दोनों भावनायें एक प्रत्यय–'त' के द्वारा समझी जाती हैं और इस प्रकार 'त' इस एक प्रत्यय के ही दोनों भावनाओं का बोधक होने के कारण आर्थी भावना शाब्दीभावना का साध्य होती है । यद्यपि संख्या आदि भी समान प्रत्ययबोध्य हैं, फिर भी उनमें शाब्दीभावना के साध्य होने की योग्यता नहीं होती, इसलिये वे साध्यरूप में अन्वित नहीं होते। शाब्दी-भावना के साधन की आकांक्षा होने पर 'लिङादि का ज्ञान' साध्यरूप में

१–देखिये विभाग संख्या–११

अन्वित होता है। किंतु लिङादिज्ञान को इसलिये शाब्दीभावना का साध्य नहीं माना जाता कि वह शाब्दीभावना को उत्पन्न करता है क्योंकि लिङादिज्ञान के पूर्व भी उसमें शाब्दी भावना रहती है अर्थात्, शाब्दीभावना उत्पन्न नहीं की जाती है। लिङादिज्ञान से शाब्दीभावना का ज्ञान होता है अथवा लिङादिज्ञान से शाब्दीभावना के साध्य-आर्थी भावना की उत्पत्ति होती है, इसीलिए लिङादिज्ञान को शाब्दीभावना का साध्य माना जाता है। इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होने पर अर्थवाद के द्वारा बोध्य प्रशसा ही इतिकर्तव्यता-रूप में अन्वित होती है।

अर्थबोधिनी—जैसे 'करे' पद के सम्बन्ध में 'किसे' 'किससे' एव 'कैसे' इस प्रकार तीन रूपों में आकांक्षा होती है, वैसे ही भावना' से सम्बद्ध 'भावयेत्' (होने के लिये प्रेरित 'करे') पद के सम्बन्ध में भी तीन रूपों में आकांक्षा होती है। आकांक्षा का स्वरूप इस प्रकार है—'किं भावयेत्', 'केन भावयेत्' एवं कथं भावयेत्'। 'किं भावयेत्' ? से साध्य की आकांक्षा होती है कि भावना का साध्य क्या है ? 'केन भावयेत्' से साधन की आकांक्षा होती है कि भावना के ज्ञान का साधन क्या है ? अथवा भावना के साध्य का साधन क्या है ? यद्यपि भावना अपने साध्य को उत्पन्न करती है तथापि भावना एवं साध्य के बीच एक साधन का अस्तित्व पाया जाता है जो साध्य के निष्पन्न होने में करण का स्थान ग्रहण करता है, अतएव भावना एवं भाव्य के बीच व्यवधान आ जाने के कारण भावना को करण नहीं माना जा सकता। 'कथं भावयेत्' ? से भावना के भाव्य (साध्य) के निष्पन्न होने में प्रकारता (इतिकर्तव्यता) की जिज्ञासा होती है कि भावना का साध्य किस प्रकार निष्पन्न होता है ? इस प्रकार यह देखा जाता है कि किसी भावना के लिये उक्त तीन अंश अपेक्षित होते हैं जिनके बिना भावना 'भावना' पद वाच्य नहीं हो सकती। वे तीन अंश हैं—साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता।

यहाँ शाब्दीभावना का प्रसङ्ग चल रहा है। शाब्दीभावना के सम्बन्ध में भी उसके साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होती है। शाब्दी-भावनां का साध्य क्या है ? इस प्रकार साध्य की आकांक्षा होने पर हमें

उसके उत्तररूप में 'शाब्दीभावना का साध्य आर्थीभावना होती हैं' इस प्रकार आर्थीभावना की प्राप्ति होती है। आर्थीभावना का विवेचन ग्रंथकार आगे करेंगे और बतलायेंगे कि भावना होने के नाते आर्थीभावना के भी ये तीन अंश (साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता) होते हैं।

किंतु प्रश्न यह है कि आर्थीभावना ही शाब्दीभावना के साध्यरूप में क्यों ली जाती है? ग्रथकार का उत्तर है—'एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाविधानश्रुतेः'। इसका अभिप्रेत अर्थ यह है कि चूंकि 'यजेत' के अन्तर्गत एक ही 'त' प्रत्यय से दोनों भावनायें समझी जाती हैं, इसलिये समान–अभिधान ('त' प्रत्यय) का श्रवण–रूप श्रुति प्रमाण उपलब्ध है, अतः उक्त भावनाद्वय के बीच भाव्यभावक–रूप सम्बन्ध ज्ञातव्थ है। शाब्दीभावना भावक (साधन) है और आर्थीभावना भाव्य (साध्य)।

'त' प्रत्यय एकवचन प्रथमपुरुष का रूप है एवं वर्तमान काल का बोधक है, अतएव 'त' प्रत्यय के शाब्दीभावना एवं आर्थीभावना के अतिरिक्त (एकत्व) संख्या, (प्रथम) पुरुप एव (वर्तमान) काल भी वाच्य हैं। फिर क्यों न शाब्दीभावना के साध्य संख्या आदि लिये जायें? संख्या आदि को शाब्दीभावना के साध्यरूप में न लिये जाने का कारण यह है कि संख्या आदि भावना के साध्य होने के योग्य नहीं है अर्थात् संख्या एक सिद्ध वस्तु है उसे साध्यकोटि में नहीं लाया जा सकता। ऐसी परिस्थिति में पुरुषार्थ के प्रति अनुकूलरूप में उसे शाब्दीभावना का साध्य कैसे माना जा सकता है। इसलिये आर्थीभावना के समान संख्या एवं काल आदि में 'समानाभिधान श्रुति' रूप प्रमाण के होते हुये भी शाब्दीभावना की भाव्यता अर्थात् साध्यता नहीं मानी जा सकती।

कहने का सरल तात्पर्य यह है कि किसी के अभिप्राय के अनुसार कोई भी व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त हो सकता है, परन्तु उसके अभिप्राय के अनुसार किसी भी वस्तु की संख्या को वह बदल नहीं सकता, अतः प्रवृत्ति (भावना) और संख्या दोनों को समान रूप से उक्त अभिप्राय का साध्य नहीं कहा जा सकता है, अर्थात् प्रवृत्ति होने पर नई संख्या नहीं उत्पन्न होती है।

इसीलिये प्रवृत्त्यात्मक प्रयोज्य व्यक्तिगत आर्थीभावना को प्रयोजक व्यक्तिगत अभिप्रायात्मक शाब्दीभावना का साध्य तो कहा जा सकता है, परन्तु संख्या को तत्साध्य नहीं कहा जा सकता अर्थात् संख्या शाब्दीभावना के साध्य होने के लिये अयोग्य है।

साध्य के पश्चात् साधन पर विचार करना है। शाब्दीभावना का साधन अर्थात् करण लिङादिज्ञान है। ध्यान रहे करण दो प्रकार का होता है—(१) कारक (२) ज्ञापक। कारक का अर्थ है उत्पादक अर्थात् उत्पन्न करने वाला और ज्ञापक का अर्थ है ज्ञान कराने वाला। लिङादिज्ञान शाब्दीभावना का उत्पादक करण नहीं है क्योंकि भावना —'यजेत स्वर्गकामः' इस वैदिक शब्द समूह में पूर्व से ही विद्यमान रही है। वेद के अनादि होने से शाब्दीभावना भी अनादि है, अतएव उसके उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ लिङादिज्ञानरूप करण से शाब्दीभावना का ज्ञान अवश्य होता है। 'लिङ्' के सुनने पर श्रोता वक्ता अथवा वेदवाक्य में पूर्व से ही विद्यमान शाब्दीभावना का अनुमान द्वारा ज्ञान कर लेता है। इस प्रकार लिङादिज्ञान ज्ञापक रूप में शाब्दीभावना का करण है उत्पादकरूप में नहीं।

लिङादिज्ञान शाब्दीभावना का ज्ञापक करण होने के साथ-साथ आर्थीभावना का कारक करण भी है। लिङ् आदि का ज्ञान होने पर ही श्रोता में आर्थीभावना उत्पन्न होती है।

लिङ् लकार के अतिरिक्त अन्य लकारों द्वारा भी शाब्दीभावना का ज्ञान एवं आर्थीभावना की उत्पत्ति होती है, यथा—'अग्निहोत्रं जुहोति'[1] यहाँ 'लट्' लकार द्वारा उसी विषय का प्रख्यापन हुआ है जो 'प्रजेत स्वर्गकामः' के 'लिङ्' लकार द्वारा। इसीलिये ग्रंथकार ने करण के प्रसङ्ग में 'लिङादिज्ञानम्' पद में 'आदि' शब्द का प्रयोग किया है। 'आदि' शब्द से 'लट्' आदि लकार भी गृहीत हो जाते हैं।

१—देखिये विभाग संख्या—७१

इस प्रकार साध्य एवं साधन पर विचार हो चुकने के पश्चात् 'इतिकर्तव्यता' विचाररूप में क्रमप्राप्त है। चूँकि भाव्य या साध्य आर्थीभावना है, इसलिये इतिकर्तव्यता का सम्बन्ध आर्थीभावना से ही होगा। 'इतिकर्तव्यता' की आकांक्षा 'कथं भावयेत्' रूप में होती है। यहाँ भाव्य आर्थीभावना है अतएव प्रासङ्गिक आकांक्षा इस प्रकार हुई कि 'आर्थीभावनां कथ भावयेत्' अर्थात् 'आर्थीभावना को किस प्रकार निष्पन्न या उत्पन्न करे'। ध्यान रहे कि आर्थीभावना का निष्पादक या उत्पादक 'लिङादिज्ञान' भी होता है किन्तु वह आर्थीभावना की निष्पत्ति में सामान्य करण होता है, जबकि 'इतिकर्तव्यता' विशेष रूप से कारण होती है। इस प्रकार यहाँ 'इतिकर्तव्यता की आकांक्षा इस रूप में हुई—'लिङादिज्ञानेन आर्थीभावनां कथ भावयेत् ?' इस प्रकार कथंभावाकांक्षा के शमन हेतु ऐसी क्रिया होनी आवश्यक है जिसके द्वारा आर्थीभावना उत्पन्न हो सके। शङ्कालु व्यक्ति विधि वाक्य पर सदेह कर सकता है अतएव विधि वाक्य के प्रशंसक वाक्य अर्थवाद के द्वारा यागादि की प्रशंसा करके आर्थीभावना को निष्पन्न किया जाता है उक्त प्रकार की प्रशंसा ही इतिकर्तव्यता है जो 'कथंभावयेत्' ? आकांक्षा का शमन करती है[1]।

प्रसंग—अब आर्थीभावना का लक्षण किया जा रहा है—

(१०—आर्थीभावनालक्षणम्)

प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना। सा चाख्यातत्वांशेनोच्यते, आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात्।

अर्थ—स्वर्ग आदि प्रयोजन को लक्ष्य करके याग आदि क्रिया को अनुष्ठित करने का पुरुष में जो मानसिक व्यापार (कर्म) उत्पन्न होता है उसे आर्थी

१–लिङादिज्ञानेन भावयेत्कथमित्याकांक्षायां कर्मप्राशस्त्यविशिष्टेनेति-प्रकारान्वयात्'।

(कौमुदी पृष्ठ ३२)

भावना कहते हैं । आर्थी भावना आख्यातत्व अंश का वाच्य होती है, क्योंकि आख्यातसामान्य व्यापार अर्थात् क्रिया का वाचक होता है ।

अर्थबोधिन — पुरुष 'यजेत स्वर्गकामः' वाक्य सुनता है । उसे स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा होती है, परन्तु स्वर्ग (प्रयोजन) की प्राप्ति याग (क्रिया) के सम्पादन से ही हो सकती है। अतएव श्रोता पुरुष में स्वर्गरूप प्रयोजन के लिए यागरूप क्रिया के अनुष्ठान करने की प्रवृति (व्यापार) उत्पन्न होती है । अर्थात् स्वर्ग (प्रयोजन) की इच्छा से पुरुष में प्रवृत्ति (व्यापार) उत्पन्न (जनित) होती है और इस प्रवृत्ति (व्यापार) का विषय होता है याग (क्रिया) क्योंकि याग के अनुष्ठान से ही स्वर्ग प्राप्त होता है। पुरुष की यागविषयक इस प्रवृत्ति अर्थात् मानसिक व्यापार को ही आर्थीभावना कहते हैं[1] ।

आर्थीभावना 'आख्यातत्व' का अर्थ होती है, जैसे 'त' प्रत्यय के 'लिङ्त्व' अंश का अर्थ शाब्दीभावना है उसी प्रकार 'त' प्रत्यय के आख्या-तत्व' अश का अर्थ आर्थीभावना है। ऐसा इसलिए कि आख्यात सदैव क्रियावाचक होता है । 'तिङ्' को आख्यात कहते हैं और तिङ्' प्रत्यय धातु में जुड़कर प्रवर्तक होते हैं क्योंकि न केवल धातु के श्रवण से किसी व्यक्ति में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और न केवल प्रत्यय के श्रवण से ही। इस प्रकार सिद्ध होता है कि आख्यात व्यापारवाची है और उससे आर्थीभावना जैसा अर्थ समझा जाता है ।

ग्रथकार ने शाब्दीभावना के नामकरण का कारण बताया है[2] । इन्होंने

---

१ — 'प्रयोजनस्य स्वर्गादिरूपफलस्य येच्छा रागविशेषःफलेच्छा साधनमुपसङ्क्रामतीति न्यायात्तेन च रागविशेषेण जनितो यो यागादिक्रियाविषयः पुरुषस्य व्यापारविशेषः सार्थीभावनेत्यर्थः' (कौमुदी पृष्ठ ३३)

२—'व च व्यापारविशेषो लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेषः। वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावाल्लिङादिशब्दनिष्ठ एव । अत एव शाब्दीभावनेति व्यत्र ह्रियते ।' (विभाग संख्या—८)

आर्थीभावना नाम पड़ने के कारण का निर्देश नहीं किया है। आर्थीभावना को आर्थीभावना संज्ञा से अभिहित करने के दो कारण प्रतीत होते हैं—

१—स्वर्ग आदि फल पुरुष का अर्थ (प्रयोजन) होता है और उसी अर्थ को प्राप्त करने के उद्देश्य से ही फलार्जक व्यक्ति में यह भावना उत्पन्न होती है, इसीलिये आर्थीभावना कहलाती है।

२—पुरुष के द्वारा स्वर्गादि फल अर्थित होता है अतएव पुरुष ही अर्थ है एवं पुरुष में उत्पन्न होने के कारण प्रकृत भावना आर्थी हुई[१]।

ध्यान रहे भावना होने के नाते आर्थी भावना भी मानसिक व्यापार अर्थात् मानसिक क्रिया ही है एवं शाब्दीभावना के समान आर्थीभावना के भी साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता ये तीन अंश होते है।

प्रसङ्ग—अब आर्थी भावना के तीन अंशों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

(११–आर्थीभावनाया अंशत्रयम्)

साप्यंशत्रयमपेक्षते साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च, किं भावयेत् केन भावयेत् कथं भावयेदिति। तत्र साध्याकाङ्क्षायां स्वर्गादिफलं साध्यत्वेनान्वेति। साधनाकाङ्क्षायां यागादिः करणत्वेनान्वेति। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजाद्यङ्गजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति।

अर्थ—उस आर्थी भावना को भी तीन अंशों की अपेक्षा होती है। ये तीन अंश हैं—(१) साध्य (२) साधन और (३) इतिकर्तव्यता। उक्त आकांक्षात्रय का स्वरूप इस प्रकार होता है—(१) किं भावयेत् (क्या करे),

---

१—'अर्थ्यते प्रार्थ्यते पुरुषैरिति अर्थः फलम्, तत्प्रयोजकत्वाद् भावना आर्थी। यद्वा अर्थ्यते फलम् येनेत्यर्थः पुरुषः तद्गतत्वादार्थी।'

(सारविवेचिनी पृष्ठ–२)

(२) केन भावयेत्' (किससे करे) और (३) 'कथं भावयेत्' (कैसे करे)। उन तीनों में से साध्य की आकांक्षा होने पर 'स्वर्ग आदि फल' साध्य-रूप में अन्वित होता है। साधन की आकांक्षा होने पर 'याग आदि क्रिया' साधन-रूप में अन्वित होती है। इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होने पर 'प्रयाज आदि क्रियासमूह' इतिकर्तव्यता-रूप में अन्वित होता है।

अर्थबोधिनी—किसी भावना के साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता ये तीन अंश होने आवश्यक होते हैं। जहाँ तक आर्थी भावना के साध्य का प्रश्न है आर्थी भावना का साध्य स्वर्ग आदि फल है। यद्यपि आर्थी भावना के प्रभाव से पुरुष प्रथमतः याग को निष्पन्न करता है और यागानुष्ठान के पश्चात् कालान्तर में स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इस प्रकार आर्थी भावना एवं स्वर्ग की प्राप्ति में काल का व्यवधान पड़ जाता है, फिर भी आर्थी भावना का साध्य स्वर्ग ही माना जाता है। यह इसलिने कि स्वर्ग इष्ट है याग इष्ट नहीं। याग का सम्पादन तो पुरुष इसलिये करता है कि उसे अपना इष्ट-स्वर्ग प्राप्त हो सके। याग की जटिल प्रक्रिया एवं व्यय उन अभीष्ट नहीं हो सकते। वस्तुतः पुरुष को स्वर्ग ही अभीष्ट होता है, इसलिये उसे ही पुरुषनिष्ठ आर्थी भावना का भाव्य या साध्य मानना चाहिये। स्वर्ग उत्पन्न नहीं किया जाता है, क्योंकि स्वर्ग पूर्व से ही विद्यमान रहता है। हाँ यहाँ स्वर्ग-भावना का अर्थ स्वर्गप्राप्ति या स्वर्गसुख प्राप्ति होगा।

आर्थीभावना के साध्य स्वर्ग का साधन यागादि है। वेदविधियों से ज्ञात होता है कि याग आदि के अनुष्ठान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जैसे 'यजेत स्वर्गकामः' इस विधि वाक्य से ज्ञात होता है कि याग करने से स्वर्ग की प्राप्ति होगी। इस प्रकार स्वर्ग आदि साध्य का साधन याग माना जाता है। याग के अनुष्ठान होते ही स्वर्ग की प्राप्ति अविलम्ब नहीं हो जाती अपितु याग के अनुष्ठान एवं स्वर्गप्राप्ति में काल का व्यवधान रहता है। अतएव यागानुष्ठान एव स्वर्गप्राप्ति को सम्बद्ध करने के लिये 'अपूर्व' की कल्पना की गई है। याग का अनुष्ठान हो चुकने पर अनुष्ठाता पुरुष

में 'अपूर्व' की उत्पत्ति होती है। उसी अपूर्व के प्रभाव से मरणोपरान्त पुरुष को स्वर्ग की प्राप्ति होती मानी जाती है।

यद्यपि यह कहा जा चुका है कि याग आदि साधन के द्वारा साध्य–स्वर्ग को सिद्ध करे, फिर भी आकांक्षा यह होती है कि यागादि के द्वारा 'किस प्रकार' साध्य की प्राप्ति करे। इसी आकांक्षा को 'इतिकर्तव्यताकांक्षा' कहते है। इस 'किस प्रकार' रूप प्रश्न का उत्तर है—'प्रयाज' आदि अंगसमूह के अनुष्ठान द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति करे'। आशय यह है कि याग (दर्शपूर्णमास) के सम्पादन के लिये प्रयाज, अनुयाज आदि अंगभूत क्रियाओं का भी अनुष्ठान होना आवश्यक है। दर्श पूर्णमास मुख्य याग है एवं इन यागों की अङ्गभूत क्रियायें प्रयाज आदि है, प्रयाज आदि द्वारा अङ्गभूत क्रियाओं का अनुष्ठान करने से जब पूरा याग पूर्णरूप से अपनी अंगक्रियाओं सहित अनुष्ठित हो जायेगा तभी याग से स्वर्ग की प्राप्ति होगी अन्यथा नहीं। इसलिये कथंभादा-कांक्षा होने पर प्रयाज आदि अंगसमूह के द्वारा सम्पादन करने की बात कही गई। 'प्रयाजादि' पद में 'आदि' पद का प्रयोग प्रयाज के अतिरिक्त अनुयाज एवं अन्य अंगभूत कियाओं को उद्देश्य करके किया गया है[1]।

प्रसंग—'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र की व्याख्या में अन्य सभी पदों की व्याख्या करने के पश्चात् ग्रंथकार ने धर्म का लक्षण किया है। लक्षण इस प्रकार है—

'यागादिरेव धर्मः। तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः'। पुनः स च यागादिः यजेत स्वर्गकामः.........' से लेकर अभी तक उसी याग या धर्म के विषय में विवेचन किया गया। भावना भी उसी का अंश था। धर्मलक्षण में 'वेदप्रतिपाद्यः' पद में आये हुये 'वेद' के स्वरूप, लक्षण एवं विभागों पर अब विचार किया जा रहा है—

(१२–वेदस्य लक्षणं विभागाश्च)

अथ को वेद इति चेदुच्यते अपौरुषेयं वाक्यं वेदः। स च विधि-मन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः।

१—देखिये विभाग संख्या—३६

अर्थ—अब यदि यह प्रश्न किया जाये कि वेद किसे कहते हैं तो उत्तर य है कि ' 'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः' (अर्थ—अपौरुषेय वाक्य को वेद कहते हैं') यह वेद का लक्षण है। वेद पाँच प्रकार का होता है अर्थात् वेद के ५ विभाग हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) विधि (२) मंत्र (३) नामधेय (४) निषेध और (५) अर्थवाद।

अर्थबोधिनी—वेद अपौरुषेय वाक्य होता है। मीमांसादर्शन के अनुसार वेद पुरुषकृत नहीं है। महाभारत आदि ग्रंथों को व्यास आदि पुरुषों ने लिखा है, किन्तु वेद को नहीं। वेद तो ऐसा महावाक्य है जो अनादि है। मीमांसा ईश्वर को वेद का कर्ता नहीं मान सकता। एक तो मीमांसा निरीश्वर दर्शन है, ईश्वर की सत्ता उसे स्वीकार ही नहीं। जब ईश्वर की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती तो वह (ईश्वर) उसका रचयिता ही ही कैसे सकता है? अथ-संग्रहकार जैसे सेश्वर मीमांसक ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते हुये भी वेद को अपौरुषेय मानते हैं। ईश्वर भी पुरुष-पुरुषोत्तम है; यदि उसे वेद का रचयिता मान लिया जायेगा, तो वह (वेद) पौरुषेय हो जायेगा। यद्यपि परमाणु काल आत्मा आदि अनेक वस्तुयें अपौरुषेय है, किन्तु वे वाक्य नहीं, जब कि वेद वाक्य-रूप है। अतएव वेद को 'अपौरुषेय वाक्य' कहा गया है।

मीमांसा या कर्मकाण्ड की दृष्टि से वेद के पांच भाग किये गये है। ये पाँच हैं--विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद। अर्थसंग्रह ग्रंथ के शेष भाग में इन्हीं पाँच का विवरण मिलता है।

वेद के उस अंश को विधि कहतें हैं जो अलौकिक विषयों पर प्रकाश डाले[1] जैसे—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह एक विधि या विधिवाक्य हैं क्योंकि यहाँ स्वर्गफल वाले 'अग्निहोत्र' नामक हवन का विधान किया गया है। 'अग्निहोत्र' हवन से स्वर्ग के प्राप्त होने का नियम लोक में सर्वथा अज्ञात है। इस प्रकार के हवन के विधान के कारण प्रकृत वाक्य 'विधि वाक्य' कहा जाता है। वेद के उस अंश को मंत्र कहा जाता है जिनका पाठ यागानुष्ठान-

---

१—'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधि-'

काल में याग में प्रयाग किये जाने वाले पदार्थों का स्मरण कराने के लिये किया जाये[1]।

'नामधेय' याग के नाम को कहते हैं। जैसे 'उद्भिद्' एक याग विशेष का नाम है, अतएव 'उद्भिद्' यागनामधेय या 'नामधेय' हुआ। वस्तुतः जब किसी शब्द का कोई दूसरा अर्थ हो रहा हो किन्तु कारणवश उस शब्द को उस अर्थ में प्रयुक्त न मानकर उसे 'यागविशेष का नाम अर्थात् 'यागनामधेय' नाम लिया जाता है, तब उस शब्द को 'नामधेय' कहते हैं। उदाहरण के लिये 'उद्भिद्' शब्द का अर्थ भूमि के खोदने का साधन फावड़ा या कुदाल भी होता है, किन्तु कारणवश–जैसा कि नामधेय प्रकरण में दिखलाया जायेगा–'उद्भिद्' शब्द का अर्थ फावड़ा या कुदाल आदि न लेकर एक 'विशेष याग' ले लिया जाता है। ऐसी 'स्थिति में उद्भिद्' नामधेय हो जाता है[2]।

निषेध-वाक्य ऐसे वाक्यों को कहते हैं जो पुरुष को अनर्थकारी क्रियाओं को करने से रोकते हैं[3], जैसे–'न कलञ्जं कक्षयेत्' अर्थात् 'विषाक्त मांस को न खाये'। जिस प्रकार विधि वाक्य पुरुष को इष्ट कर्म में प्रवृत्त करते हैं उसी तरह निषेध वाक्य पुरुष को अनिष्ट कर्म करने से निवृत्त करते हैं।

विधि वाक्यों के द्वारा विहित कर्मों के प्रशंसक एवं निषेध वाक्यों के द्वारा निषिद्ध कर्मों के निन्दक वाक्यों को 'अर्थवाद' कहते हैं[4]। अर्थवाद वाक्यों को सुनकर व्यक्ति विहित कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो जाता है एवं निन्दित कर्मों के करने से निवृत्त हो जाता है।

[प्रस्तावना समाप्त]

१–'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः'

(विभाग संख्या–६१)

२–देखिये विभाग संख्या–६७

३–'पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः (विभाग संख्या–७५)

४–'प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः'

(विभाग संख्या –८६)

(ख) विधि प्रकरणम्

प्रसंग—यहाँ से लेकर ग्रंथ के अन्त तक वेद के विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद इन पाँच प्रभेदों पर विस्तार से विचार किया जायेगा। विधि वेद का प्रथम प्रभेद है एवं ग्रन्थ में इसका विस्तार दूसरों की अपेक्षा अधिक है। सर्व प्रथम विधि पर विचार किया जा रहा है—

(१३—विधिलक्षणम्)

तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः। स च तादृशप्रयोजनवदर्थ-विधानेनार्थवान् यादृशं चार्थं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं विधत्ते। यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इति विधिर्मानान्तरेणाप्राप्तं स्वर्ग-प्रयोजनवद्धोमं विधत्ते। अग्निहो होमेन स्वर्गं भावयेदिति वाक्यार्थबोधः।

अर्थ—वेद का जो भाग अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराता है उसे विधि कहा जाता है। विधि की यही सार्थकता है कि जो सप्रयोजन अर्थ अन्य प्रमाणों से अज्ञात रहता है उसका विधान विधि करती है। उदाहरण के लिये 'अग्नि-होत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह एक विधि है। यह विधि स्वर्गफलक याग का विधान करती है अर्थात् अन्य प्रमाणों से न ज्ञात होने वाले स्वर्गफलक याग का विधान करती है। उक्त विधिवाक्य का अर्थबोध 'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्' इस रूप में होता है। इसका अर्थ—'अग्निहोत्र नामक याग से स्वर्ग को सम्पन्न (प्राप्त) करे' है।

अर्थबोधिनी—वेद के पाँच भागों में से जो भाग अज्ञात पदार्थ का ज्ञान कराता है वह विधि कहलाता है।† विधि जिस अज्ञात अर्थ (विषय)

---

† 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

तथा

'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः'।

(ऐतरेयब्राह्मण पर सायणभाष्य, पृष्ठ १)

का ज्ञान कराती है उसका ज्ञान स्वयं में पर्यवसित नहीं होता है अपितु उसका कुछ प्रयोजन रहता है। पुनश्च, विधि अज्ञात विषय का केवल ज्ञान ही नहीं कराती है अपितु विधान भी करती है अर्थात् क्रियाविशेष के सम्पादन का विधान करती हैं अतएव 'अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः' इस विधि के लक्षण के पश्चात् विधि के स्वरूप पर विचार करते हुये ग्रन्थकार ने विधिके विशेषण के रूप में 'तादृशप्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवान्' पदों का प्रयोग किया है। यहाँ प्रयोजनवत्' पद के द्वारा ज्ञान के स्वयं में पर्यवसान होने का निवारण एवं 'विधानेन' पद के द्वारा अज्ञातार्थज्ञापनमात्र का निवारण करके अप्रवृत्तप्रवर्तन का भी ग्रहण किया गया है।

'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह विधिवाक्य है, क्योंकि शब्द प्रमाण रूप वेद के अतिरिक्त प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से अग्निहोत्र का ज्ञान नहीं होता। अग्निहोत्र के सम्पादन का फल स्वर्गप्राप्ति है, अतएव अग्निहोत्र 'प्रयोजनवान् अर्थ' हुआ। विधि की यही विशेषता है कि वह ऐसे अर्थ (विषय) का विधान करे जिसका कुछ प्रयोजन (फल) हो और जो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि अन्य किसी भी प्रमाण का विषय न हो अपितु केवल प्रासंगिक वेदवाक्य का ही विषय हो।

'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस विधिवाक्य का मीमांसकदृष्ट्या स्पष्ट अर्थ इस प्रकार हुआ—'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्'। मीमांसा के अनुसार विधि वाक्य में भावना रहती है। भावना के पूर्वोक्त साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता ये तीन अंश होते हैं। साधन एवं इतिकर्तव्यता सामान्य एवं विशेष अथवा समस्त एवं व्यस्त भेद से भिन्न होने पर भी समान ही हैं। इस प्रकार वस्तुतः भावना के दो मुख्य अंश 'साधन' एवं 'साध्य' हुए। तृतीया विभक्ति के द्वारा साधन एवं द्वितीया विभक्ति के द्वारा साध्य का बोध होता है। भावना का स्पष्ट बोध होने के लिये प्रत्येक विधि वाक्य के साधन एवं साध्य अंशों का स्पष्ट होना नितान्त आवश्यक है। इसीलिये यहाँ पर 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' वाक्य का अर्थबोध 'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्'—रूप

में हुआ। यहाँ 'अग्निहोत्रहोमेन' पद तृतीया और 'स्वर्ग' पद द्वितीया विभक्ति में है।

'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' यह विधि होम क्रिया का विधान करती है, अतएव उत्पत्ति विधि है। उक्त विवरण उत्पत्ति-विधि को दृष्टि में रखकर किया गया है।

प्रसङ्ग—कुछ ऐसी विधियाँ होती है जिनमें होम आदि क्रियाओं का विधान नहीं होता, अपितु केवल क्रिया के अङ्गभूत पदार्थों का विधान होता है। क्रिया का ग्रहण किसी दूसरो विधि से हो जाता है। ऐसीं विधि को गुण-विधि कहते हैं। अब ग्रंथकार इसी गुण-विधि के स्वरूप का प्रदर्शन करते हैं—

(१४—गुणविधेः स्वरूपम्)

यत्र कर्म मानान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रं विधत्ते। यथा 'दध्ना जुहोति' इत्यत्र होमस्य 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यनेन प्राप्तत्वाद्धोमोद्देशेन दधिमात्रविधानं दध्ना होमं भावयेदिति।

अर्थ—जहाँ पर कर्म का विधान अन्य प्रमाण से हुआ रहता है वहाँ पर विधि कर्म को उद्देश्य करके गुणमात्र का विधान करती है अर्थात् अङ्गभूत द्रव्य या देवता का विधान करती है। उदाहरण के लिये 'दध्ना जुहोति' इस विधि स्थल में 'होम का विधान' अग्निहोत्रं जुहुयात्' इस वाक्य से होने के कारण 'होम' को उद्देश्य करके दधिमात्र का विधान किया जाता है। 'दध्ना जुहोति' का मीमांसा की भाषा में अर्थ हुआ—'दध्ना होमं भावयेत्' अर्थात् 'दधि के द्वारा होम का सम्पादन करे'।

अर्थबोधिनी—'दध्ना जुहोति' गुणविधि है। इसमें केवल 'दधि' का विधान किया गया है। 'जुहोति' अंश तो 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' इस विधि से पूर्व ही प्राप्त हो चुका है, अतः होम का यहाँ पर अनुवाद मात्र है। 'जुहोति' का अर्थ—'होम' मुख्य है,उसी को लक्ष्य में रखकर उसके अङ्गभूत दधि का विधान 'दध्ना जुहोति' इस विधि के द्वारा किया गया है। विधि

होने के कारण इसमें भी भावना विद्यमान है। भावना तथा उसके साध्य एवं साधन संज्ञक अंशों को स्पष्ट करने के लिये 'दध्ना जुहोति' का मीमांसादर्शन-सम्मत अर्थ 'दध्ना होमं भावयेत्' हुआ। 'दध्ना' तृतीया विभक्ति में होने के कारण होमक्रिया का साधन 'दधि' हुआ और साधन सदैव गुण या गौण रहता है अतएव दधि रूप गुण का विधान होने के कारण 'दध्ना जुहोति' इस विधि को गुणविधि कहा गया। होम साध्य होने के कारण द्वितीया विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है।

प्रसंग—कुछ ऐसी भी विधियाँ होती हैं जिनके द्वारा गुण या कर्म का एक साथ विधान होता है। ऐसी विधियों के द्वारा गुण एवं कर्म का विधान अलग-अलग न होकर विशेषण एवं विशेष्य के रूप में होता है। विधान कर्म का विशेषण वनता है। ऐसी विधि को गुणविशिष्ट विधि कहते हैं। इसी प्रकार की गुणविधि का निरूपण अब किया जा रहा है—

(१५—विशिष्टविधेः स्वरूपम्)

यत्र तूभयमप्राप्तं तत्र विशिष्टं विधत्ते, यथा 'सोमेन यजेत' इत्यत्र सोमयागयोरप्राप्तत्वात् सोमविशिष्टयागविधानम्। सोमपदे मत्वर्थलक्षणया सोमवता यागेनेष्टं भावयेदिति वाक्यार्थबोधः।

अर्थ—जहाँ पर कर्म और गुण दोनों के दोनों प्रमाणान्तर से अप्राप्त रहते हैं वहाँ विधि गुणविशिष्ट कर्म का विधान करती है। जैसे 'सोमेन यजेत' इस विधि-स्थल में 'सोम' (गुण) और 'याग' (कर्म) दोनों प्रमाणान्तर से अप्राप्त रहते हैं। इसलिये सोम–विशिष्ट याग का विधान किया जाता है। 'सोम' पद में मत्वर्थलक्षणा मानकर 'सोमेन' का मीमांसा की भाषा में 'सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्' अर्थात् 'सोमयुक्त याग से स्वर्ग का सम्पादन करे' यह स्पष्ट अर्थ होता है।

अर्थबोधिनी—'सोमेन यजेत' गुणविशिष्ट विधि है, जबकि 'दध्ना जुहोति' केवल गुणविधि। गुणविधि में केवल 'गुण' का विधान होता है और होम

आदि क्रिया की प्राप्ति किसी वैदिक वाक्य (विधि)द्वारा पहिले से ही हुई रहती है। उदाहरण के लिये 'दध्ना जुहोति' में केवल दधिरूप गुणका विधान होता है और होम की प्राप्ति 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस विधि से पूर्व से ही हुई रहती है। गुणविशिष्ट विधि इससे भिन्न है। गुणविशिष्ट विधि के पूर्व ऐसी कोई विधि नहीं मिलती जिससे होम (क्रिया) का या गुण का विधान हुआ रहता हो अतएव गुण के विधान के साथ ही साथ होम (क्रिया) के विधान का भार भी इसी विधि पर पड़ता है।

किन्तु मीमांसक यह मानने को तैयार नहीं कि एक ही विधि के द्वारा गुण एवं क्रिया दोनों का अलग-अलग विधान होता है। एक ही काल में एक वाक्य के द्वारा दो पदार्थों के विधान नहीं हो सकते। अतएव मीमांसक एक उपाय का आश्रय लेता है जिसके द्वारा अभिप्रेत दोनों पदार्थों का विधान हो भी जाये और दो पदार्थों के विधान से होने वाले दोष से भी बचा जा सके। उपाय यह है कि मीमांसक ऐसे स्थलों में विधान तो केवल एक पदार्थ–होम आदि मुख्य याग–का मानता है, हाँ गुण को क्रिया का विशेषण मान लेता है। इस प्रकार विशेष्यभूत क्रिया के विधान के अन्तर्गत विशेषणभूत गुण भी आ जाता है। और इस कार्य का सम्पादन करने वाली एक शब्द–शक्ति विशेष है जिसका नाम लक्षणा है। लक्षणा शक्ति शब्द में होती है। प्रकृत स्थल में लक्षणा से प्राप्त अर्थ 'मतुब्' प्रत्यय का अभिप्राय 'वान्' अर्थात् 'वाला' है।

इस प्रकार 'सोमेन यजेत' का मीमांसाभिमत अर्थ होगा–'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्' अर्थात् सोमयुक्त याग से स्वर्ग का संपादन करे। स्पष्ट है कि यहाँ केवल याग का विधान है। ध्यान रहे यहाँ द्वितीया होने पर 'इष्ट' का विधान नहीं है, क्योंकि इष्ट की प्राप्ति याग द्वारा होगी। अतएव याग ही विहित है। 'यागेन' का विशेषण 'सोमवता' है। विशेषण विशेष्य से पृथक् नहीं होता। सोम गुण है जोकि 'मतुब्' प्रत्यय के योग से याग के विशेषण के रूप में आता है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि याग सोमरूप गुण से विशिष्ट है। इसलिये इस विधि को गुणविशिष्ट विधि अर्थात् गुणविशिष्टकर्म-

विधि कहते हैं। प्रकृत स्थल में इस विधि को हम 'सोमविशिष्टयाग' विधि या 'सोमगुणविशिष्टयाग' विधि कह सकते है।

इस प्रकार 'सोमेन यजेत' का मत्वर्थलक्षणा से 'सोमवता यागेनेष्टं भावयेत् 'अर्थ लेने से 'याग' एवं सोम' गुण दोनों का विधान भी हो गया किन्तु दोनों का अलग अलग विधान न होने के कारण कोई प्रतिपक्षो यह भी आपत्ति नहीं कर सकता है कि एक ही वाक्य में दो पदार्थों का विधान है। जैसा कि पहिले बताया गया है लक्षणा द्वारा ही सोम का अर्थ 'सोमवत्' अर्थात् 'सोमवान्' लिया गया है। यह इसलिये कि सोम का अर्थ 'सोम' लेकर अभिप्रेत अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता। मुख्य क्रिया के विधान के विना गुण का विधान भी किस क्रिया को लक्ष्य करके होगा ?

प्रकृत स्थल की लक्षणा को 'उपादान' लक्षणा करते हैं। भाले प्रवेश कर रहे हैं' अथवा 'लाठियाँ प्रवेश कर रही हैं' यहाँ उपादान क्षलणा से 'वान्' अर्थात् 'वाले' अर्थ का योग करके 'भाले वाले पुरुष प्रवेश कर रहे हैं' तथा लाठी वाले पुरुष प्रवेश कर रहे हैं' यह अर्थ होगा[1]। इसी प्रकार 'सोम' का अर्थ भी 'सोमवान्' होगा।

प्रसङ्ग—अब ग्रन्थकार प्रकृत्त स्थल में वाक्यभेद नामक दोष के होने का खण्डन करते हैं—

(१६—वाक्यभेदापत्तेर्निराकरणम्)

न चोभयविधाने वाक्यभेदः, प्रत्येकमुभयस्याविधानात्, किन्तु विशिष्टस्यैकस्यैव विधानात्।

अर्थ—यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक ही विधि से सोम

१—'कुन्ताः प्रविशन्ति', 'यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते। तत उपादानेयं लक्षणा।'

(काव्यप्रकाश-द्वितीय उल्लास–१०)

और याग दोनों के विधान मानने पर 'वाक्यभेद' संज्ञक दोष आपन्न होता हैं। यह इसलिये कि दोनों का अलग अलग विधान ही नहीं हुआ है, किन्तु विशेषणयुक्त एक क्रियामात्र का ही विधान हुआ है।

अर्थबोधिनी—'सोमेन यजेत' इस विधिवाक्य के द्वारा सोमविशिष्ट याग का विधान है। किसी भी व्यक्ति को आपाततः यह प्रतीत हो सकता है कि यहाँ 'वाक्य भेद' नामक दोष है, किन्तु वस्तुतः यहाँ वाक्यभेद है ही नहीं।

वाक्यभेद ऐसे स्थलों पर हुआ माना जाता है जहाँ एक ही वाक्य से दो विधान माने जाते हैं। उदाहरण के लिये यदि 'सोमेन यजेत' इस वाक्य का अर्थ 'सोमेन याग भावयेत्' और 'यागेन इष्ट भावयेत्' इन दो वाक्यों के द्वारा लिया जाता तो यहाँ पर वाक्यभेद—एक ही वाक्य का दो वाक्यों में टूट जाना—होता।

प्रकृत स्थल में वाक्यभेद है ही नहीं। वस्तुतः यहाँ दो वस्तुओं का विधान है ही नहीं। यहाँ विधान केवल याग का है—'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्'। हाँ 'याग कैसा है ?' इसका स्पष्टीकरण 'सोमवता' पद द्वारा किया गया है। 'सोमवता' पद याग का विशेषण है। ध्यान रहे यहाँ विधान सोम का नहीं है 'सोमवत्' अर्थात् 'सोमवाले' का है अर्थात् याग का हैं। जैसे 'राजपुरुषमानय' वाक्य में उल्लिखित 'राजपुरुषम्' पद से 'पुरुष' का आनयन होता है, राजा का नहीं, इसी प्रकार याग के विशेषणभूत 'सोमवता'-गत 'सोम' पद गौण होने से विहित नहीं माना जा सकता। फिर दो विधान ही कहाँ हुये ? विधान तो हुआ केवल याग का ही। यद्यपि इस विधि-वाक्य से याग एवं सोम दोनों ही विहित भले ही हो पायें परन्तु दोनों का विधान मिलित रूप में एक ही है, इसलिये दो विधायक वाक्य नहीं बनाने पड़ते। अतएव यहाँ वाक्य-भेद है ही नहीं। जब दो पदार्थों का अलग अलग विधान ही नहीं तब वाक्यभेद हो ही कैसे सकता है।

प्रसङ्ग—'सोमेन यजेत' को गुणविधि क्यों न मान लिया जाये ? इस प्रश्न को उठाकर उसका उत्तर दिया जा रहा है--

(१७—गुणविधित्वशंकानिराकरणम्)

न च 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति विधिप्राप्तयागो-द्देशेन सोमरूपगुणविधानमेवास्तु 'सोमेन यागं भावयेत्' इति किं मत्वथलक्षणयेति वाच्यम् । तस्याधिकारविधित्वेनोत्पत्तिविधि-त्वासम्भवात् ।

अर्थ–यह भी कहना ठीक नहीं है कि–'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'इस विधि से विहित याग को उद्देश्य करके केवल सोम-रूप गुण का विधान मान लिया जाये, 'तब सोमेन यजेत' का अर्थ 'सोमेन यागं भावयेत्' होगा और 'सोम' पद में मत्वर्थलक्षणा मानने से क्या लाभ ? 'सोमेन यजेत' अधिकार विधि है यह उत्पत्तिविधि हो ही नहीं सकती, अतएव इससे याग का विधान ही नहीं माना जा सकता ।

अर्थबोधिनी—'सोमेन यजेत' विधि का 'सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्' अर्थ लेकर 'सोमेन' पद के स्थान पर 'सोमवता' पद का प्रयोग किया गया है । 'सोमवता' की निष्पत्ति 'सोम' शब्द के आगे 'मतुब्' प्रत्यय जोड़ने से हुई । इस प्रकार 'सोमेन' पद का अर्थ 'सोमवता' हुआ । किन्तु किसी भी पद का अपने से भिन्न अर्थ नहीं हो सकता, फिर सोमेन का अर्थ 'सोमवता' कैसे होगा ? 'सोम' का अर्थ सोम-'एक प्रकार का द्रव्य होता है और 'सोमवत्' का अर्थ सोमवाला (याग) होता है । ग्रन्थकारने यहाँ लक्षणा के द्वारा 'सोम'का अर्थ 'सोमवान्' लिया है । कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ लक्षणा का उपयोग 'वाला' अर्थ में अर्थात् 'मतुब्' अर्थ में हुआ है ।

'मतुब्' अर्थ का बोध कराने वाली लक्षणा का प्रयोग करके 'सोमेन' का अर्थ 'सोमवता' लेना भी एक प्रकार का दोष ही है । इसे 'पददोष' कहा जाता है, क्योंकि यह दोष पद में रहता है । अतएव यदि कोई ऐसा उपाय निकल

आये कि 'सोम' के स्थान पर सोमवत्' का प्रयोग न करना पड़े तो 'पददोष' की गलती से बचा जा सकता है।

पूर्वपक्षी एक उपाय वतलाता है। वह 'सोमेन यजेत' को गुणविधि मानने के पक्ष में है। उसके अनुसार 'दध्ना जुहोति' एवं 'सोमेन यजेत' दोनों एक ही जैसी विधियाँ हैं। जिस प्रकार 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' विधि के 'जहुयात्' अंश द्वारा याग (क्रिया) का विधान मान लिया गया था और 'दध्ना जुहोति' के द्वारा केवल 'दधि (गुण) विहित माना गया था, इसी प्रकार 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधि से याग (क्रिया) का विधान मानकर 'सोमेन यजेत' विधि से सोम जैसे गुण का विधान मान लिया जाये। इस प्रकार सोम पद में मत्वर्थलक्षणा मानने पर जो 'पददोष' होता था वह नहीं होगा।

पूर्वपक्षी की इस युक्ति को सिद्धान्ती उचित नहीं मानता। कारण,ज्योति ष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' यह अधिकार विधि है, अतएव इससे याग जैसी क्रिया का विधान नहीं माना जा सकता। अधिकार विधि अधिकार का निरूपण करती है, याग का विधान नहीं कराती। एक विधि एक ही पदार्थ का विधान या वोध करायेगी, एक से अधिक का नहीं। अधिकार विधि याग सम्पन्न करने वाले व्यक्ति की फलोपभोगविषयक योग्यता का वोध कराती है[1] अतएव इसे केवल याग का विधान करने वाली विधि (उत्पत्तिविधि[2]) नहीं मान सकते। इसीलिये 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधि से याग (क्रिया) का विधान न हो सकने के कारण 'सोमेन यजेत' को केवल गुण-विधि नहीं मान सकते।

१—'कर्मजन्यफलस्वाम्यवोधको विधिरधिकारविधिः'।

(विभाग संख्या—५८)

२—'तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः'।

(विभाग संख्या—२०)

प्रसङ्ग—अब 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इसी एक विधि को 'उत्पत्तिविधि' एवं 'अधिकारविधि दोनों ही मान लिये जाने का खण्डन किया जा रहा है—

(१८—ज्योतिष्टोमेन' इत्यादिविधेरुभयविधित्वशंकानिराकरणम्)

ननु 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यस्येव 'ज्योतिष्टोमेन' इत्यस्याप्युत्पत्त्यधिकारविधित्वमस्त्विति चेत् । न, दृष्टान्ते उत्पत्तिवाक्यान्तराभावेनान्यथानुपपत्त्या तथात्वाश्रयणात् । किं च 'ज्योतिष्टोमेन' इत्यस्योभयविधित्वेऽनेनैव यागस्तस्य फलसंबन्धोऽपि बोधनीय इति सुदृढो वाक्यभेदः । तद्वरं सोमपदे मत्वर्थलक्षणया विशिष्टविधानम् ।

अर्थ—प्रश्न है—'उद्भिदा यजेत पशुकामः' की भाँति 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' को भी उत्पत्ति एवं अधिकार विधि दोनों क्यों न मान लिया जाये ? उत्तर है नहीं । क्योंकि दृष्टान्तभूत—'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस विधि स्थल में इसके अतिरिक्त अन्य कोई उत्पत्तिवाक्य नहीं मिलता. इसलिये इसे अगत्या उत्पत्ति एवं अधिकार विधि दोनों मान लिया गया है । किन्तु 'ज्यतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य को उत्पत्ति विधि एवं अधिकार विधि दोनों मानने पर इसी एक वाक्य से याग एवं यागफल—स्वर्ग दोनों के दो विधान समझने होंगे । इस प्रकार दो विधानों के बोधक दो वाक्यों के हो जाने पर स्पष्टतः वाक्य-भेद हो जायेगा । इसलिये अच्छा यही होगा कि 'सोम' पद में लक्षणा मानकर पूर्वोक्तानुसार सोमगुणविशिष्ट याग का विधान ही माना जाये ।

अर्थबोधिनी—सिद्धान्ती के मत से किसी एक ही विधि को उत्पत्तिविधि एवं अधिकारधिधि दोनों नहीं माना जा सकता है। परन्तु पूर्वपक्षी 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' को उत्पत्ति एवं अधिकार विधि दोनों ही मानना चाहता है । पूर्वपक्षी की युक्ति है कि स्वयं मीमांसक एक ही विधि को उत्पत्ति

एवं अधिकार विधि मानते हुए पाये जाते हैं। उदाहरण के लिये 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' एक ऐसी ही विधि है जिसे मीमांसक उत्पत्ति एवं अधिकार विधि दोनों मानते हैं। उक्त विधि में 'उद्भिद्' शब्द यागवाची है,[१] अतएव याग का विधान करने के कारण उसे उत्पत्ति विधि माना जाता है और 'पशुकामः' पद के प्रयोग होने के कारण यही विधि अधिकार विधि हो जाती है क्योंकि इस पद से कर्मफलभोक्तृत्व का प्रख्यापन होता हैं।[२] इस प्रकार जब 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' वाक्य उत्पत्ति एवं अधिकारविधि दोनों हो सकता है तो फिर 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधि को भी उत्पत्ति एवं अधिकार विधि दोनों क्यों न मान लिया जाये ?

सिद्धान्ती इस प्रस्ताव को नहीं स्वीकार करता। यह इसलिये कि 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' के प्रसंग में हमें कोई दूसरी उत्पत्तिविधि प्राप्त नहीं होती, जिससे क्रिया का विधान हो सके, इसलिये और कोई उपाय न होने के कारण अधिकारविधि होने पर भी इसे उत्पत्तिविधि मान लिया जाता है। किन्तु 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधि को उत्पत्ति एवं अधिकार विधि दोनों मानने पर इस एक विधि से दो विधान मान्य हो पड़ेंगे, जैसा मानने पर नियमतः वाक्यभेद हो पड़ेगा। अर्थात् दो विधानों के लिये दो भिन्न-भिन्न वाक्य मानने होंगे। वे दोनों वाक्य इस प्रकार होंगे— 'ज्योतिष्टोमेन यागं भावयेत्' एवं 'यागेन स्वर्गं भावयेत्'। इस प्रकार

१—तत्र 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यत्रोद्भिच्छब्दस्य यागनामधेयत्वं मत्वर्थलक्षणाभयात्'।

(विभाग संख्या ६९)

२—'कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः।......। तच्च फलस्वाम्यं तस्यैव योऽधिकारविशिशिष्टः, अधिकारश्च स एव यद् विधिवा येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते।'

(विभाग संख्या—५८-५९)

'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस प्रकार एक ही विधिवाक्य के दो वाक्य हो जाने पर यहाँ यह दोष न हो यह विचार कर उभयविधित्व का त्यागकर विशिष्टिविधि को स्वीकार कर लिया गया है। विशिष्ट विधि को स्वीकार कर लेने पर वाक्यभेद नहीं होगा,—हाँ मत्वर्थलक्षणा–रूप पद दोष अवश्य होगा। किन्तु वाक्यभेद–रूप वाक्यदोष लक्षणा रूप पददोष से बड़ा दोष है, अतएव बड़े दोष से बचने के लिये छोटे दोष को स्वीकार कर लेना ही उचित है। इसलिए 'सोमेन यजेत' में विशिष्ट विधि ही मानना उचित होगा।[1]

प्रसङ्ग—विधि के लक्षण तथा गुणविधि एवं विशिष्टविधि के स्वरूप का निरूपण कर चुकने के बाद अब ग्रन्थकार विधि के प्रभेदों का उल्लेख करते हैं—

(१९–विधिश्चतुर्विधः)

विधिश्चतुर्विधः—उत्पत्तिविधिर्विनियोगविधिरधिकारविधिः प्रयोगविधिश्चेति।

अर्थ—विधि के चार प्रभेद हैं—(१) उत्पत्तिविधि (२) विनियोग विधि (३) अधिकार विधि और (४) प्रयोग विधि।

अर्थबोधिनी—ग्रन्थकार ने यहाँ विधि के चार प्रभेद बतलाये हैं। ये

---

१ 'न च तस्योत्पत्तिविधित्वे वाक्यभेदस्याभावेऽपि लक्षणादोषस्तु दुर्वारि इति वाच्यम्। तस्या वाक्यभेदादल्पदोषत्वात् लक्षणायाः पददोषत्वाद् वाक्यभेदस्य तु वाक्यदोषत्वात् पदवाक्यदोषयोर्मध्ये पददोषस्यैव कल्पनीयत्वाद् गुणे त्वन्याय्यकल्पनेति न्यायात्। तस्माज्ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यस्योभयविधित्वे वाक्यभेदप्रसङ्गाद् वरं सोमपदे मत्वर्थलक्षणां स्वीकृत्य गुणविशिष्ठकर्मस्वरूपविधानमेवेत्याशयेनोपसंहरति —वरमित्यादिना।'

(कौमुदी पृष्ठ ५४–५५)

प्रभेद हैं–(१) उत्पत्ति विधि,[1] (२) विनियोग विधि,[2] (३) अधिकारविधि[3] एवं (४) प्रयोग विधि[4]। इन विधियों का विशेषण परिचय प्रासङ्गिक स्थलों पर दिया जायेगा। यहाँ संक्षेप में इनके स्वरूप पर प्रकाश डाला जा रहा है।

उत्पत्तिविधि की विशेषता यह है कि यह सदैव किसी प्रधान क्रिया का विधान करती है,अतएव इसे प्रधानविधि या अपूर्वविधि[5] भी कहा जाता है,जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह विधि उत्पत्तिविधि है क्योंकि यहां पर 'अग्निहोत्र' नामक मुख्य क्रिया का विधान किया गया है अन्य छोटी मोटी क्रियायें इसी मुख्य याग का अग बनेंगी जिनके विधायक वाक्य उत्पत्ति विधि से भिन्न होंगे।

विनियोग धिवि अङ्गी एवं अङ्ग के बीच होने वाले अङ्गाङ्गिभाव संवंध का बोध कराती है। गुण के अन्तर्गत वे प्रोक्षण आदि क्रियायें, दधि आदि द्रव्य, एकत्व आदि संख्या एवं आरुण्य आदि अमूर्त पदार्थ आते हैं जो प्रधान क्रिया के अनुष्ठान में अङ्ग (साधन या सहायक) वनते हैं। उदाहरण के लिये "दध्ना जुहोति' यह एक गुणविधि है। यहाँ दधि प्रधानभूत क्रिया–'अग्निहोत्र' नामक याग—का अङ्ग है।

अधिकार विधि के द्वारा यह निर्णय किया जाता है कि अमुक योग्यताओं या अर्हताओं से युक्त व्यक्ति याग के फल को प्राप्त करता है। संक्षेप में यह समझना चाहिये कि अधिकार विधि प्रासङ्गिक याग का अनुष्ठाता कौन व्यक्ति हो सकता है, उसमें कौन कौन से गुण या विशेषताएँ होनी चाहिये, इस विषय का निर्णय करती है। उदाहरण के लिये'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' यह अधिकार विधि है। इस विधि के द्वारा यह प्रख्यापन होता है कि जो व्यक्ति स्वाराज्य को प्राप्त करने का इच्छुक हो और साथ ही साथ जो व्यक्ति

१—देखिये विभाग संख्या २०

२—देखिये विभाग संख्या–२२

३ - देखिये विभाग संख्या–५८ एवं आगे

४–देखिये विभाग संख्या–५०

५—देखिये विभाग संख्या–६२

राजा भी हो अर्थात् वर्ण से क्षत्रिय हो वही राजसूय याग करने का अधिकारी है अर्थात् राजसूय यज्ञ के अनुष्ठान का फल उसी को मिलेगा जो स्वाराज्य का इच्छुक होते हुये क्षत्रिय (राजा) भी हो।

प्रयोगविधि क्रम का विधान करती है। अनेक क्रियाओं से यज्ञ सम्पन्न होता है। सभी क्रियायें एक साथ नहीं हो सकतीं, अपितु एक एक करके ही उनका अनुष्ठान हो सकता है। अब प्रश्न उठता है कि कौन क्रिया पहिले होगी और कौन बाद में। 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' प्रयोग विधि का एक उदाहरण है। यह विधि निर्णय करती है कि पहिले कुशमुष्ठि (वेद) को बनाया जायेगा तत्पश्चात् वेदी को।

ग्रंथकार की दृष्टि में विधियों का यही मुख्य विभाजन है। हाँ, दृष्टिभेद से विधियों के उक्त प्रकार के वर्गीकरण के अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के वर्गीकरण इस ग्रन्थ में प्राप्त होते हैं। इन दो वर्गीकरणों में एक वर्गीकरण इस चतुर्विधात्मक वर्गीकरण के पूर्व हो चुका है। इसके अन्तर्गत तीन प्रकार की विधियाँ प्राप्त होती है[1] —

(१) 'विधि' अर्थात् प्रधानविधि अथवा उत्पत्तिविधि। इसका उदाहरण है—'अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः'।

(२) गुणविधि। इसका उदाहरण है–'दध्ना जुहोति'। विधि के चतुर्विधात्मक वर्गीकरण में इस विधि को विनियोग विधि कहा गया है।

(३) गुणविशिष्ट विधि। इसका उदाहरण है—'सोमेन यजेत'। (एक का विधान)

इसके अतिरिक्त अवशिष्ट एक वर्गीकरण मंत्रमीमांसा के अन्तर्गत प्रसङ्गवश आता है[2]। इसके अन्तर्गत विधियों के तीन प्रभेद पाये जाते हैं:–

(१) अपूर्व विधि। वस्तुतः यह उत्पत्ति विधि ही है। इसका उदाहरण है–'यजेत स्वर्गकामः'

१—देखिए विभाग संख्या–१३, १४ आदि

२—देखिए विभाग संख्या–६२

(२) नियम विधि। इसका उदाहरण है–'व्रीहीनवहन्ति'। यह विधि दृष्टिकोण भेद से विनियोग विधि ही है।

(३) परिसंख्या विधि। इसका उदाहरण है–'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'। इसके स्वरूप का विवेचन परिसंख्या विधि के विवेचन में ही देखना चाहिये[1]।

प्रसंग—उक्त चारों विधियों में से पहिली–उत्पत्ति विधि का निरूपण किया जा रहा है।

(२०—उत्पत्तिविधेर्लक्षणम्)

तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः। यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'इति'। अत्र च विधौ कर्मणः करणत्वेनान्वयः 'अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेत्' इति।

अर्थ—चारों विधियों में से जो विधि केवल कर्म के स्वरूप का बोध कराती है वह विधि उत्पत्ति विधि कही जाती है। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह वाक्य उत्पत्ति विधि है। इस विधि में कर्म का करणरूप में अन्वय होता है। इस प्रकार इसका बोधगम्य मीमांसासम्मत अर्थ होता है –'अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेत्' अर्थात् अग्निहोत्र नामक होम के द्वारा इष्ट का सम्पादन करे।

अर्थबोधिनी—जैसा कि पूर्व ही निर्देश किया जा चुका है चारों विधियों की अपनी अपनी विशेषतायें हैं। उत्पत्तिविधि भी अन्य तीनों से विलक्षण है। इसकी विशेषता यह है कि जो वेदवाक्य केवल प्रधान क्रिया का विधान करता है उत्पत्ति विधि होता है। इसलिये ग्रन्थकार ने इसका लक्षण 'कर्मस्वरूपमात्रबोधकः' किया है। 'याग' शब्द के प्रयोग से यह सूचित होता है कि उत्पत्ति विधि के द्वारा केवल क्रिया–मुख्यक्रिया का ही विधान होता है जबकि अन्य विधियों में मुख्य क्रिया से सम्बद्ध पदार्थों का विधान होता है। उत्पत्ति विधि के अतिरिक्त तीन विधियों में जिन पदार्थों का

१—देखिये विभाग संख्या ६३–६५

विधान होता है वे क्रियाओं से सम्बद्ध होते हैं, अतएव वे विधियाँ भी बिना क्रिया के उल्लेख किये कृतार्थ नहीं हो सकतीं। इसीलिये उन्हें भी क्रिया का उल्लेख करना पड़ता है। उदाहरण के लिये 'दध्ना जुहोति' यह एक विनियोग विधि है। यहाँ होम के साथ होने वाले दधि के सम्बन्ध का विधान माना जाता है। यद्यपि होम का विधान इस विधि के द्वारा नहीं होता तथापि 'जुहोति' पद से होम रूप प्रधान क्रिया का उल्लेख हो जाता है। फिर भी इसे उत्पत्तिविधि नहीं मान सकते, क्योंकि उत्पत्ति विधि में केवल मुख्य क्रिया का विधान होता है ओर यहाँ गुणविधि स्थल में पूर्वविहित क्रिया का तो अनुवाद ही होता है, विधान केवल गुण का होता है। इसी प्रकार अन्य विधियों के विषय में समझना चाहिये। यही कारण है कि 'कर्मस्वरूप-मात्रबोधकः' में 'मात्र' शब्द का प्रयोग किया गया है[1]।

विभाग १८ के अन्तर्गत मीमांसक 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' विधि को 'अधिकार विधि' के साथ-साथ 'उत्पत्ति विधि' भी मानता है। जब कि यह विधि 'पशुरूप फल' की भी बोधक है न कि 'कर्मस्वरूपमात्र' की बोधक, फिर इसे उत्पत्ति विधि क्यों माना जाये ? इस आशंका का निवारण मीमांसक इस प्रकार करता है—'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यह विधि मुख्यतः 'अधिकार विधि' है किन्तु प्रकृत स्थल में दूसरा कोई उत्पत्तिवाक्य विद्यमान नहीं था इसलिये इसे गौणरूप में उत्पत्ति विधि मान लिया गया है[2]।

१—कर्मस्वरूपमात्रेत्यत्र मात्रपदेनोत्पत्तिविधेः कर्मणः फलादिना सह सम्बन्धबोधकत्वं वारयति' (कौमुदी पृष्ठ ५५)

२—'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इति विधेस्तु श्रौतमधिकारविधित्वमेवोत्पत्तिविधित्वं तु कर्मस्वरूपबोधकविध्यन्तराभावेनार्थकमेवेति न दोषः'। (कौमुदी पृष्ठ ५५)

तथा

'अग्निहोत्रं जुहोति' यह उत्पत्ति विधि है। विधि होने के नाते इसमें भावना विद्यमान है। भावना के साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता ये तीन अंश होते हैं। उत्पत्ति वाक्य में कर्मवाचक 'अग्निहोत्र'' पद द्वितीयान्त है[1]। द्वितीयान्त 'अग्निहोत्र'' पद द्वारा ज्ञाप्य 'अग्निहोत्र' क्रिया प्रधान कर्म है। प्रधान कर्म के अनुष्ठान से ही स्वर्गादि मुख्य फल (इष्ट) की प्राप्ति होती मानी जाती है। आयाससाध्य अग्निहोत्रादि क्रियायें अनुष्ठानमात्र-प्रयोजक नहीं है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'अग्निहोत्र' क्रिया स्वर्गादि (इष्ट) फल का साधक है अतएव प्रकृत स्थल में क्रियावाचक 'अग्निहोत्र' पद द्वितीयान्त न होकर तृतीयान्त होना चाहिए अर्थात् 'अग्निहोत्र' पद अन्य कारक के रूप में प्रयुक्त हुआ न समझकर करण कारक अर्थ में प्रयुक्त समझा जाना चाहिए। तब 'अग्निहोत्रं जुहोति' का रूप होगा–'अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्'। यहाँ 'भावयेत्' पद स्पष्टतः भावना की सत्ता का संकेत कर रहा है तथा 'अग्निहोत्रहोमेन' एवं 'इष्टं' क्रमशः साधन एव साध्य का। यद्यपि 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य में 'इष्ट' पद का प्रयोग नहीं हुआ

दृष्टान्ते उत्पत्तिवाक्यान्तराभावेनान्यथानुपपत्त्या तथात्वाश्रयणात्'
(विभाग संख्या–१८)

१— अत्र च विधौ कर्मणः करणत्वेनान्वयः' वाक्य के अन्तर्गत 'कर्मणः' पद में प्रयुक्त 'कर्म' शब्द का अर्थ 'कर्म कारक' नहीं अपितु 'क्रिया' अर्थात् याग आदि क्रिया है। कारण, उत्पत्ति विधि का लक्षण करते हुये ग्रंथकार ने यागादि क्रिया के लिए ही 'कर्म' शब्द का प्रयोग किया है—'कर्मस्वरूपमात्र-बोधको विधिरुत्पत्तिविधिः' अतएव 'कर्मणः'–गत 'कर्म' वस्तुतः 'कर्मस्व-रूपमात्रबोधक'–गत कर्म की ओर ही सकेत कर रहा है, अतएव उससे अभिन्न है।

लौगाक्षिभास्कर ने विनियोगविधि–प्रकरण संख्या–२२ में क्रिया के साध्य रूप में प्रयुक्त करने का उल्लेख किया है, वहाँ 'कर्मणः' पद के स्थान पर स्पष्टतः 'धात्वर्थस्य' पद का प्रयोग किया है। धातु का अर्थ 'क्रिया' ही होता है—'गुणविधौ च धात्वर्थस्य साध्यत्वेनान्वयः'।

है' तथापि यतः प्रत्येक क्रिया का कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य होता है इसलिये अग्निहोत्र याग का भी कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य होगा। इस प्रकार का प्रयोजन अधिकार विधि द्वारा निर्दिष्ट हुआ करता है। प्रकृत स्थल की अधिकार विधि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' है। अतएव अग्निहोत्ररूप होम का फल स्वर्ग है। यही स्वर्ग कर्ता को इष्ट होता है। अतएव 'अग्निहोत्रं जुहोति' का अर्थ करते समय 'इष्ट' पद का अध्याहार किया गया है। तब प्रकृत उत्पत्तिविधि का उक्त 'अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्' अर्थ सम्पन्न हुआ।[1]

प्रसंग—अब अग्निहोत्रं जुहोति' के उत्पत्ति विधि होने में आक्षेप उपस्थित करके उसका निवारण किया जा रहा है—

(२१ – यागस्य द्वे रूपे)

ननु यागस्य द्वे रूपे द्रव्यं देवता च। तथा च रूपाश्रवणे 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति कथमुत्पत्तिविधिः। अग्निहोत्रशब्दस्य तु तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयत्वादिति चेत्। न रूपाश्रवणेऽप्यस्योत्पत्तिविधित्वात्। अन्यथा रूपश्रवणात् 'दध्ना जुहोति' इत्ययमेवोत्पत्तिविधिः स्यात्। तथा च 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति वाक्यमनर्थकं स्यात्।

अर्थ—पूर्वपक्षी का प्रश्न यह है कि—याग के दो रूप होते हैं-(१) द्रव्य एवं (२) देवता। किन्तु 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य में द्रव्य एवं देवता में से

---

१ अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेदिति करणत्वेनान्वये तु किन्तदिष्टमिति वीक्षायामग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यधिकारविध्यवगतफलसम्बन्धोपपत्तेः स्वसाधननिष्पादितस्य सिद्धस्वभावस्यैव करणत्वेनान्वयाच्च न कोऽपि दोष इति भावः'।

(कौमुदी पृष्ठ ५६)

किसी एक भी रूप का श्रवण नहीं है, फिर इसे उत्पत्तिविधि क्यों माना जाये। अग्निहोत्र' शब्द में द्रव्य अथवा देवता का श्रवण नहीं है, क्योंकि 'तत्प्रख्य-न्याय'[1] से 'अग्निहोत्र' शब्द याग का नाम मात्र है।

सिद्धान्ती का उत्तर है कि 'नहीं'। क्योंकि यद्यपि 'अग्निहोत्रं जुहोति' में रूप का श्रवण नहीं है फिर भी यह वाक्य उत्पत्तिविधि हो सकता है। अन्यथा, यदि रूप के श्रवण से ही कोई वाक्य उत्पत्तिविधि हो जाता तो 'दध्ना जुहोति' भी उत्पत्तिविधि हो जाता, क्योंकि इसमें 'दधि' जैसा द्रव्यात्मक रूप का श्रवण होता है। और 'दध्ना जुहोति' वाक्य को उत्पत्ति विधि मान लेने पर 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य व्यर्थ हो जायेगा।

अर्थबोधिनी – पूर्वपक्षी – 'अग्निहोत्रं जुहोति' को उत्पत्ति विधि नहीं माना जा सकता, क्योंकि उत्पत्तिविधि यागस्वरूप प्रधानकर्म का विधान करती है। परन्तु 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य में याग का लक्षण चरितार्थ नहीं होता। मीमांसा के अनुसार याग का लक्षण है-'उद्दिश्य देवतां द्रव्यत्यागो यागोऽभिधीयते' अर्थात् याग उसे कहते हैं जिसमें देवता को उद्देश्य करके तन्निमित्तक द्रव्य का त्याग किया जाता हो। इस प्रकार द्रव्य एवं देवता ये दो याग के 'रूप' हुये और इन दो रूपों में से एक भी रूप 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य में नहीं पाया जाता। 'अग्निहोत्र' शब्द एक क्रिया का पारिभाषिक नाम है न कि 'अग्नि' देवता का अथवा क्रिया के आधारभूत अग्नि-रूप गुण का वाचक। इस विषय का विस्तृत विवेचन इसी पुस्तक के नामधेयप्रकरण[3] में देखा जा सकता है। सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'अग्निहोत्र' शब्द एक क्रियाविशेष का पारिभाषिक नामधेय अर्थात् नाम (संज्ञा) है। यह बात तत्प्रख्यन्याय से सिद्ध होती है। यहाँ तत् (वह) शब्द का अर्थ 'गुण' है और

१—देखिये विभाग संख्या—७१

२—'ऐतरेय ब्राह्मण' पर सायणभाष्य (१-१) पृष्ठ ७

३—देखिये विभाग संख्या-(७१-७२)

'प्रख्य' शब्द का अर्थ प्रख्यापक या बोधक है। अर्थात् 'यदाहवनीये जुहोति' एवं 'यदग्नये च प्रजापतये च सायंजुहोति' वाक्यों में क्रमशः 'यज्ञ के आधारभूत अग्नि' एवं 'देवताभूत अग्नि' की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जिस आधारभूत अग्नि में हवन किया जाता है उस अग्नि की एव जिसके लिये द्रव्य-त्याग किया जाता है उस अग्नि की, इस प्रकार गुणभूत दोनों प्रकार की अग्नियों की प्राप्ति हो जाने के कारण 'अग्निहोत्रं जुहोति' के 'अग्निहोत्र' शब्द में आये हुये 'अग्नि' शब्द का अर्थ होमाधाररूप अग्नि या देवतारूप अग्नि नहीं हो सकता। इस प्रकार 'अग्निहोत्र' शब्द एक विशेष याग का पारिभाषिक नाम होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य में द्रव्य अथवा देवता का श्रवण नहीं होता है और द्रव्य एवं देवता के प्रख्यापन किये बिना कोई वाक्य याग-लक्षण के अनुसार 'याग' जैसे कर्म का बोधक नहीं हो सकता। फिर 'कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः' के अनुसार 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य उत्पत्तिविधि नहीं हो सका।

सिद्धान्ती—यद्यपि 'द्रव्य' एवं 'देवता' जैसे याग के दो रूपों में से कोई एक भी 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य में साक्षात् नहीं प्राप्त होता है तथापि अर्थापत्ति प्रमाण से द्रव्य एवं देवता की प्राप्ति होती है। द्रव्य एवं देवता की उपस्थिति के बिना याग सम्पन्न ही नहीं हो सकता। अतएव इन दो रूपों की कल्पना कर लेनी चाहिये।[1] इस प्रकार 'अग्निहोत्रं जुहोति' को उत्पतिविधि ही मानना उचित होगा। इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि इस प्रकार की विधियों में जहाँ द्रव्य अथवा देवता का श्रवण न हो वहाँ उनकी कल्पना कर लेनी चाहिये। रूपों का श्रवण आवश्यक नहीं। ऐसा नहीं माना जा सकता कि जिस विधि में द्रव्य या देवता का श्रवण न हो वह उत्पत्तिविधि ही न हो सके।

---

१ 'यद्यप्यत्र कर्मणो रूपं न श्रूयते, तथापि त्रिव्यन्यथानुपपत्त्या तत्कल्प्यते।'

(कौमुदी पृष्ठ–५९)

दूसरे, यह आवश्यक नहीं कि जिस विधि में रूप का श्रवण हो वह उत्पत्ति विधि होती हो, अन्यथा 'दध्ना जुहोति' को उत्पत्तिविधि मानना होगा, क्योंकि यहाँ 'दधि जैसे द्रव्यात्मक रूप का श्रवण होता है। और यदि 'दध्ना जुहोति' को उत्पत्तिविधि मान लेंगे तो 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य व्यथ हो जायेगा, इस वाक्य का कुछ भी प्रयोजन न रह पायेगा, जब कि मीमांसा दर्शन के लिये एक पद अथवा प्रत्यय को भी व्यर्थ मानना असह्य है, घोर अनर्थ है।

इसलिये 'अग्निहोत्रं जुहोति' को उत्पत्ति विधि ही मानना उचित होगा।

प्रसंग—जैसा कि पूर्व उल्लेख हो चुका है विधि के चार प्रभेद हैं—

(१) उत्पत्ति विधि (२) विनियोग विधि (३) अधिकार विधि एवं (४) प्रयोग विधि। इनमें से विधि के प्रथम प्रभेद—उत्पत्तिविधि का लक्षण एवं परीक्षा अभी हो चुकी है। अब ग्रंथकार विधि के द्वितीय प्रभेद—विनियोग विधि का लक्षण करते हैं—

(२२—विनियोगविधिः)

अङ्गप्रधानसंबन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः। यथा 'दध्ना जुहोति' इति। स हि तृतीयया प्रतिपन्नाङ्गभावस्य दध्नो होमसंबन्धं विधत्ते 'दध्ना होमं भावयेत्' इति।

गुणविधौ च धात्वर्थस्य साध्यत्वेनान्वयः। क्वचिदाश्रयत्वेनापि। यथा 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इत्यत्र' दधिकरणत्वेनेन्द्रियं भावयेत्'। तच्च किंनिष्ठमित्याकाङ्क्षायां सन्निधिप्राप्तहोम आश्रयत्वेनान्वेति।

अर्थ—जिस विधि से अङ्ग (गुण) एवं अङ्गी (प्रधान) के सम्बन्ध का ज्ञान होता है उसे विनियोगविधि कहते हैं। जैसे 'दध्ना जुहोति' वाक्य विनियोग विधि है। तृतीया विभक्त्यन्त 'दध्ना' पद से ज्ञात होता है कि

'दधि' अङ्ग है और 'होम' अङ्गी। इस प्रकार विधि से 'दधि' एवं 'होम' के बीच अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध का बोध होता है। 'दध्ना जुहोति' का अर्थ 'दध्ना होमं भावयेत्' अर्थात् दधि के द्वारा होम को सम्पन्न करे' होता है।

'दध्ना जुहोति' आदि गुणविधि में धात्वर्थ अर्थात् क्रिया का साध्य रूप में अन्वय होता है, किन्तु कहीं धात्वर्थ का अन्वय आश्रय-रूप में भी होता है। उदाहरण के लए दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इस गुणविधि में धात्वर्थ का अन्वय आश्रय-रूप में होता है, क्योंकि इस विधि का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार हुआ–'दधिकरणत्वेन इन्द्रिय भावयेत्'। इस पर 'यह दधिकरणत्व किसमें स्थित होगा ?' इस प्रकार आकाङ्क्षा होने पर समीप श्रुत होम ही आश्रय--रूप में अन्वित होता है।

अर्थबोधिनी– विनियोग विधि अङ्गाङ्गिभाव का ज्ञान कराती है। इसी के द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि स्थल विशेष में कौन किसका अङ्ग है और कौन किसका अङ्गी (प्रधान)। अंग का अथ होता है 'जो दूसरे के लिये हो अर्थात् साधन, और अंगी का अर्थ होता है 'जिसका कोई साधन हो' अर्थात् साध्य या मुख्य। साध्य (अङ्गी मुख्य होता है एवं तत्साधनभूत अङ्ग तदपेक्षया गौण होता है। इसीलिए अङ्ग को गुण कहा जाता है। प्रकृत स्थल में 'अङ्गाङ्गिभावबोधक' विधि का उदाहरण 'दध्ना जुहोति' है। दधि के द्वारा होम सम्पन्न होता है अतएव दधि अङ्ग है और ('जुहोति' बोध्य) होम प्रधान या अंगी। अतएव 'दध्ना जुहोति' का स्पष्ट अर्थबोधक वाक्य 'दध्ना होमं भावयेत्' होता है।

'दध्ना' पद में 'दधि' करण कारण है और 'होम' पद में 'होम' कर्म कारक। अतएव 'दध्ना होमं भावयेत्' अथवा 'दध्ना जुहोति' वाक्यों के सुनने से यह ज्ञात हो जाता है कि दधि होम का अंग है और होम दधि का अंगी अर्थात् प्रधान। उक्त अग एव प्रधान के सम्बन्ध का ज्ञान कराने के कारण 'दध्ना जुहोति' को विनियोग विधि माना जाता है।

यह स्पष्ट हो गया कि विनियोग विधि अगांगिभाव का बोध कराती है

विनियोग विधि[1] की एक विशेषता यह भी है कि इसमें प्रयुक्त धात्वर्थ अर्थात् क्रिया का अन्वय प्रायः साध्य रूप में होता है । उदाहरण के लिए 'दध्ना जुहोति' एक ऐसी ही विनियोग विधि है । इसका मीमांसाभिमत अर्थबोध— 'दध्ना होमं भावयेत्' वाक्य से होता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि 'जुहोति' पद से प्राप्त 'होम' जैसा धात्वर्थ साध्य-रूप से अन्वित है । 'होम' साध्य है और 'दधि' साधन--करण । साध्य होने के कारण ही 'होम' को कर्म कारक में रखा गया है ।

किन्तु कुछ स्थल ऐसे होते हैं जहाँ गुण विधि में प्राप्त धात्वर्थ का अन्वय आश्रय अर्थात् अधिकरण रूप में होता है । अर्थात् तत्तत् स्थलों के अर्थबोधक वाक्यों में धात्वर्थ (होम आदि क्रिया) साध्य रूप में प्रयुक्त न होकर अधिकरण रूप में प्रयुक्त होता है । उदाहरण के लिए 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' यह एक गुणविधि है ।

उक्त गुणविधि का स्पष्ट अर्थ यह है कि 'होमाश्रित दधिकरणकत्व के द्वारा इन्द्रियबल को प्राप्त करे' । यहाँ पर 'दधि' शब्द दधिकरणकत्व में लाक्षणिक है अर्थात् लक्षणा द्वारा 'दधि' शब्द का अर्थ 'दधिकरणकत्व' मान लेना चाहिये । 'दधिकरणकत्व' इसमें 'दधिकरणक' का अर्थ बहुव्रीहि समास से 'दधि है करण जिसका' ऐसा समझना चाहिये । 'दधिकरणकत्व' भी 'घटत्व', 'पटत्व' आदि की भाँति एक धर्म है । धर्म कभी धर्मी के बिना नहीं रह सकता अर्थात् आश्रय के बिना नहीं रह सकता, अतएव उस 'दधिकरण-कत्व' धर्म को किसी आश्रय की आवश्यकता होती है अतः 'दधिकरणकत्व' धर्म किंनिष्ठ है ? अर्थात् इसका आश्रय कौन है ? इस प्रकार आकांक्षा होने पर धात्वर्थभूत 'होम' उसके आश्रय--रूप में उससे अन्वित होता है । इस प्रकार अन्वय होने के कारण वह 'दधिकरणकत्व' धर्म होमाश्रित हो जाता है । अतः

१—ग्रंथकार ने यहाँ 'गुणविधि' पद का प्रयोग विनियोग विधि के अर्थ में ही किया है क्योंकि दृष्टिकोणभेद से गुणविधि ही विनियोग विधि होती है । (देखिये विभाग संख्या—१९ की अर्थबोधिनी)

उक्त प्रकार से 'होमाश्रितेन दधिकरणकत्वेन इन्द्रियं भावयेत्' अर्थात् 'होमाधारक दधिकरणकत्व के द्वारा अर्थात् होम को दधिकरणक बनाकर इन्द्रिय-बल प्राप्त करे' इस प्रकार वाक्यार्थबोध 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इस वैदिक वाक्य से होता है। इसलिए यहाँ धात्वथभूत होम आश्रय-रूप में अन्वित होता हुआ स्पष्ट प्रतीत होता है।

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि किस गुणविधि में धात्वर्थ साध्यत्वेन अन्वित होता और किसमें आश्रयत्वेन। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस गुणविधि में फल श्रवण न हो और न ही अधिकार विधि के लक्षण के माध्यम से फलश्रुति हो वहाँ धात्वर्थ का अन्वय साध्य रूप में होगा, जैसे 'दध्ना जुहोति' स्थल में। और जहाँ साक्षात् अथवा अधिकारी के विशेषणरूप में फल का श्रवण हो वहाँ धात्वर्थ का अन्वय आश्रय-रूप में होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ गुणरूप से विवक्षित पदार्थ का अन्वय फलभावना के साथ विवक्षित हो वहाँ धात्वर्थ का आश्रयत्वेन अन्वय होता है। उदाहरण के लिए 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इस गुणविधि वाक्य स्थल में 'इन्द्रिय' रूप फल का श्रवण होता है अतएव यहाँ धात्वर्थ का अन्वय आश्रय-रूप में हुआ है। सारांश यह है कि जिस गुण विधि में मुख्य पद का श्रवण होगा धात्वर्थ आश्रयत्वेन अन्वित होगा, अन्यथा साध्यत्वेन अन्वित होगा।

प्रसङ्ग—विनियोग विधि से अंगांगिभाव का ज्ञान कराने में जो छः प्रमाण सहायक होते हैं उनका उल्लेख किया जा रहा है—

(२३--विनियोगविधेः सहकारिभूतानि षट् प्रमाणानि)

एतस्य विधेः सहकारिभूतानि षट् प्रमाणानि श्रुति--लिङ्ग--वाक्य--प्रकरण--स्थान--समाख्यारूपाणि। एतत्सहकृतेनानेन विधिनाङ्गत्वं परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपं पारार्थ्यापरपर्यायं ज्ञाप्यते।

अर्थ—विनियोग विधि छः प्रमाणों की सहायता से अंगांगिभाव का

बोध कराती है। ये ६ प्रमाण इस प्रकार हैं—(१) श्रुति (२) लिंग (३ वाक्य (४) प्रकरण (५) स्थान एवं (६) समाख्या। यह विधि इन प्रमाणों की सहायता से अंगत्व का बोध कराती है। अंगत्व का पर्यायवाची शब्द 'पारार्थ्यं' (दूसरे के लिए होना) है और अंगत्व का लक्षण है—'परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वम्' हैं ।

अर्थबोधिनी —विभाग २२ के अन्तर्गत हम देखते हैं कि 'दघ्ना जुहोति' जैसी विनियोग विधि में दधि अंग है और होम अंगी। 'दधि' के अंगत्व का ज्ञान 'अर्थात् दधि अंग है' यह ज्ञान 'दघ्ना' पद में प्रयुक्त तृतीया विभक्ति श्रुति से होता है। इस प्रकार यहां अगत्वज्ञापन में तृतीया विभक्ति प्रमाण हुई। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि अंगत्व का ज्ञापन सर्वत्र तृतीया विभक्ति से हो। तृतीया विभक्ति के अतिरिक्त और भी प्रमाण हैं जिनकी सहायता से कोई विनियोग विधि अगत्व का ज्ञान कराती है। तृतीया विभक्ति एक प्रमाण-श्रुति का एक प्रभेद मात्र है। अङ्गत्व प्रापन में सहायकभूत कुल छः प्रमाण माने गये हैं। ये हैं—(१) श्रुति, (२) लिङ्ग, (३) वाक्य, (४) प्रकरण, (५) स्थान एवं (६) समाख्या। कभी-कभी किसी स्थल में एक से अधिक प्रमाण प्राप्त होते हैं और उनसे क्रमशः भिन्न-भिन्न पदार्थ अङ्ग होते हुये समझे जाने लगते हैं, किन्तु एक काल में एक विधि से एक ही पदार्थ का अङ्गत्व समझा जायेगा एकाधिक पदार्थ का अङ्गत्व नहीं, अतएव जो प्रमाण प्रबल होता है, उसके साहाय्य से निश्चित किया गया अङ्गत्व ही मान्य होगा, तदितर नहीं। उक्त छः प्रमाणों में क्रमशः पूर्ववती प्रमाण सबल हैं अर्थात् सर्वप्रबल श्रुति प्रमाण है, श्रुति से निर्बल लिङ्ग है किन्तु लिंग श्रुति के अतिरिक्त अन्य सभी प्रमाणों से सबल है । इसी प्रकार अन्य प्रमाणों के

१—लक्षण की व्याख्या इस प्रकार भी है –

'परोद्देशेन प्रवृत्ता कृतिसाध्यता यत्र तत्परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यं तस्य भावः परोद्देशप्रवृतिकृतिसाध्यत्वम्' ।

सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। समाख्या सबसे अधिक निर्बल है। इन सभी प्रमाणों का विवेचन ग्रंथकार आगे करेंगे।

ध्यान रहे कि अंगत्व का ज्ञापन विनियोग विधि के द्वारा होता है (अनेन विधिना अंगत्वं ज्ञाप्यते), साक्षात् श्रुत्यादि प्रमाणों के द्वारा नहीं। प्रमाण विधि के द्वारा अंगत्वज्ञापन में सहकारी (सहायक) होते हैं (एतत्सहकृतेन), न कि स्वयं ज्ञापक है।

विनियोग विधि के द्वारा अंगांगिभाव का बोध होता है। अंग गौण होता है और अंगी मुख्य श्रेष्ठ अर्थात् पर। अंग से अंगी उपकृत होता है। अंग (अंगी पर) के लिए होता है अर्थात् अंग परार्थ होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अंगत्व पारार्थ्य का दूसरा (अपर) पर्याय शब्द है (अंगत्वं पारार्थ्यापरपर्यायम्)। ग्रंथकार ने अंगत्व का लक्षण–'परोद्देश-प्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपम्' किया है जिसे अन्य शब्दों में 'पारार्थ्य' शब्द की ही व्याख्या समझनी चाहिए। अंगत्व के लक्षण के साथ ही 'पारार्थ्यापर-पर्यायम्' पद का प्रयोग ग्रंथकार के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी किया है जिसको लौगाक्षिभास्कर ने अत्यल्प भेद से उद्धृत सा कर दिया है। उदाहरण के लिये आचार्य आपदेव के मीमांसान्यायप्रकाश में 'अंगत्व'–लक्षणविषयक वाक्य इस प्रकार मिलता है–'एतत्सहकृतेन विधिनांगत्वं परोद्देशप्रवृत्तकृति-व्याप्यत्वरूपं पारार्थ्यापरपर्यायं ज्ञाप्यते'। पं० चिन्नस्वामीशास्त्री का यह मत कि 'पारार्थ्यापरपर्यायम्' पद का प्रयोग इसलिए किया गया है कि यहाँ अंगत्व का लक्षण जैमिनि के अंगत्व लक्षण से भिन्न न समझा जाये[1]। जैमिनि ने शेष का लक्षण इस प्रकार किया है–'शेषः परार्थत्वात्[2]।

अब अंगत्व के लक्षण 'परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपम्' के अर्थ पर विचार

१–'किमिदं जैमिनीयात् पारार्थ्यरूपादंगत्वाद् भिन्नम् ? नेत्याह–पारार्थ्येति'। (सार विवेचिनी–पृष्ट २७)

२–जैमिनिसूत्र–३।१।२।

करना चाहिए। 'परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपम्' की मुख्यतः दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती हैं—(१) परम् (उत्कृष्टं स्वर्गादिफलं) तस्य उद्देशेन (तल्लाभार्थमित्यभिप्रायः) प्रवृतः (यागादिप्रवृत्तः यः पुरुषः) तस्य (पुरुषस्य) कृत्या व्यापारेण साध्यत्वम् सम्पाद्यत्वम्।' 'पर' का अर्थ श्रेष्ठ अर्थात् स्वर्गादि फल है। स्वर्गप्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति स्वर्ग को प्राप्त करने की इच्छा से स्वर्ग के साधनभूत 'दर्श' आदि याग करने में प्रवृत्त होगा। ऐसे व्यक्ति को 'परोद्देशप्रवृत्त' कहेंगे और यागानुष्ठान में सक्रिय उस व्यक्ति की क्रिया ही 'परोद्देशप्रवृत्तकृति' कहलायेगी। उस 'परोद्देशप्रवृत्तकृति' रूप क्रिया के द्वारा साध्य अर्थात् सम्पाद्य प्रयाज, अनुयाज, अवघात एवं प्रोक्षण आदि कर्म अग हुए तथा इन प्रयाज आदि का 'अंग होना' ही अंगत्व है[1]। (२) परः दर्शादियागः तस्य उद्देशेन प्रवृतस्य पुरुषस्य कृत्या व्यापारेण साध्यत्वम् सम्पाद्यत्वम्'। यहाँ 'पर' शब्द का अर्थ स्वर्ग का साधनभूत याग लिया गया है। स्वर्ग के साधनभूत याग के सम्पादन में प्रवृत पुरुष की कृति (क्रिया) का साध्यभूत प्रयाज आदि क्रियायें अंग होंगी-यद्वा पर-शब्दो दर्शादिपरः तथा च तदुद्देशेन प्रवृत्तपुरुषकृतिव्याप्यत्वं प्रयाजादीनां भवतीति तेषां तत्त्वम्'। (कौमुदी पृष्ठ ६८)

वस्तु स्थिति यह है कि 'पर' शब्द अन्यवाची है, तदनुसार किसी भी अन्य के लिये कृतिसाध्य अर्थात् निष्पाद्य होने वाला अंग कहलाने का अधिकारी होता है। इस व्याख्या के अनुसार प्राप्त होने वाला अंगत्व सभी क्षेत्रों के लिए समान रूप से उपयुक्त हो पाता है, अतः अंगत्व की यह व्याख्या सर्वाधिक व्यापक होती है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा

१—'परं स्वर्गादिरूपमुत्कृष्टं साध्यं फल तदुद्देशेन सङ्कलनया मनसि सिद्धवत्करणेन तत्साध्यागादिषु प्रवत्तस्य पुरुषस्य कृतिसाध्यरूपं कृतिव्याप्य-रूपमित्यर्थः। तथा च स्वर्गफलोद्देशेन दर्शादिषु प्रवृत्तपुरुषकृतिव्याप्यत्वं प्रयाजानुयाजावघातप्रोक्षणादीनां सुप्रसिद्धमिति तेषां शेषत्वम्'।

(कौमुदी पृष्ठ ६८)

सकता है कि हाथ, पाँव आदि शरीर-रूप अंगी के अंग इसलिए हो जाते हैं कि वे स्वातिरिक्त समग्र शरीरात्मक अंगी के लिए ही निष्पन्न हुए होते हैं, इसीलिए शरीर के किसी भी भाग में, मक्खी बैठने पर हाथ उसे हटाने के लिये प्रवृत्तशील पाया जाता है। इसीलिये हाथ पाँव आदि शरीर के अंग कहलाते हैं।

'अंगी' शब्द का अभिप्रेत अर्थ होता है 'मुख्य' और 'अंग' शब्द का अभिप्रेत' अर्थ उस मुख्य के प्रयोजनसिद्धि में काम आने वाला गौण, इसीलिए मालिक होता है मुख्य अंगी और उसके अनेक भृत्य होते हैं उसके अंग, क्योंकि मालिक की प्रयोजनसिद्धि के लिये सारे भृत्य सचेष्ट हुआ करते हैं।

प्रसङ्ग—विनियोग विधि के सहकारीभूत उक्त श्रुत्यादि छः प्रमाणों में से सर्वप्रथम प्रथम प्रमाण-श्रुति के लक्षण सहित प्रभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—

(२४—श्रुतेर्लक्षणं प्रभेदाश्च)

तत्र निरपेक्षो रवः श्रुतिः। सा च त्रिविधा...विधात्री, अभिधात्री, विनियोक्त्री च। तत्राद्या लिङाद्यात्मिका। द्वितीया व्रीह्यादिश्रुतिः। यस्य च शब्दस्य श्रवणादेव संबन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री।

अर्थ—उनमें से प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखने वाले शब्द को श्रुति कहते हैं। श्रुति के तीन प्रभेद हैं—(१) विधात्री (२) अभिधात्री और (३) विनियोक्त्री। (१) 'लिङ्' आदि श्रुति को विधात्री श्रुति कहते हैं (२) व्रीहि आदि श्रुति को अभिधात्री श्रुति कहते हैं और (३) जिस शब्द के सुनने मात्र से अंगांगिभाव सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है उस शब्द को विनियोक्त्री श्रुति कहते हैं।

अर्थबोधिनी—ग्रन्थकार ने यहाँ थोड़े अन्तर के साथ आपदेव के 'मीमां-

सान्यायप्रकाश' को ही उद्धृत कर दिया है[1]। श्रुति का लक्षण 'निरपेक्षो-रवः' किया गया है जैसा कि लिंग, वाक्य आदि के विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा कि लिंग एवं वाक्यादि अंग-भाव के बोधन में सहकारी अवश्य होते हैं किन्तु स्वतंत्र अर्थात् निरपेक्ष रूप से नहीं। सबों को अपने पूर्व प्रमाणों की अपेक्षा रखते हुए अन्त में श्रुति की अपेक्षा होती है। उदाहरण के लिए 'स्थान' प्रमाण को ही लीजिए। 'स्थान' को 'प्रकरण' प्रमाण की अपेक्षा होगी, 'प्रकरण' को 'वाक्य' की, 'वाक्य' को 'लिंग' की एवं लिंग' को 'श्रुति' की अपेक्षा होगी। इस प्रकार 'वाक्य' को यहाँ अपने से पूर्व सभी प्रमाणों की अपेक्षा होती है। किन्तु 'श्रुति' को किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती है। 'श्रुति' विनियोग विधि द्वारा किये जाने वाले अंगत्वबोध में निरपेक्ष रूप से अर्थात् अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा न रखते हुये सहकारी होती है। इसीलिये 'श्रुति' को 'निरपेक्षो 'रवः' कहा गया है[2]।

यहाँ विनियोग विधि का प्रसंग चल रहा है किन्तु यहाँ जिस श्रुति के विधात्री, अभिधात्री एव विनियोक्त्री ये तीन विभाजन किये गये हैं वह विनियोगविधिपरक श्रुति के विभाग नहीं हैं। विनियोगविधिपरक श्रुति तो उन तीनों में केवल एक विनियोक्त्री श्रुति है। परन्तु श्रुति सामान्य को बिना समझे विनियोक्त्री-रूप श्रुतिविशेष को भला कै समझा जा सकता है, इसलिये 'निरपेक्षो रवः श्रुतिः' इस लक्षण वाक्य के द्वारा विधात्री अभि-धात्री एव विनियोक्त्री तीनों श्रुतियों को पहले सामान्यभाव से समझाया गया। किसी भी वस्तु को सामान्यरूपेण समझ होने के पश्चात् विशेष रूप

१—'तत्र निरपेक्षो : रवः श्रुतिः। सा च त्रिविधा विधात्री, अभिधात्री, विवियोक्त्री चेति। तत्र विधात्री लिङाद्यात्मिका। अभिधात्री व्रीह्यादिश्रुतिः। यस्य च शब्दस्य श्रवणादेव सम्बन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री।'

(मीमांसान्यायप्रकाश, पृष्ठ २७-२८)

२—'अंगत्वबोधने लिंगादिवत्प्रमाणान्तरमनपेक्षमाण इत्यर्थः'।

(सारविवेचिनी—पृष्ठ २७)

से उसके संबंध में जिज्ञासा का उदित होना संभव ही है कि श्रुति के प्रकार कितने हैं। अत: इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए 'विधात्री', अभिधात्री, विनियोक्त्री च' इस कथन के द्वारा श्रुति के तीन प्रभेदों का उल्लेख किया गया है। अनन्तर विनियोक्त्री श्रुति ही विनियोगविधि के साथ मिलने पर उस विधि के द्वारा अंगांगिभाव के स्थापन में सहाय्य करती है, इसे बतलाया गया है।

'विधात्री' श्रुति लिङाद्यात्मिका होती है। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' में 'लट्' मात्र विधात्री श्रुति है क्योंकि लिङ्' अथवा तदर्थवाची 'लट्' आदि में ही शाब्दी भावना होती है जिसके सुनने पर आर्थी भावना की उत्पत्ति होती है एवं विधि का विधान सम्पन्न होता है (विधत्ते इति विधात्री)। इसलिये 'लिङ्' आदि प्रत्यय का श्रवण 'विधात्री' श्रुति कहे जाते हैं[1]। 'अभिधात्री' श्रुति वीहि आदि का अभिधान मात्र करती है। अतएव जिस स्थल पर विधान एव विनियोग अभिप्रेत न होकर केवल पदार्थ का अभिधान–उच्चारण के द्वारा अपेक्षित वस्तु का ज्ञापन होता है वह श्रुति 'अभिधात्री' श्रुति हुई मानी जाती है।[2] जैसे—'व्रीहीनवहन्ति' यहाँ 'व्रीहीन्'-पदगत 'व्रीहि' शब्द का उच्चारण 'अभिधात्री' श्रु त है। 'अभिधात्री' का अर्थ है—'(या) अभिधया स्वार्थं प्रतिपादयति इति (सा) अभिधात्री।'

'विनियोक्त्री' श्रुति का लक्षण 'यस्य शब्दस्य श्रवणादेव संबन्ध प्रतीयते

---

१ 'यः प्रत्ययो विधायको लिङादिः स एव विधात्री श्रुतिरित्यभिधीयते इत्यर्थः'।

(सारविवेचिनी—पृष्ठ २८)

एवं

'विधात्री—विधानकर्त्री'

(कौमुदी—पृष्ठ ६९)

२ 'अभिधात्री—अभिधानकर्त्री,

(कौमुदी—पृष्ठ ६९)

सा विनियोक्त्री' है। उक्त लक्षण में 'शब्दस्य' पद श्रुति (रव) का वाचक है, इसी प्रकार 'श्रवणादेव' 'निरपेक्ष' की ओर और 'संबन्धः प्रतीयते' अंश अङ्गाङ्गिभावबोधन की ओर संकेत करता है। इस प्रकार विनियोक्त्री श्रुति में श्रुति के 'निरपेक्षो रवः श्रुतिः एवं विनियोग विधि के 'अंगप्रधानसम्बन्धबोधकोविधिर्विनियोगविधि[1] दानों लक्षणों का समावेग हो जाता है। विनियोगवधि में सहायक होने के कारग इस श्रुति को विनियोक्त्र कहते हैं।[2]

प्रसंग—अब विनियोक्त्री श्रुति के प्रभेदों का उल्लेख करके प्रथम प्रभेद के स्वरूप विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

(२५—विनियोक्त्र्याः श्रुतेस्त्रैविध्यम्, तृतीयाविभक्तिश्रुतेरुदाहरणञ्च)

स त्रवधा—विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा एकपदरूपा चेति तत्र विभक्तिश्रुत्याङ्गत्वं यथा 'व्रीहिभिर्यजेत' इति तृतीयाश्रुत्या व्रीहीणां यागांगत्वम्। तदपि पुरोडाशप्रकृतितया। यथा पशोर्हृदयादिरूपहविःप्रकृतितया यागांगत्वम्। 'अरुणया पिंगाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति' इत्यस्मिन् वाक्ये आरुण्यस्यापि तृतीयाश्रुत्या क्रयांगत्वम्। तदपि गोरूपद्रव्यपरिच्छेदद्वारा न तु साक्षात्, अमूर्तत्वात्।

अर्थ—और उस विनियोक्त्री श्रुति के भी तीन प्रभेद होते हैं—(१) विभक्तिरूपा, (२) एकाभिधानरूपा और (३) एकपदरूपा। विभक्तिश्रुति के सुनने से अंगत्व का ज्ञान होता है, जैसे 'व्रीहिभिर्यजेत' वाक्यगत 'व्रीहिभिः' पद में तृतीया विभक्ति के सुनने पर ज्ञात होता है कि व्रीहि याग का अंग है। व्रीहि पुरोडाश की प्रकृति होने से याग का अंग बनते हैं, यह

---

१. देखिये विभाग संख्या २२

२ 'विनियोक्त्री—विनियोगकर्त्री'।

(कौमुदी पृष्ठ—६९)

उसी प्रकार जैसे कि हविर्भूतहृदय आदि की प्रकृति होने से पशु याग का अंग होता है, साक्षात् नहीं। 'अरुणया पिंगाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति' यह एक विधि वाक्य है। इसका अर्थ है—'पीली आँखों वाली एक रक्तवर्ण गाय से सोम खरीदे।' इस वाक्य में 'अरुणया' पद में श्रुत तृतीया विभक्ति से 'आरुण्य क्रयण का अंग समझा जाता है, वह भी साक्षात् नहीं, अपितु गोरूप पिण्ड के ज्ञापक रूप में यह इसलिये कि 'आरुण्य' अमूर्त पदार्थ है, वह साक्षात् 'क्रयण' क्रिया का अङ्ग नहीं बन सकता।

अर्थबोधिनी—ग्रंथकार ने श्रुति के तृतीय प्रभेद–'विनियोक्त्री' के प्रभेद करके उन प्रभेदों के स्वरूप का परिचय उदाहरणों द्वारा दिया गया है, किन्तु उन्होंने श्रुति के प्रथम एव द्वितीय प्रभेदों का उल्लेख मात्र करके छोड़ दिया। इसका कारण यही है कि प्रथम एवं द्वितीय श्रुतिप्रभेद विनियोग विधि के प्रसंग में अपेक्षित नहीं है।[1] वस्तुतः विनियोग विधि के प्रसंग में 'श्रुति' पद का अर्थ विनियोक्त्री' श्रुति ही समझना चाहिये। प्रभेदकाल में 'श्रुति' पद का अर्थ व्यापक किया गया था न कि विनियोगविधिपरक।

'विभक्ति' 'एकाभिधान' एवं 'एकपद'–रूपा विनियोक्त्री श्रुति के द्वारा अंगत्व के निश्चय होने में सहायता प्राप्त होती है अतएव (विनियोक्त्री) श्रुति तीन प्रकार की बतलाई गई है-(१) विभक्तिरूपा, (२) एकाभिधान-रूपा एवं (३) एकपदरूपा।

'व्रीहिभिर्यजेत' एकवियो विग विधि है। यहाँ 'व्रीहिभिः' में प्रयुक्त तृतीया विभक्ति विनियोक्त्री श्रुति है। तृतीयाविभक्तिरूपा श्रुति द्वारा यह समझा जाता है कि 'व्रीहि' याग का अंग है। याग क्रिया को मुख्य समझकर उसके अनुष्ठान करने में 'व्रीहि' साधन रूप में विनियुक्त होता है। साधन

---

१ 'एवं श्रुतिं विभज्य विधात्र्याः अभिधात्र्याश्च साक्षाद् विनियोजकत्व-स्याभावेन ते उपेक्ष्य विनियोक्त्र्याः विनियोजकत्वमुपपादयति'।

(सारविवेचिनी–पृष्ट २८)

मुख्य की अपेक्षा गौण या अंग होता है। अतएव 'वीहि' याग का अंग हुआ। 'वीहि याग का अंग होता है' यही अर्थ 'वीहीणां यागांगत्वं' पदों से अभिहित होता है। किन्तु जैसा कि यज्ञविधानों से अवगत होता है याग में व्रीहि का विनियोग अपने प्रकृतिरूप में अर्थात् धान के रूप में नहीं होता, अपितु विकृति रूप में—पुरोडाशरूप में। धान मे चावल निकाल कर चावल को पीसकर उसके आटे से बने पके हुये पिण्ड को पुरोडाश कहते कहते हैं[1]। याग में धान (व्रीहि) का साक्षात् विनियोग न होने के कारण व्रीहि याग का साक्षात् अंग भी नहीं बनता, अपितु अपनी विकृति–पुरोडाश के माध्यम से। इस प्रकार पुरोडाश की प्रकृति होने से व्रीहि याग का अंग होता है। याग में विनियुक्त अथ च यागांगभूत किसी पदार्थ की प्रकृति होने के कारण प्रकृतिभूत पदार्थ भी याग का अंग होता है। इस मान्यता की पुष्टि एक सामान्य उदाहरण से की गई है। पशुयागों में पशु को याग-सम्पादक माना जाता है, तदनुसार पशु को याग का अंग समझा जाता है। परन्तु समूचे पशु की आहुति नहीं[2] दी जाती हैं, पशु के हृदय आदि विभिन्न अवयवों को काटकर उनकी हवि दी जानी हैं। फिर इस प्रकार 'पशु' उस

१—'यथोक्त देवतां प्रति हविष्ट्वेन प्रदेयद्रव्यरूपः पक्वः पिष्टपिण्डः पुरोडाश इत्युच्यते'।

(ऐतरेयब्राह्मण पर सायणभाष्य—१।१)

२—'यहाँ यह पर ध्यान रखने की बात है कि जिस 'पात्नीवत्' याग में मग्र जीव का ही हवन विहित है वहाँ पशु हव्य विकृति के प्रकृतिरूप में यागांग न होकर साक्षात् रूप में ही अंग बनता है, अतः ग्रंथकार का 'यथा पशोर्हृदयादिहविः प्रकृततया यागांगत्वम्' इत्यादि कथन 'पात्नीवत्' याग से अतिरिक्त याग के लिये उपन्यस्त समझना चाहिये।

(कौमुदी पृष्ठ ७०)

एवं

पात्नीवत्–यागे तु साक्षात् पशुरेवांगम्'

(मीमांसान्यायप्रकाश–पृष्ठ २९)

याग का साक्षात् अंग नहीं बनता है, अपितु हविर्भूत अपने हृदयादि अवयवों की प्रकृति होने के कारण। पुरोडाश के अंगत्व का समर्थन पशु के अंगत्व-रूप दृष्टान्त से करने का कारण यह है कि प्राचीन ग्रथों में पशु के यागांगत्व का विस्तृत विवेचन मिलता है। कालान्तर में पशु का स्थान पुरोडाश ने ले लिया और पुरोडाश के विनियोग से ही पशुविनियोग का फल मान लिया गया[1]। इस प्रकार यहाँ पूर्ववृत्त के द्वारा परवृत्त का समर्थन किया गया है।

'विभक्ति'–रूपा श्रुति के द्वारा व्रीहि आदि मूर्त पदार्थ के यागांगत्व का विवेचन करने क बाद अमूर्त पदार्थ यागांगत्व का विवेचन 'अरुणया पिंगाक्ष्या एकहायन्या गवासोमं क्रीणाति' वाक्य को उद्धृत करके किया गया है। उक्त उदाहरण में सोमक्रयण का विधान है। सोम को ऐसी गाय देकर खरीदना चाहिये (विनिमय करना चाहिए) जिसमें ये तीनों विशेषतायें हों—(१) गाय अरुण (लाल) हो (२) उसकी आँखें पिंगवर्ण (पीली) हों और (३) उसकी आयु एक वर्ष हो। यदि किसी गाय में इन तीनों विशेषताओं में से एक भी कम होगी तो उससे सोमक्रयण नहीं हो सकता, और स्वेच्छया सोमक्रयण कर लेने पर तत्प्रयुक्त अदृष्ट की उत्पत्ति न होगी।

'अरुणया' पद में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है। यहाँ तृतीया विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति से 'आरुण्य ' 'क्रयण'-क्रिया का अंग समझा जाता है, यद्यपि सोमक्रयण में साक्षात् गाय का विनियोग होता है। गाय से ही सोम खरीदा जाता है, आरुण्य से नहीं। आरुण्य गुण है, गुण में क्रिया नहीं होती[2]। क्रिया तो 'पृथिवी', 'जल', तेज', 'वायु', एवं 'मन' इन पाँच

१—'स वा एष पशुरेवालभ्यीते यत् पुरोडाशः'

(ऐतरेयब्राह्मण-६।९।पृष्ठ १०९)

२ – 'गुणादिर्निर्गुणक्रियः'

(कारिकावली–१४)

मूर्त द्रव्यों मे ही होती है[1]। गाय 'पृथिवी द्रव्य के अन्तर्गत है और सोम-क्रयण में साक्षात् विनियुक्त होने के कारण क्रयण का अंग होती है। फिर 'आरुण्य' सोमक्रयण का कैसे अंग बनता है ? क्या 'अरुणया' पद ही व्यर्थ हैं ? नहीं। 'आरुण्य' गाय का विशेषण है। हर एक गाय से सोम खरीदने से क्रयणजन्य अदृष्ट नहीं उत्पन्न हो सकता, अपितु तीन विशेषणों से परिच्छिन्न (व्यावृत्त) गाय के द्वारा ही। आरुण्य भी उनमें से एक विशेषण है जो अरुणोतर गायों का निराकरण कर देता है। इसी प्रकार पिगांक्षीत्व एव 'एकहायनीत्व' भी गोद्रव्यपरिच्छेदक होते हैं। गाय क्रयण का साक्षात् अग है किंतु आरुण्यगुणविशिष्ट गाय ही क्रयण का अंग बन सकती है, तदितर नहीं। इस प्रकार 'आरुण्य' गोव्यावर्तक रूप में (अर्थात् परंपरया) क्रयण का अंग होता है, साक्षात् नहीं। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि विभक्तिरूपा श्रुति से, आरुण्य जैसे अमूर्त पदार्थ भी क्रियांग हो जाते हैं।

प्रसङ्ग—द्वितीयाविभक्तिरूपा विनियोक्त्रीश्रुति अंगत्वबोध में विनियोग विधि की सहायिका होती है, इस विषय का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(२६—द्वितीयाविभक्तिश्रुतेरुदाहरणम्)

'व्रीहीन् प्रोक्षति' इति प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वं द्वितीयाश्रुत्या। तच्च प्रोक्षणं न व्रीहिस्वरूपार्थम्, तस्य तेन विनाप्युपपत्तेः। किन्त्वपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तम्। व्रीहीनप्रोक्ष्य यागानुष्ठानेऽपूर्वानु-

---

१—'क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च।
परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी ॥'
(कारिकावली–२६)

अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं मन इन पाँच द्रव्यों में से प्रत्येक में निम्नलिखित सभी धर्म रहते हैं :–(१) परत्व (२) अपरत्व (३) मूर्तत्व (४) क्रिया और (५) वेग।

पपत्तेः । एवं सर्वेष्वङ्गेष्वपूर्वप्रयुक्तमङ्गत्वं बोध्यम् । एवम् 'इमाम गृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते' इत्यत्र द्वितीयाश्रुत्या मन्त्रस्याश्वाभिधान्यंगत्वम् ।

अर्थ—द्वितीया विभक्ति-रूपा श्रुति से अङ्गाङ्गिभाव का बोध होता है, जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति' (अर्थात् 'व्रीहि को पानी से छिड़कता है') इस वाक्य के 'व्रिहीन्' पद में श्रुत द्वितीया विभक्ति से यह समझा जाता है कि प्रोक्षण (छिड़-कना) क्रिया व्रीहि का अङ्ग है । यह प्रोक्षण इसलिए नहीं किया जाता है कि व्रीहि को उसका अपना रूप प्राप्त कराया जाये क्योंकि प्रोक्षण के विना भी व्रीहि के स्वरूप की सिद्धि रहती है । प्रोक्षण का अनुष्ठान अपूर्व के साधन के रूप में होता है क्योंकि याग में व्रीहि का प्रोक्षण न करने पर अभिप्रेत अपूर्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती । इसी प्रकार के अन्य सभी अंग अपूर्व को उत्पन्न करने के कारण ही अंग माने जाते हैं । इसी तरह 'इमामगृन्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते' एक विधि है, जिसमें विधान है कि 'इमामगृन्णग् रशनामृतस्य' इस मंत्र को पढ़कर अश्व की गलरज्जु को पकड़े । 'इमामगृम्णन् रशनामृतस्य' का अर्थ है कि 'सत्य की इस रज्जु को पकड़ लिया उक्त विधि में 'अश्वाभिधानीम्' पद में श्रुत द्वितीया विभक्ति से यह समझा जाता है कि 'इमामगृम्णन् रशनामृतस्य' यह मंत्र 'अश्वरज्जु के ग्रहण' का अंग है ।

अर्थबोधिनी—इसके पूर्व तृतीयाविभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति के स्वरूप का निरूपण किया जा चुका है । ग्रन्थकार अब यहां द्वितीयाविभक्ति-रूपा विनियोक्त्री श्रुति के स्वरूप पर प्रकाश डाल रहे है । व्रीहीन् प्रोक्षति' यह एक विनियोग विधि है । व्रीहान् प्रोक्षति' का अर्थ है । व्रीहि (धान) को (जल से) छिड़कता है (अर्थात् छिड़के) । यहां 'व्रीहीन्' पद द्वितीया-विभक्त्यन्त है, अतएव 'व्रीहि कर्मकारक होने से साध्य हुआ और इसलिये 'प्रोक्षति' क्रियापदबोध्य—प्रोक्षण (छिड़कना) उसका साधन हुआ । अभिप्राय यह है कि 'व्रीहि' साध्य होने से प्रधान अर्थात् अंगी है और उसका

साधनभूत 'प्रोक्षण' व्रीहि का अंग हुआ सारांश यह है कि द्वितीया विभक्ति से 'प्रोक्षण' व्रीहि का अंग सिद्ध होता है। यही अर्थ 'प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वं द्वितीया श्रुत्या' इन शब्दों का हैं।

प्रोक्षण व्रीहि का अङ्ग है सही, किन्तु प्रश्न यह है कि प्रोक्षण का प्रयोजन है क्या ? क्या प्रोक्षण से व्रीहि अपने स्वरूप को प्राप्त करता है ? उत्तर मिलेगा नहीं (प्रोक्षणं न व्रीहिस्वरूपार्थम्) क्योंकि विना प्रोक्षण किये भी व्रीहि व्रीहि ही रहते हैं (तस्य व्रीहिस्वरूपस्य तेन प्रोक्षणेन विना अपि उपपत्तेः सिद्‌त्वात्)। पुनश्च प्रोक्षण के द्वारा व्रीहि के स्वरूप में कोई विशेषता भी आती नहीं देखी जाती। अतएव प्रोक्षणक्रिया का कोई ऐसा प्रयोजन नहीं जो इष्ट हो—जिसे प्रत्यक्षतः देखा जा सके। फिर प्रोक्षण का क्या प्रयोजन है ? ग्रन्थकार का उत्तर है कि उससे अपूर्व या अदृष्ट की उत्पत्ति होती है। अतएव प्रोक्षण अपूर्व के साधनार्थ व्रीहि का अङ्ग होता है (किन्तु तच्च अपूर्वसाधनत्व-प्रयुक्तम्[१])। यदि व्रीहि का प्रोक्षण न किया जायेगा तो अपूर्व की उत्पत्ति न हो सकेगी (व्रीहीनप्रोक्ष्य यागानुष्ठानेऽपूर्वानुपपत्तिः) और बिना अपूर्व की उत्पत्ति हुये याग के फल की प्राप्ति भी नहीं होगी। यही स्थिति अन्य अपूर्व-प्रयोजक अङ्गों के विषय में समझना चाहिए। आज्यमवेक्षते' विधि में आज्याङ्गभूत अवेक्षण क्रिया भी अपूर्वफलक है, क्योंकि यहाँ आज्यावेक्षण (घृतदर्शन) का कोई दृष्ट फल नहीं है।

१—'तञ्च प्रोक्षणं न व्रीहिस्वरूपार्थं.................................किन्त्वपूर्व-साधनत्वप्रयुक्तम्।' वाक्य का अन्वय इस प्रकार होगा—

'प्रोक्षणं न व्रीहिस्वरूपार्थम्, तस्य तेन विनाप्युपपत्तेः, किन्तु तच्चापूर्व-साधनत्वप्रयुक्तम्।' यहाँ 'तच्च' से 'प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वम्' गृहीत होता है और 'अपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तम्' से अन्वित होता है। देखिये—

'तच्चेति। प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वम् चेत्यर्थः। तच्चेत्यस्यापूर्वसाधनत्व-प्रयुक्तमित्यनेनान्वयः

(कौमुदी—पृष्ठ ७२)

ध्यान रहे कि 'प्रोक्षण' एवं 'अक्षवेण' आदि अङ्गभूत क्रियायें जिन्हें अदृष्टार्थक कहा जाता है उन्हें केवल अदृष्टार्थक समझना चाहिये, क्योंकि उनका विनियोग अपूर्व की उत्पत्ति के लिये होता है। किन्तु 'अवघात' आदि अङ्गभूत क्रियायें जिन्हें दृष्टार्थक कहा गया है[1] दृष्टार्थक होने के साथ ही साथ अदृष्टार्थक भी होती है; ऐसा न मानने पर प्रासङ्गिक वितुषीकरण-रूप दृष्ट प्रयोजन नखविदलन आदि अन्य क्रियाओं से भी सम्पन्न हो सकता। किन्तु उस स्थल पर नियम विधि द्वारा केवल वही क्रिया करने का विधान किया जाता है[2], अन्यथा क्रियाजन्य अपूर्व की उत्पत्ति नहीं मानी जा पायेगी जो कि मानी जाती है एवं 'नियमापूर्व' शब्द द्वारा कथित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'व्रीहीनवहन्ति' इस विधि स्थल में 'अवघात' केवल तुषविमोचन (भूसी हटाने –मात्र के लिये होता तो भूसी अवघात द्वारा न हटाकर नखविदलन द्वारा भी हटाई जा सकती थी। किन्तु नाखून द्वारा धान की भूसी को हटाने से अपेक्षित अपूर्व की प्राप्ति न हो सकेगी, इसीलिये दृष्टार्थक क्रियायें दृष्टार्थक होते हुये भी अपूर्वार्थक (अदृष्टार्थक) भी होती हैं।[3]

'आरुण्य' गुण है और क्रयण क्रिया है। गुण और क्रिया दोनों अमूर्त हैं। दो प्रकार के अमूर्तों के अङ्गत्व पर विचार करने के पश्चात् एक अन्य अमूर्त पदार्थ—मन्त्र के अङ्गत्व पर विचार किया गया है। 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते' यहाँ 'अश्वाभिधानीम्' पद में द्वितीया विभक्ति है, अतएव द्वितीयाविभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति से 'इमामगृभ्णन्

१—'तत्र दृष्टार्थमवधातादि' (विभाग संख्या–४८)

२—देखिये नियमविधिप्रकरण (विभाग संख्या–६२)

३—'यत्र दृष्टार्थता न संभवति, तादृशाङ्गेषु केवलापूर्वप्रयुक्तत्वम्, यत्र तु दृष्टार्थता, तत्र नियमापूर्वप्रयुक्तत्वमित्यर्थः'

(सारविवेचनी–पृष्ठ ३०)

रशनामृतस्य' यह मंत्र अश्वाभिधानी (घोड़े के गले में बंधी हुई रस्सी[1]) के ग्रहण का अङ्ग होता है। 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' यह मंत्र तैत्तिरीय-संहिता (५।१।२।१) में प्राप्त होता है एवं इसका उल्लेख करके 'अश्वाभि-धानीम् आदत्ते' इस प्रकार विनियोग शतपथब्राह्मण (१३।१८।१) में मिलता है। महानिचयन प्रकरण में मिट्टी की यज्ञवेदी बनाने के लिये अध्वर्यु[2] एक अश्व एवं एक गर्दभ से अरण्य जाकर मिट्टी लाये, ऐसा विधान है। अध्वर्यु अश्वरशना को पकड़ते समय 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' मंत्र को पढ़े, ऐसा विधान है। द्वितीया विभक्तिरूपा श्रुति से मंत्र अङ्ग बनता है। और 'अश्वाभिधानी का ग्रहण' अङ्गी। इस प्रकार अमूर्त मन्त्र भी द्वितीयाविभक्ति द्वारा अश्वाभिधानी के ग्रहण का अङ्ग हुआ समझा जाता है। मन्त्रोच्चारण अदृष्टार्थक है, क्योंकि इसका कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं, अन्यथा मंत्रोच्चारण के बिना भी अश्वरशना का ग्रहण किया जा सकता था।

प्रसङ्ग—सप्तमी विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति से अङ्गत्व समझा जाता है, तथा इसी प्रकार अन्य अनुल्लिखित विभक्तियों से भी अङ्गत्व बोध होता है, इसी विषय का उल्लेख किया जा रहा है—

(२७—सप्तमीविभक्तिश्रुतेरुदाहरणम्)

'यदाहवनीये जुहोति' इत्याहवनीयस्य होमांगत्वं सप्तमीश्रुत्या। एवमन्योऽपि विभक्तिश्रुत्या विनियोगो ज्ञेयः।

अर्थ—'यदाहवनीये जुहोति' (अर्थ-आहवनीय अग्नि में हवन करे') इस वाक्य के 'आहवनीये' पद में श्रुत सप्तमीविभक्तिरूपा श्रुति से यह बोध

१—'तत्राश्वगले बद्ध्वा रज्जुरश्वाभिधानी'

(सारविवेचिनी–पृष्ठ ३०)

२—चार ऋत्विकों में से एक। होता, उद्गाता अध्वर्यु एवं ब्रह्मा ये चार ऋत्विक् हैं। अध्वर्यु यजुर्वेद का ऋत्विक् है।

होता है कि 'आहवनीय' अग्नि 'याग' का अङ्ग है। इसी प्रकार विभक्ति-श्रुति मे अन्य विनियोग भी समझे जानें चाहिये।

अर्थबोधिनी—'यदाहवनीये जुहोति' विनियोग विधि है। 'होम' क्रिया है, वह आहवनीयनामक अग्नि में सम्पन्न होती है, अतएव अधिकरण होने के कारण 'आहवनीये' में सप्तमीविभक्ति का प्रयोग किया गया है। यहाँ सप्तमी-विभक्तिबोध्य अधिकरण (आधार)–'आहवनीय' गुण हुआ और आधेय–'होम' प्रधान।

विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति के जो उदाहरण अभी तक दिये जा चुके हैं[1] वे तृतीया, द्वितीया एवं सप्तमी विभक्तिरूप हैं। चतुर्थी पञ्चमी एवं षष्ठी विभक्ति के उदाहरण मूल ग्रंथ में नहीं दिये गये है, अतएव मूल में, अनुल्लिखित ये विभक्तियाँ भी जहाँ विनियोग विधि के प्रसङ्ग में प्रयुक्त होती हैं विनियोग विधि द्वारा अङ्गत्व बोध में सहायिका होती हैं। जैसे 'मैत्राव-रुणाय दण्डं प्रयच्छति' यहाँ चतुर्थी विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति से 'मैत्रावरुण' नामक पुरोहित 'दण्ड प्रदान' क्रिया का अङ्ग समझा जाता है। 'अग्नेः तृणान्यपचिनोति'' में प्रयुक्त पञ्चमीविभक्तिरूपाश्रुति से 'अग्नि' 'तृणा-पचयन' (तिनके हटाने) क्रिया का अंग समझा जाता है। 'यजमानस्य याज्या' में प्रयुक्त षष्ठी विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति से यह बोध होता है कि यजमान 'याज्या' का अंग है[2]। उक्त विवरण से यह भी सिद्ध होता

१—यहाँ यह ज्ञातव्य है कि विभक्ति में से चूंकि द्वितीया और सप्तमी दोनों आदि एवं अन्तभूत विभक्ति श्रुति के द्वारा विनियोग बताया गया है, इससे प्रतीत यह होता है कि अनुक्त चतुर्थी पञ्चमी एवं षष्टी विभक्तिश्रुति से भी विनियोग होता है अर्थात् अंगांगिभाव समझा जाता है। उन विभक्तिश्रुति से होने वाले विनियोग के उदाहरण आगे दिये जा रहे हैं।

२—सर्वेभ्यः कामेभ्यो दशपूर्णमासौ, मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति अग्ने तृणान्यपचिनोति, गोदोहनेत पशुकामस्य, प्रणयेत्, यजमानस्य याज्या इत्यादौ चतुर्थीपञ्चमीषष्ठीविभक्तिभिः विनियोगो बोध्य इत्यर्थः'

(सारविवेचनी—पृष्ठ ३१)

है कि प्रकृत स्थल में द्वितीयाविभक्त्यन्त पदार्थ अंगी होता है किन्तु अन्य विभक्त्यन्त पदार्थ अंग होते हैं।

इस प्रकार विनियोक्त्री श्रुति के प्रथम प्रभेद विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति का प्रभेद सहित विवेचन समाप्त हुआ।

प्रसङ्ग—विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति के विवेचन होने के पश्चात् अब विनियोक्त्री श्रुति के द्वितीय प्रभेद—'एकाभिधानरूपा विनियोक्त्री श्रुति' एवं तृतीय प्रभेद 'एकपदरूपा विनियोक्त्री श्रुति' का विवेचन किया जा रहा है—

(२८ – एकपदैकाभिधानश्रुत्योरुदाहरणम्)

'पशुना यजेत' इत्यत्रैकत्वपुंस्त्वयोः समानाभिधानश्रुत्या कारकाङ्गत्वम्। 'यजेत' इत्याख्याताभिहितसंख्याया भावनांगत्वं समानाभिधानश्रुतेरेव। एकपदश्रुत्या च यागांगत्वम्।

अर्थ—'पशुना यजेत' इस विधि में श्रुत 'टा' प्रत्ययरूप समानाभिधान-श्रुति से यह ज्ञात होता है कि 'एकत्व' संख्या एवं 'पुंस्त्व' ये दोनों करण कारक (पशु) के अंग हैं। इसी प्रकार 'यजेत' पद में श्रुत 'त' प्रत्यय-रूप समानाभिधान श्रुति से यह बोध होता है कि आख्यातबोध्य संख्या (एकत्व) उसी 'त' प्रत्यय से बोध्य भावना का अंग है और 'यजेत'—रूप एक पद श्रुति से यह बोध होता है कि संख्या (एकत्व) याग का अंग है।

अर्थबोधिनी—ग्रन्थकार ने विनियोक्त्री श्रुति के विभक्तिरूपा, एकाभि-धानरूपा एवं एकपदरूपा तीन प्रभेदों का उल्लेख (विभाग संख्या २५ में) किया था, जिनमें से विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति का विवेचन इससे पूर्व किया जा चुका है। यहाँ 'एकाभिधान-रूपा' एवं 'एकपदरूपा' प्रभेद के स्वरूप पर विचार किया जा रहा है। ग्रन्थकार ने यहाँ पर 'एकाभिधान' शब्द का प्रयोग न करके इसके स्थान पर 'समानाभिधान' पद का प्रयोग किया है। यद्यपि इन दोनों शब्दों के अर्थों में कोई अन्तर नहीं है किन्तु संज्ञा में परिवर्तन कर देना उचित नहीं प्रतीत होता है। हमारे ग्रन्थकार 'मीमांसा-

न्यायप्रकाश' से प्राय: वाक्य के वाक्य कुछ परिवर्तन के साथ उद्धृत कर देते हैं किन्तु कहीं-कहीं वे मूलवाक्य को ज्यों का त्यों रख देते हैं। इसलिये उक्त संज्ञास्खलन हो गया है। विनियोक्त्री श्रुति का प्रभेद करते हुये 'मीमांसान्यायप्रकाश' के ये शब्द हैं—'सा च त्रिधा विभक्तिरूपा, समानाभिधानरूपा, एकपदरूपा चेति' एवं विवेचन करते समय उन्होंने इस प्रकार लिखा है—'पशुना यजेतेत्यत्रैकत्वपुंस्त्वयोः समानाभिधानश्रुत्या कारकांगत्वम्। यजेतेत्याख्याताभिहितसंख्याया भावनांगत्वं समानाभिधानश्रुतेः। एकपदश्रुत्या च यागांगत्वम्।' किन्तु लौगाक्षिभास्कर ने विनियोक्त्री के प्रभेदों का उल्लेख करते समय 'समानाभिधान' शब्द का प्रयोग न करके 'एकाभिधान' शब्द का प्रयोग किया है—'सापि त्रिविधा–विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा एकपदरूपा चेति।' किन्तु इन प्रभेदों का विवेचन करते समय उन्होंने उक्त स्वकृतपरिवर्तन को भूलकर 'मीमांसान्यायप्रकाश' के वाक्यों को शब्दशः (एक एवकार को छोड़कर) उद्धृत कर दिया है। इसीलिये उक्त स्खलन हो गया है—"पशुना यजेत' इत्यत्रैकत्वपुंस्त्वयोः समानाभिधानश्रुत्या कारकांगत्वम्। 'यजेत' इत्याख्याताभिहितसंख्याया भावनांगत्वं समानाभिधानश्रुतेरेव। एकपदश्रुत्या च यागांगत्वम्।'

'पशुना यजेत' यह एक विधिवाक्य है। इसमें दो पद हैं–एक 'पशुना' और दूसरा 'यजेत'। 'पशुना' में 'टा' (ना) प्रत्यय है और 'यजेत' में 'त' प्रत्यय। यहाँ 'टा' एवं 'त' प्रत्ययों को 'समानाभिधान' (एकाभिधान)–रूपा विनियोक्त्री श्रुति का उदाहरण एवं 'यजेत' पद को 'एकपदरूपा' विनियोक्त्री श्रुति की दृष्टि से विचार नहीं किया गया है। 'टा' प्रत्यय के वाच्य कारक (करण), एकत्व (संख्या) एवं पुंस्त्व (लिंग) हैं, अतएव इन तीनों के एक (समान) प्रत्यय (टा) से ही अभिहित अर्थात् कथित होने के कारण (टा) प्रत्यय को एकाभिधान या समानाभिधान कहते हैं। इन तीनों में से करण मुख्य है क्योंकि कारक का ही साक्षात् क्रिया से अन्वय होता है, संख्या आदि का नहीं। 'संख्या' आदि 'कारक' की अपेक्षा गौण होती है

अतएव एकत्व संख्या एवं पुंस्त्व लिंग कारक का अंग होते हैं। यद्यपि लिङ्ग एवं संख्या प्रातिपदिक के अर्थभूत पशु में वर्तमान रहने के कारण उनके अंग कहे जाने चाहिये क्योंकि 'पशुना यजेत' का यही अर्थ होता है कि 'एक नर पशु से याग करना चाहिये'। इस प्रकार संख्या आदि प्रातिपदिकार्थ से ही साक्षात् सम्बद्ध रहते हैं[1]। किन्तु करण एवं संख्या आदि एकप्रत्यय-गम्य होते हैं अतएव करण की उपस्थिति मन में शीघ्र होती है और प्रत्ययार्थ प्रधान होता है इसलिये संख्या एवं लिङ्ग का अन्वय कारक से ही हुआ माना गया है[2]।

'यजेत' पद में 'त' प्रत्यय है। इसी 'एक' प्रत्यय से एकत्व संख्या एवं भावना (आर्थी) दोनों अर्थों का अभिधान होता है (देखिये विभाग-संख्या ९)। अतएव 'त' प्रत्यय एकाभिधान अर्थात् समानाभिधान है, इसीलिये 'त' प्रत्यय के वाच्य संख्या एवं भावना (आर्थी) में अंगांगिभाव संबंध है। यहाँ संख्या अंग है एवं भावना अंगी। 'भावना' पद से आर्थी भावना ली जानी चाहिए क्योंकि शाब्दीभावना का साध्य होने के कारण शाब्दीभावना की अपेक्षा आर्थीभावना ही मुख्य है। ध्यान रहे यहाँ एकाभिधान अर्थात् समानाभिधान का अर्थ एक प्रत्ययाभिधान अर्थात् समानप्रत्ययाभिधान समझना चाहिये।

'एकपदरूपा' विनियोक्त्री श्रुति का उदाहरण 'यजेत' यह तिङन्त पद है जिससे पूर्ववत् संख्या भी अभिहित होती है और धात्वर्थ याग भी। स्वर्गसाधन-भूत याग सर्वापेक्षया मुख्य होने के कारण अंगी होता है एवं संख्या तदपेक्षया

१—'एवं च पुमानेक एव पशुरालब्धव्य इति सिद्धम्'

(सारविवेचिनी–पृष्ठ ३१)

२—'यद्यपि लिङ्गसंख्ययोः प्रातिपादिकार्थनिष्ठत्वेन तदङ्गत्वमेव वक्तुं युक्तम्, तथापि करणत्वस्य एकप्रत्ययगम्यत्वेन शीघ्रमुपस्थितत्वात् प्रत्ययार्थ-त्वेन प्राधान्याच्च पूर्वं तत्रैवान्वयः।'

(सारविवेचिनी–पृष्ठ–३१)

गौण होती है। अतएव 'यजेत' इस एकपदरूपा विनियोक्त्री श्रुति से संख्या याग का अंग समझी जाती है।

प्रसंग—अमूर्त होने पर भी संख्या भावना का अंग हो सकती है, इस विषय का उल्लेख किया जा रहा है—

(२९—अमूर्तपदार्थस्यापि भाविनाङ्गत्वम्)

न चामूर्तायास्तस्याः कथं भावनांगत्वमिति वाच्यम्। कर्तृ-परिच्छेदद्वारा तदुपपत्तेः। कर्ता चाक्षेपलभ्यः। आख्यातेन हि भावनोच्यते। सा च कर्तारं विनानुपपन्नेति तमाक्षिपति।

अर्थ—यह भी कहना उचित नहीं है कि 'वह अमूर्त संख्या भावना का अङ्ग कैसे हो सकती है'। यह इसलिये कि कर्ता के व्यावर्तक होने के कारण संख्या भावना का अंग होती है। यद्यपि यहाँ कर्ता का वाचक कोई पद नहीं है, फिर भी कर्ता का आक्षेप होता है। कर्ता का आक्षेप अर्थापत्ति प्रमाण से इस प्रकार होता है—आख्यात का वाच्य भावना होती है, भावना कर्ता के विना सम्पन्न नहीं होती है, इसलिये भावना के द्वारा कर्ता का आक्षेप ।

अर्थबोधिनी—विभाग संख्या २८ में यह बतलाया गया है कि भावना संख्या का अंग होती है, किन्तु संख्या अमूर्त हैं, वह भावना का अग कैसे हो सकती है? यह प्रश्न है। ऐसा ही प्रश्न इसके पूर्व विभाग संख्या २५ के अन्तर्गत हो चुका है तथा उसका उत्तर भी वहीं दे दिया गया है। प्रश्न यह था कि 'आरुण्य' गुण होने के कारण अमूर्त है, वह 'क्रयण' क्रिया का अंग कैसे हो सकता है। आरुण्य के अङ्गत्व की सिद्धि में जो समाधान वहां मिलता है प्रायः वही समाधान यहाँ भी है। वहाँ आरुण्य 'गोद्रव्यपरिच्छेदद्वारा' क्रिया का अंग बनता है और यहाँ संख्या 'कर्तृपरिच्छेदद्वारा' भावना का अङ्ग बनती है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि 'संख्या' 'कर्तृपरिच्छेदद्वारा' भावना

का अंग कैसे बनती है ? जैसा कि पूर्व विवेचन हो चुका है आख्यात–'त' प्रत्यय के संख्या एवं भावना दोनों अर्थ होते हैं। भावना सर्वापेक्षया मुख्य होती है। किन्तु कोई भी भावना भावक-कर्त्ता के बिना सम्पन्न नहीं हो सकती. अतएव भावना की सिद्धि के लिये भावक-कर्ता का होना अनिवार्य है इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण से कर्ता के आक्षेप (सिद्धि) हो जाने पर भी कर्त्ता एक होगा दो होंगे या अनेक ? यह प्रश्न उपस्थित होगा। तब यजेत' पद के 'त' प्रत्ययगत एकत्व संख्या कर्त्ता का परिच्छेद-व्यावर्तन करती है कि कर्त्ता एक होगा। इस प्रकार 'एकत्व' संख्या कर्ता को परिच्छिन्न करती है ओर कर्ता भावना का भावक होता है। इस प्रकार एकत्व सख्या कर्ता के परिच्छेदक के माध्यम से भावना का अंग होती है। इसी लिये 'यजेत' पद का अर्थ यही समझा जाता है कि (एक व्यक्ति) याग करे। यद्यपि 'यजेत' पद के साथ 'एकजनः' पद का प्रयोग नहीं हुआ है फिर भी 'त' प्रत्यय से ही कर्तृगत एकत्व सख्या का बोध हो जाता है। यह संख्या पूर्वोक्त प्रकार से 'त'–प्रत्ययबोध्य भावना का अंग होती है। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि 'व्रीहि' आदि की भाँति सख्या' मूर्त नहीं है जो क्रिया में विनियुक्त हो सके, तथापि अमूर्त होते हुये भी संख्या कर्ता का व्यावर्तन करने के कारण भावना का अंग होती है। यह सही है कि मीमांसक आख्यात (यथा 'त' प्रत्यय) का अर्थ कर्ता न मानकर भावना मानता है किन्तु भावना के सम्पन्न होने के लिये कर्ता का होना आवश्यक होता है। इस प्रकार आख्यात का वाच्य न होने पर भी कर्ता आक्षिप्त हो जाता है।

प्रसंग—'श्रुति' प्रमाण 'लिंग' प्रमाण से प्रबल होता है, इस विषय का विवेचन करते हैं—

(३० – श्रुतिर्लिङ्गादिभ्यःप्रबला)

सेयं श्रुतिर्लिङ्गादिभ्यः प्रबला। लिङ्गादिषु न प्रत्यक्षो विनि-योजकः शब्दोऽस्ति किन्तु कल्प्यः । यावच्च तैर्विनियोजकशब्दः

कल्प्यते तावत् प्रत्यक्षश्रुत्या विनियोगस्य कृतत्वेन तेषां कल्पकत्व-शक्तेर्व्याहतत्वात् । अत एवैन्द्रचा लिङ्गान्नेन्द्रोपस्थानार्थत्वम्, किन्तु 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इत्यत्र गार्हपत्यमिति द्वितीया-श्रुत्या गार्हपत्योपस्थानार्थत्वम् ।

अर्थ—पूर्वोक्त श्रुति लिंग वाक्य आदि प्रमाणों से अधिक बलवती होती है। इसका कारण यह है कि लिंग आदि स्थल में अंगांगिभावबोधक श्रुति का साक्षात् श्रवण नहीं रहता है, अपितु उसकी कल्पना करनी पड़ती है। उन लिंग आदि प्रमाणों से जब तक प्रत्यक्षविनियोजक शब्द अर्थात् श्रुति की कल्पना की की जाये तब तक प्रत्यक्ष श्रुति से विनियोग के हो जाने के कारण उन लिंगादि प्रमाणों की श्रुतिकल्पनाविषयक शक्ति खण्डित हो जाती है। इसीलिये लिंग प्रमाण से 'कदा चनस्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे' यह ऐन्द्री ऋचा इन्द्रपूजन का अंग नहीं होती है, किन्तु 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस वाक्य में श्रुत 'गार्हपत्यम्' इस द्वितीया श्रुति से ऐन्द्री ऋचा 'गार्हपत्य' नामक अग्नि के पूजन का अंग समझी जाती है।

अर्थबोधिनी—कुछ विनियोग स्थल ऐसे होते हैं जहाँ श्रुति आदि अनेक प्रमाण इक्ट्ठे होकर विनियोग का बोध कराने लगते हैं, जैसे यदि श्रुति द्वारा पदार्थविशेष किसी एक का अंग होता हुआ ज्ञात होता है तो लिंग द्वारा वही पदार्थविशेष दूसरे का अंग होता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु कोई पदार्थ एक काल में एकाधिक पदार्थों का पृथक्-पृथक् अंग नहीं हो सकता अपितु 'एक पदार्थ' का ही अंग हो सकता है। उसी अंगीभूत 'एक पदार्थ' का निश्चय श्रुति आदि प्रमाणों के परस्पर बलाबल से होता है। श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान एवं समाख्या इन ६ प्रमाणों में से प्रत्येक प्रमाण अपने परवर्ती प्रमाण से अपेक्षाकृत अधिक बलवान् और पूर्ववर्ती प्रमाणों से अपेक्षाकृत अधिक दुर्बल है। श्रुति प्रथम प्रमाण है। वह अपने परवर्ती 'लिंग' प्रमाण से अधिक बलवान् है। लिंग वाक्य से बल-वान् किन्तु श्रुति से दुर्बल है। इसी प्रकार अन्य प्रमाणों के विषय में समझना

चाहिये। अन्तिम प्रमाण–समाख्या सर्वापेक्षया दुर्बल है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि श्रुति लिंग एव तत्परवर्ती सभी प्रमाणों से बलवान् है, इसी लिए ग्रन्थकार ने श्रुति को 'लिंगादिभ्यः प्रबला' कहा है।

श्रुति आदि ६ प्रमाणों में से प्रत्येक प्रमाण अपने परवर्ती प्रमाण की अपेक्षा अंगांगिभाव का बोध शीघ्र करा देता है। जो प्रमाण जितना अधिक परवर्ती होता है वह अंगांगिभाव के बोध कराने में उतनी ही अधिक दूर (विप्रकृष्ट) रहता है, अतएव अंगांगिभावबोधरूप प्रयोजन (अर्थ) से दूर होने के कारण परवर्ती प्रमाण अपने पूर्ववर्ती प्रमाण से अपेक्षाकृत दुर्बल होता है[1]।

लिंग की परिभाषा अग्रिम विभाग में की गई है, जिसके अनुसार लिंग का अर्थ 'शब्दसामर्थ्य' होता है। 'शब्दसामर्थ्य' से अभिप्राय शब्द की अभिधेय अर्थ के बोध कराने में क्षम रूढ्यात्मक शक्ति' से है।

लिंग के स्वरूप एवं श्रुति से उसकी दुर्बलता का स्पष्ट ज्ञान ग्रन्थोक्त उदाहरण पर विचार करने से हो जाता है। 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे' इत्यादि मत्र ऋग्वेद (८।५१।७) में मिलता है। इस ऋचा में 'इन्द्र' पद का प्रयोग हुआ है, इसीलिये इस ऋचा को 'ऐन्द्री' कहते हैं। प्रश्न यह है कि इस ऋचा का विनियोग कहाँ होना चाहिये ? इस ऋचा में 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग हुआ है तो क्या यह मन्त्र इन्द्रपूजन ('इन्द्रोपस्थान') का अंग है ? अथवा 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' (मैत्रायणी संहिता–१।५।११) वाक्य के 'गार्हपत्यम्' पदगत द्वितीया विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति से गार्हपत्यपूजन[2] (गार्हपत्योपस्थान) का अंग है ? इस प्रकार 'कदाचन स्तरीरसि······' आदि एक ही ऋचा एक ही काल में लिंग प्रमाण से इन्द्रपूजन एवं 'श्रुति'

१—'श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जैमिनिसूत्र–३।३।१४)

२—'गार्हपत्य' एक प्रकार की अग्नि होती है। अग्नियाँ तीन प्रकार की होती हैं—(१) गार्हपत्य (२) दक्षिण एवं (३) आहवनीय।

प्रमाण से गार्हपत्यपूजन का अंग हो रही है जो कि सम्भव नहीं है, अतः यह निर्णय करना आवश्यक है कि 'श्रुति' एवं 'लिंग' इन दोनों में कौन अधिक बलवान् है जिसकी बलवत्ता के आधार पर उक्त मंत्र को इन्द्रस्तुति अथवा गार्हपत्यस्तुति किसी एक का ही अंग माना जा सके, यह जिज्ञासा होने पर निर्णय यह होता है कि 'श्रुति' यतः लिंग' से भी प्रबल है क्योंकि वह लिंगापेक्षया शीघ्र गार्हपत्यस्तुति के प्रति मन्त्र की अंगता सिद्ध करती है अतः मन्त्र गार्हपत्यस्तुति का ही अङ्ग सिद्ध हो जाता हैं। इस विषय को इस प्रकार समझना चाहिये कि लिङ्ग से विनियोग के बोध होने में अधिक समय लगेगा, वह इस प्रकार है—लिङ्ग से विनियोग-बोध होने में ४ व्यापारों की आवश्यकता होती है —

(१) **स्वाभिधेयार्थप्रतिपादन**—सर्वप्रथम 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे' इस मन्त्र के पदों का अभिधेय अर्थ ज्ञात होता है।

(२) **वस्तुप्रकाशनसामर्थ्यनिरूपण**—मंत्रार्थबोध के पश्चात् 'इन्द्र' शब्द की शक्ति से ज्ञात होता है कि यह मंत्र इन्द्रपरक है।

(३) **अंगांगिबोधकश्रुतिकल्पना**—'मन्त्र इन्द्रपरक है' ऐसा बोध होने के पश्चात् 'इस मंत्र से इन्द्र का उपस्थापन करता है' ('अनेन मंत्रेण इन्द्रमुपतिष्ठते') इस प्रकार की श्रुति की कल्पना करनी पड़ेगी।

(४) **विनियोग**—उक्त श्रुति की कल्पना हो जाने के पश्चात् ऐन्द्रमंत्रेण इन्द्रमुपतिष्ठेत[1] (अर्थात् 'ऐन्द्र मंत्र से इन्द्र की पूजा करे') इस प्रकार विनि-

---

१—'तत्र प्रथमं मन्त्रपदानि स्वाभिधेयार्थं प्रतिपादयन्ति, तत ऊर्ध्वं मन्त्रस्य वस्तुप्रकाशनसामर्थ्यं निरूप्यते। तत ऊर्ध्वञ्च तत्सामर्थ्यवशात् साधनत्ववाचिनी प्रधानत्ववाचिनी च श्रुतिः कल्प्यते। कल्पिता च श्रुतिः पश्चादैन्द्रमन्त्रेणेन्द्रमुपतिष्ठेतेति विनियुङ्क्ते इति मन्त्रपदाभिधेयप्रतिपादनविनियोगयोर्मध्यवर्तिनौ सामर्थ्यनिरूपणश्रुतिकल्पनव्यापारौ भवतः।'

(कौमुदी—पृष्ट ८१)

योग होता है जिसका अभिप्राय यह होता है कि 'ऐन्द्र मन्त्र इन्द्रोपस्थापन का अङ्ग है' ('ऐन्द्रमन्त्रस्य इन्द्रोपस्थानाङ्गत्वम्') इस प्रकार 'स्वार्थाभिधेयप्रतिपादन' एव 'विनियोग' के बीच वस्तुप्रकाशनसामर्थ्यनिरूपण' एवं 'अङ्गाङ्गिबोधकश्रुतिकल्पना' इन दो व्यापारों का व्यवधान होता है।

किन्तु श्रुति के द्वारा विनियोग होने में केवल दो व्यापारों की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिये 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' यहाँ 'गार्हपत्यम्' पद में श्रुति है ही, उसकी कल्पना करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, अतएव विनियोग के लिये दो व्यापारों की आवश्यकता होती है— (१) स्वाभिधेयार्थप्रतिपादन अर्थात् 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस मंत्र के पदों के अभिधेय अर्थ का ज्ञान। अभिप्राय यह है कि ऐन्द्री ऋचा के अर्थ सहित 'गार्हपत्यमुपतिष्ठते' पदों का ज्ञान आवश्यक है। (२) विनियोग।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'लिङ्ग' द्वारा विनियोग होने पर ४ व्यापारों की आवश्यकता होती है जब कि श्रुति द्वारा विनियोग होने पर केवल २ व्यापारों की। अभिप्राय यह है कि श्रुति के द्वारा विनियोग होने के स्थल में मन्त्रबोध के पश्चात् तुरन्त अङ्गाङ्गिभाव का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दो व्यापारों में ही श्रुति के द्वारा विनियोग हो सकता है जब कि लिंग द्वारा दो व्यापारों में वस्तु प्रकाशनसामर्थ्यनिरूपण ही हो पाता है, अतएव श्रुतिविनियोगपक्ष में श्रुतिद्वारा विनियोग हो चुकने के कारण लिंगविनियोगपक्ष में लिंग द्वारा श्रुति की कल्पना करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता, अतएव लिंग की श्रुतिकल्पनाविषयक शक्ति खण्डित हो जाती है।

इसीलिए श्रुति लिंग से प्रबल मानी जाती है, और तदनुसार 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे' यह मंत्र श्रुति प्रमाण से गार्हपत्योपस्थान का अंग होता है न कि लिंग से इन्द्रोपस्थान का।

ग्रन्थ के अन्य स्थलों में 'व्रीहीणां यागांगत्वम्' (विभाग संख्या–२५), 'आरुण्यस्यापि तृतीयाश्रुत्या क्रयाँगत्वम्' (विभाग संख्या–२५), 'प्रोक्षणस्य

व्रीह्यङ्गत्वम्' (विभाग संख्या—२६), 'मन्त्रस्याश्वाभिधान्यंगत्वेम्' (विभाग-संख्या—२६) आदि पदों में 'अंगत्वम्' पद का प्रयोग किया गया है किन्तु प्रकृत स्थल में 'अत एवैन्द्रया लिंगान्नेन्द्रोपस्थानार्थत्वम्' एवं 'गार्हपत्योपस्थानार्थत्वम्' में 'अर्थत्वम्' पद का प्रयोग मिलता है। वस्तुतः 'अंगत्व' एवं 'अर्थत्व' पर्यायवाची शब्द हैं। प्रकृत 'अर्थत्व' को परार्थत्व' या 'पारार्थ्य' भी कहा जा सकता है[1]। अर्थसंग्रह के मूलभूत ग्रंथ–'मीमांसान्यायप्रकाश' में 'अर्थत्वम्' पद का प्रयोग मिलता हैं[2]। प्रायः सर्वत्र 'अंगत्वम्' पद का प्रयोग करने पर भी यहाँ श्रुतिलिंगबलाबलविचारस्थल में 'अर्थत्वम्' पद का प्रयोग करने का कारण 'श्रुति', 'लिंग' आदि प्रमाणों के बलाबल का प्रतिपादन करने वाले जैमिनिसूत्र में प्रयुक्त 'अर्थ' पद का प्रभाव है[3]।

प्रसंग—अब 'लिंग' प्रमाण का लक्षण एवं 'समाख्या' प्रमाण की अपेक्षा उसकी प्रबलता का निरूपण किया जा रहा है—

(३१—लिङ्गस्वरूपकथनम्)

शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम्। यथाहुः 'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इति। सामर्थ्यं रूढिरेव, तेन समाख्यातोऽस्या भेदः।

१—'एतत्सहकृतेनानेन विधिनांगत्वं परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपं पारार्थ्यापरपर्यायं ज्ञाप्यते'।

(विभाग संख्या—२३)

२—"अत एव 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठत' इत्यत्र यावल्लिंगादैन्द्रया इन्द्रोपस्थानांगत्वं कल्प्यते तावत् प्रत्यक्षया श्रुत्या गार्हपत्योपस्थानांगत्वं क्रियत इति ऐन्द्री गार्हपत्योपस्थानांगम्।'

(मीमांसान्यायप्रकाश—पृष्ठ ३८)

३—'श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'

(जैमिनिसूत्र—३।३।१४)

यौगिकशब्दसमाख्यातो रूढ्यात्मकलिङ्गशब्दस्य भिन्नत्वात् । तेन 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इति मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्वं न तूलपादिलवनाङ्गत्वम् तस्य । 'बर्हिर्दामि' इति लिङ्गागात् तल्लवनं प्रकाशयितुं समर्थत्वात् । एवमन्यत्रापि लिङ्गाद्विनियोगो दृष्टव्यः ।

अर्थ—शब्द की अभिधाशक्ति को लिंग कहा जाता है। इसीलिये तन्त्रवार्तिक में कुमारिल भट्ट ने कहा है कि—'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिंगमित्यभिधीयते' अर्थात् 'सभी शब्दों में होने वाले सामर्थ्य को लिंग कहा जाता है'। इसलिये समाख्या से यह लिंग भिन्न माना जाता है, क्योंकि यह स्पष्ट ही है कि यौगिक शब्द–समाख्या से रूढ्यात्मक लिंग शब्द भिन्न होता है। इसीलिये तो 'वर्हिर्देवसदनं दामि' यह मन्त्र 'कुशलवन' क्रिया का अंग है न कि उलप आदि तृणों के खंडन का। 'वर्हिर्दामि'—निष्ठ लिंग से 'वर्हिर्देवसदनं दामि' यह मन्त्र कुशलवन का बोध कराने में समर्थ है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी लिंग द्वारा विनियोग समझना चाहिये।

अर्थबोधिनी—शब्द की अभिधा शक्ति को 'लिंग' कहा जाता है। अभिधा का अर्थ रूढि समझना चाहिये, यौगिक नहीं। जैसे 'कुशल' शब्द का रूढार्थ 'दक्ष' है एवं यौगिकार्थ' कुश लाने वाला' है। सारांश यह कि यहाँ 'लिंग' शब्द का तात्पर्य 'शब्द की रूढार्थबोधनसामर्थ्य' है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि लिंग रूढि है जो यौगिक शब्द से सर्वथा भिन्न है। यौगिक शब्द को ही 'समाख्या' कहते हैं।

यद्यपि किसी शब्द के रूढार्थ एवं यौगिकार्थ दोनों ही अर्थ हो सकते हैं किन्तु रूढार्थ मुख्य होता है और यौगिकार्थ गौण। रूढार्थ की बुद्धि में उपस्थिति या प्रतीति प्रथमतः हुआ करती है और यौगिकार्थ की बाद में। इसीलिये रूढयात्मक लिंग से विनियोग शीघ्र होता है एवं समाख्या से बाद में। अतएव यदि किसी स्थलविशेष में विभिन्न विषयों को समझाने के लिये ये दोनों प्रमाण एक काल में ही उपस्थित हो जाते हैं तो लिंग द्वारा ही

विनियोग होता है, समाख्या द्वारा नहीं क्योंकि लिंग विनियोग का ज्ञान शीघ्र कराता है एवं समाख्या विलम्ब से। अतएव समाख्या की विनियोग-बोधक शक्ति खण्डित हो जाती है। लिंग द्वारा मंत्र का विनियोगबोध होने में सर्वप्रथम (१) मंत्र का स्वाभिधेयार्थप्रतिपादन उसके बाद (२) वस्तु-प्रकाशनसामर्थ्यनिरूपण तत्पश्चात् (३) अंगांगिभावबोधकश्रुतिकल्पना एवं अन्त में (४) विनियोगबोध होता है।

उदाहरण द्वारा इस विषय का स्पष्टीकरण हो जायेगा। बर्हिर्देवसदन दामि' एक मंत्र है। 'बर्हिष्' शब्द का रूढार्थ 'कुश' एवं यौगिकार्थ 'उलप' (तृणविशेष) होता है। इस मंत्र का अर्थ यह है कि 'मैं' बर्हिष् को जो कि देवताओं के बैठने का स्थान है, काटता हूं'। अब प्रश्न यह होता है कि यह मंत्र कुशलवन (कुश काटने की क्रिया) में विनियुक्त होगा अथवा 'उलप' आदि के लवन में। लिंग द्वारा विनियोग होने के लिये सर्वप्रथम मंत्रार्थ का बोध आवश्यक है, (१) स्वाभिधेयार्थप्रतिपादन) इसके बाद मंत्रगत 'दामि' एवं बर्हिष्' पदों के सामर्थ्य से यह ज्ञात होता हैं कि यहाँ कुश काटने का प्रसंग है। पदसामर्थ्य ही लिंग होता है। 'बर्हिष्' पद के लिंग से ही 'कुश' का ग्रहण एवं उलप आदि अन्य तृणों का निरास हो जाता है (२–वस्तुसामर्थ्य-निरूपण)। इस प्रकार कुश काटने के प्रसंग से श्रुति की कल्पना करनी होती है। श्रुति की कल्पना इस प्रकार होगी 'इस मंत्र से कुश का लवन करना चाहिये'–मन्त्रेणानेन कुशलवनं कार्यम् (३–अंगांगिबोधकश्रुतिकल्पना)। इसके पश्चात् श्रुति से विनियोगबोध इस प्रकार होगा—'अस्य मंत्रस्य कुशल-वनांगत्वम्' (४–विनियोगबोध)।

इस प्रकार लिंग द्वारा विनियोगबोध होने में उक्त चार व्यापारों की आवश्यकता होती है किन्तु समाख्या के द्वारा विनियोग होने में और अधिक व्यापारों की आवश्यकता होती है क्योंकि समाख्या के द्वारा विनियोग होने में उसे क्रमशः स्थान, प्रकरण, वाक्य, लिंग, श्रुति की सहायता लेनी होगी। बाद में कल्पित श्रुति से विनियोग होगा। इस प्रकार समाख्या से विनियोग

का बोध विलम्ब से होता है, तदपेक्षया लिंग से शीघ्र। अतएव प्रकृत स्थल में 'र्बार्हिर्देवसदनं दामि' यह मन्त्र लिंग प्रमाण से कुशलवन का अंग होगा, उलप आदि के लवन का नहीं।

प्रसंग—अब लिंग अपने परवर्ती वाक्य आदि प्रमाणों से प्रबल होता है, इस विषय का निरूपण करते हैं—

(३२—लिङ्गंवाक्यादिभ्यो बलवत्)

तदिदं लिङ्गं वाक्यादिभ्यो बलवत्। अत एव 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' इति मन्त्रस्य पुरोडाशसदनकरणाङ्गत्वं 'सदनं कृणोमि' इति लिङ्गात् न तु वाक्यात्।

अर्थ—वही पूर्वोक्त लिंग प्रमाण वाक्य आदि परवर्ती प्रमाणों से प्रबल है। इसीलिए 'स्योन ते सदनं कृणोमि' इत्यादि मन्त्र 'सदनं कृणोमि'—निष्ठ लिंग से पुरोडाश के लिये स्थान निर्माण की क्रिया का अंग है और वाक्य प्रमाण द्वारा होने वाला विनियोग यहाँ मान्य नहीं है क्योंकि वह लिंग की अपेक्षा निर्बल है। 'स्योनं ते सदन कृणोमि' का का अर्थ है–'हे पुरोडाश! मैं तुम्हारे लिये समीचीन सदन अर्थात् बैठने के स्थान का निर्माण कर रहा हूं'।

अर्थबोधिनी—प्रकृतस्थल में उदाहरण द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि लिङ्ग प्रमाण वाक्य प्रमाण से प्रबल होता है। 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' एक मंत्र का आदि भाग है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है--स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि। तस्यिन् सीदामृते प्रतितिष्ठि व्रीहीणां मेध! सुमनस्यमानः।' (तैत्तिरीय ब्राह्मण–३।७।५)। इसका अथ इस प्रकार है –'भोः पुरोडाश! ते तव स्योनं समीचीनं सदन कृणोमि करोमि, तच्च स्थानं घृतस्य धारया सुशेवं सुष्ठु सेवितुं योग्यं कल्पयामि। भो व्रीहीणां मेध व्रीहिसारभूत! त्वं सुमनस्यमानः समाहितमनस्कः सन् तस्मिन्नमृते समीचीने स्थाने सीद उपविश प्रतितिष्ठ तत्र स्थिरो भवेत्यर्थः[१]।'

१—कौमुदी पृष्ठ ८६

वाक्यप्रमाणद्वारा विनियोग की प्रक्रिया–इस मंत्र के उत्तरार्ध में 'तस्मिन्' पद का प्रयोग हुआ है। 'तस्मिन्' पद सापेक्ष है। इससे मंत्र क पूर्वार्ध की ओर संकत होता है और इस प्रकार मंत्र के पूर्वार्ध एव उत्तरार्ध अलग-अलग न होकर मिलकर एक वाक्य समझा जाता है। इसी पूरे एक मंत्र का विनियोग किसी क्रिया में होता है। इसके पश्चात् 'सदनं कृणोमि' एव तस्मिन् सीद' लिंगों से सम्पूर्ण मन्त्र 'स्थानकरण' एव 'पुरोडाशस्थापन' दोनो कियाओं में काम आता है। तदनुसार क्रमशः दो प्रत्यक्षश्रुतियों की कल्पना इस प्रकार करनी पड़ती है—'सर्वेण अनेन मन्त्रेण तव पुरोडाशः स्थापनीयः'। श्रुतिकल्पना के पश्चात् विनियोग होगा। विनियोग की विशेषता यह होगी कि सम्पूर्ण मंत्र को चाहे 'स्थानकरण' अथवा 'पुरोडाशस्थापन' किसी एक क्रिया में विनियुक्त माना जाये अथवा दोनों में। इस प्रकार वाक्य प्रमाण से विनियोग मानने में—(१) पूरे मन्त्र का विनियोग अलग-अलग दो क्रियाओं में होता है, जब कि मंत्र का पूर्वार्ध उत्तरार्ध की क्रिया ('पुरोडाशस्थापन') के लिये अप्रासंगिक है और मंत्र का उत्तरार्ध पूर्वार्ध की क्रिया ('स्थानकरण') के लिये अप्रासंगिक है। (२) वाक्य, लिंग, श्रुति, विनियोग इन चार व्यापारों की आवश्यकता होगी।

किन्तु लिंग के द्वारा विनियोग होने पर उक्त स्थिति न होगी। 'स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि' इस 'मन्त्र के पूर्वार्ध' में 'सदनं कृणोमि' लिंग से यह ज्ञात हो जाता है कि उक्त मंत्रांश 'स्थानकरण' के लिये है। इसके अनन्तर 'अनेन ('स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि') मन्त्रेण स्थान कर्तव्यम्' ऐसी श्रुति की कल्पना करनी होगी। श्रुतिकल्पना के पश्चात् विनियोग हो जायेगा। इसी प्रकार 'तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः' इस मंत्रोत्तरार्ध में 'तस्मिन् सीद' लिंग से अर्थप्रकाशन के पश्चात् श्रुतिकल्पना एवं विनियोग होगा और मंत्रोत्तरार्ध 'पुरोडाशस्थापन' में विनियुक्त हुआ माना जायेगा। अतः लिङ्गप्रमाण से विनियोग मानने में—(१) मंत्र का पूर्वार्ध पूर्वार्धगत क्रिया में विनियुक्त होगा। इस प्रकार का कोई भी मन्त्रार्ध किसी भी क्रिया

के लिये अप्रासंगिक नहीं हो सकेगा। (२) मंत्रार्थबोध के पश्चात् लिंग, श्रुति एवं विनियोग इन तीन व्यापारों की आवश्यकता होती है।

हम देखते हैं कि लिंग द्वारा विनियोग मानने में–(·) अंगभूत कोई मंत्रार्ध अंगीभूत क्रिया के लिए अप्रासगिक नहीं ठहरता है,जब कि वाक्य प्रमाण द्वारा सम्पूर्ण मत्र का आधा-आधा अश 'स्थानकरण' एवं 'पुरोडाशस्थापन' इन दोनों क्रियाओं के लिये अप्रासंगिक होता है। (२) लिंग द्वारा विनियोग मानने में लिंग, श्रुति एवं विनियोग इन तीन व्यापारों की आवश्यकता होती है। जब कि वाक्य द्वारा विनियोग मानने में वाक्य, लिंग, श्रुति एव विनियोग इन चार व्यापारों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार लिंग एव विनियोग के बीच लिंग एवं श्रुति इन दो व्यापारों का व्यवधान है। इस प्रकार वाक्य विनियोगबोध में अपेक्षाकृत विप्रकृष्ट है एव लिंग सन्निकृष्ट। अतएव लिंग द्वारा विनियोग होगा, वाक्य द्वारा नहीं। इसीलिये 'स्योनं ते सदन कृणोमि घृतस्य धारया सुशेव कल्पयामि' यह पूर्वार्ध मन्त्र 'पुरोडाश के सदन करण' का अग होता है।

प्रसंग—अब वाक्य प्रमाण के लक्षण एव उसके द्वारा होने वाले अंगांगिभाव के बोध का निरूपण किया जा रहा है—

(३३—वाक्यस्वरूपाख्यानम्)

समभिव्याहारो वाक्यम्। समभिव्याहारश्च साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावेऽपि वस्तुतः शेषशेषिवाचकपदयोः सहोच्चारणम्। यथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति'। अत्र पर्णताजुह्वोः समभिव्याहारादेव पर्णताया जुह्वङ्गत्वम्।

न चानर्थक्यम्, अन्यथापि जुह्वाः सिद्धत्वादिति वाच्यम्। जुहूशब्देन तत्साध्यापूर्वलक्षणात्! तथा च वाक्यार्थः—पर्णतया–वत्तहविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्वं भावयेदिति। एवं च पर्णतया यदि जुहूः क्रियते तदैव तत्साध्यमपूर्वं भवति नान्यथेति गम्यत इति न

पर्णताया वैयर्थ्यम् । अवत्तहविर्धारणद्वारेति चावश्यं वक्तव्यम् । अन्यथा स्रुवादिष्वपि पर्णतापत्तेः ।

सेयं पर्णता अनारभ्याधीतापि सर्वप्रकृतिष्वेवान्वेति न विकृतिषु । तत्र चोदकेनापि तत्प्राप्तिसंभवात् पौनरुक्त्यापत्तेः

अर्थ-समभिव्याहार अर्थात् सम्बद्ध उच्चारण को वाक्य कहते हैं । अभिप्राय यह है कि अगत्व का ख्यापन करने वाली द्वितीया आदि विभक्तियों के अभाव में अङ्ग एवं अगी का बोध कराने वाले पदों के सहोच्चारण को वाक्य कहा जाता है । उदाहरण इस प्रकार समझा जा सकता है—'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पाप श्लोकं शृणोति' एक विधि है । इसका अर्थ यह है कि 'जिस पुरुष की जुहू पलाशकाष्ठनिर्मित होती है वह अपनी कुख्याति नहीं सुनता है' । यहाँ पर्णता' (पलाशनिर्मितत्व) और जुहू इन दोनों में 'पर्णता' 'जुहू' का अंग है,क्योंकि 'पर्णमयी' और 'जुहू' दोनों का सहोच्चारण-रूप वाक्य प्रमाण प्राप्त होता है ।

यह भी कहना समीचीन नहीं है कि पर्ण (पलाश)के अतिरिक्त अन्यकाष्ठ से जुहू के निर्माण हो सकने के कारण पर्णता की व्यर्थता सिद्ध होती है । यह इसलिये कि यहाँ 'जुहू' शब्द का अर्थ 'जुहू से उत्पन्न होने वाला अपूर्व' समझना चाहिये अर्थात् 'जुहू' शब्द की 'जुहू से साध्य अपूर्व' में लक्षणा है । तब 'पर्णमयी जुहूर्भवति' इत्यादि वाक्य का स्पष्ट अर्थ यह होगा कि 'पर्णतयावत्तहविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्वं भावयेत्' अर्थात् पलाशनिर्मित जुहू में खण्डित हवि को रखकर जुहूगत पलाशनिर्मितत्व से जुहू से होने वाले अपूर्व को सम्पन्न करे' । इस प्रकार यह सिद्ध होता हैं कि यदि जुहू पलाश की बनाई जायेगी तभी जुहू से साध्य अपूर्व की उत्पत्ति हो सकेगी, अन्यथा नहीं । इसलिये 'पर्णमयी' यह कहना व्यर्थ नहीं है । उक्त अर्थबोध वाक्य में अवत्तहविर्धारणद्वारा' शब्द का प्रयोग अवश्य होना चाहिये, नहीं तो स्रुवा आदि अन्य यज्ञ-पात्र भी पर्णनिर्मेय समझे जाने लगेंगे ।

उक्त पर्णता यद्यपि अनारभ्यविधि में अर्थात् सामान्य विधि में अधीत है, फिर भी इसका अन्वय सभी प्रकृति यागों में होता है, विकृति यागों में नहीं, क्योंकि विकृतियागों मे पर्णता की प्राप्ति 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' अर्थात् 'विकृतियाग को प्रकृतियाग के समान करना चाहिए' इस अतिदेश वाक्य से भी होने के कारण पुनरुक्ति हो जाने की आपत्ति होगी।

अर्थबोधिनी– ग्रन्थकार ने लिंग एवं वाक्य के बीच बलाबल का विचार अवश्य किया है, किन्तु अभी तक वाक्य का लक्षण नहीं बतलाया था, इसलिये अब वाक्य का लक्षण करते हैं। 'समभिव्याहार को वाक्य कहा जाता है' और साध्य—अंगी का बोध कराने वाली द्वितीया आदि विभक्तियों के बिना भी केवल समभिव्याहार से अंगाङ्गिभाव का बोध कहीं हो जाता है। 'व्रीहीन् प्रोक्षति' आदि वाक्यों में द्वितीया विभक्ति व्रीहि एवं प्रोक्षण में होने वाले अगांगिभाव को समझाती है। सर्वत्र यह नियम नहीं है कि श्रुति या उक्त प्रकार के लिंग से अंगांगिभाव का बोध हो अपितु कहीं समभिव्याहारात्मक वाक्य प्रमाण से भी अंगांगिभाव का बोध होता है। 'अभिव्याहार' का अर्थ 'कथन' या 'उच्चारण' होता है। इसीलिये वाक्य को 'सहोच्चारण' भी कहा गया है। 'सहोच्चारण' का अर्थ है 'साथ-साथ उच्चारण'। इससे यही सिद्ध होता है कि 'सम्बद्धतया अभिव्याहार' अथवा 'सह–उच्चारण' को वाक्य कहा जाता है। प्रश्न यह है कि 'सम्वद्धतया' अथवा 'साथ-साथ' उच्चारण किनका होना चाहिये ? उत्तर है कि अंग एव अगी के वाचक पदों का। उदाहरण के लिये 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इस मन्त्र में 'पर्णमयी' एवं 'जुहूः'इन दो पदों का साथ–साथ अर्थात् अव्यवधानेन उच्चारण हुआ है और ये दोनों पद अंग एवं अंगी के बोधक हैं। पूर्वपद पर्णमयता–रूप अंग का बोधक है और परवर्ती 'जुहूः' पद अंगीभूत खण्डितघृतपात्र का बोधक है। यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' का अर्थ यह है कि 'जिस व्यक्ति की जुहू पर्ण (पलाश) की बनी होती है वह पापश्लोक (कुख्याति) को नहीं सुनता है'। 'जुहू' घी रखने का एक पात्रविशेष होता है। यह पात्र

पलाश की लकड़ी से बनाया जाता है। यदि पलाश के अतिरिक्त अन्य किसी काष्ठ से जुहू बनाई जाये तो जुहू से होने वाला अपूर्व नहीं उत्पन्न होगा, इस प्रकार जुहू का प्रयोजन ही सिद्ध न हो सकेगा। यदि जुहू पर्ण (पलाश) की बनी होगी तो उसका फल फल यही होगा कि यज्ञ कराने वाला व्यक्ति अपने पापश्लोक (कुख्याति) को नहीं सुनेगा। 'श्लोक' शब्द का अर्थ है 'प्रशंसा या ख्याति' और पाप का अर्थ है 'बुरी'। इस प्रकार 'पापं श्लोकम्' का अर्थ 'कुख्यति' (बदनामी) हुआ।

यहाँ 'पर्णमयी' और 'जुहूः' दोनों पद अव्यवहितत्वेन उच्चरित है, इसी लिये उनके अर्थों के बीच एक दूसरे से अगांगिभाव–रूप सम्बन्ध समझा जाता है। 'पर्णता' अर्थात् 'पलाशनिर्मितत्व' जुहू का अंग है। जुहू जब पर्ण से बनेगी तभी उसमें पर्णता (पणमयता) समवेत हो सकेगी। जिस प्रकार विभाग संख्या २५ में 'अरुणया पिंगाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति' इस विधि वाक्य के अरुणया' पद से 'अरुणा' को अंग नहीं माना जाता, क्योंकि 'अरुणा' तो स्वयं गाय ही है जो कि अंगी है, अपितु 'आरुण्य' को जो गाय में समवेत रहता है, उसी तरह प्रकृत स्थल में 'पर्णमयी' अथवा 'पर्ण' जुहू का अंग न होकर 'पर्णता' अर्थात् 'पलाशनिर्मित्व' जो जुहू में समवेत रहता है, अंग है।

पूर्वपक्षी की दृष्टि में जुहू के पर्णनिर्मित होने में कुछ भी सार्थकता नहीं है (आनर्थक्यम्) क्योंकि किसी पर्णेतर काष्ठ से भी जुहू का निर्माण हो सकता है (अन्यथापि जुह्वाः सिद्धत्वात्)। पूर्वपक्षी के इस कथन का खण्डन करता हुआ सिद्धान्ती कहता है कि 'ऐसा नहीं कहना चाहिए ('इति न वाच्यम्'), क्योंकि 'जुहू' शब्द का लक्ष्यार्थ पर्ण से बनी हुई जुहू (तत्= पर्णमयी जुहू) से सिद्ध होने वाला अपूर्व' इतना है . जुहूशब्देन तत्साध्यापूर्व-लक्षणात्)। अर्थात् जहां कहीं भी 'जुहू' का प्रसंग हो उसे पर्णनिर्मित जुहू ही समझना चाहिये, क्योंकि पर्णनिर्मित जुहू से ही शास्त्रवर्णित फलसाधनभूत अपूर्व की उत्पत्ति होती है—अन्यथा नहीं। इसीलिये 'जुहू' शब्द 'पर्णनिर्मित जुहू से साध्य अपूर्व' की ओर संकेत करता है :—

'जुहू' शब्द के दो अर्थ होते हैं --

(१) एक पात्र विशेष—इसमें 'स्रुवा' नामक पात्र से घी (हवि) काट कर रखा जाता है । 'जुहू' शब्द का प्रकृत 'एक पात्र विशेष' अर्थ रूढ है ।

(२) हवन के लिए उपयोगी कोई पात्र—'हूयते अनया इति जुहूः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'जुहू' शब्द का यौगिक अर्थ 'यज्ञोपयोगी पात्र' लिया जा सकता है. उदाहरण के लिये स्रुवा, उपभृत् ध्रुवा आदि पात्र[1] सभी जुहू' की संज्ञा से अभिहित हो सकते हैं ।

यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' यहाँ 'जुहू' शब्द से प्रथम अर्थ अभिप्रेत है । किन्तु उक्त प्रथम अर्थ का बोध कैसे होगा ? अतएव ग्रंथकार ने 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति.........' इत्यादि विधि का वाक्यार्थ इन शब्दों में माना है—'पर्णतया अवत्तहविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्वं भावयेत्' अर्थात् पर्ण की बनी जुहू में कटे हुये हवि को रखकर जुहूगत पर्णनिर्मितत्व से जुहू से होने वाले अपूर्व को उत्पन्न करे' । इस प्रकार 'जुहू' भी पर्ण की बनानी होगी और 'जुहू' शब्द का अर्थ 'पात्र विशेष' होगा, क्योंकि पात्रविशेष में ही कटे हुये हवि को रखा जाता है, अन्यपात्र अन्य प्रयोजन के लिये होते हैं । उदाहरण के लिये 'स्रुवा' नामक पात्र से हवि को काटा जाता है, या उससे हवन किया जाता हैं । उसका आकार चमचे जैसा होता है । उसका प्रयोजन यह नहीं होता है कि कोई पदार्थ उसमें रखा रहे । इसी प्रकार अन्य पात्रों के विशेष प्रयोजन होते हैं । लेकिन उक्त वाच्यार्थ—'पर्णतया अवत्तहविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्वं भावयेत्' में 'अवत्तहविर्धारणद्वारा' अश का प्रयोग अवश्य करना चाहिये, अन्यथा 'जुहू' पद का रूढार्थ लेना अनिवार्य न होगा और यौगिक अर्थ लेकर 'पर्णमयी जुहूः' वाक्य से 'स्रुवा' आदि अन्य पात्र भी पर्ण के बनाये जाने लगेंगे, जब कि ये पात्र पर्ण से नहीं बनते अपितु खदिर आदि अन्य काष्ठों से बनते हैं ।

१—'स्रुवा' खदिर (खैर) की लकड़ी से, 'उपभृत्' पीपल की लकड़ी से और 'ध्रुवा' विकङ्कत (विकङ्कट) की लकड़ी से बनाया जाता है ।

'सेयं पर्णता·········पौनरुक्त्यापत्तेः' । वाक्य के भावार्थज्ञान के लिये वाक्यगत कुछ पारिभाषिक शब्दों का अर्थ समझना आवश्यक होगा । ये शब्द हैं—'अनारभ्याधीत', 'प्रकृति', 'विकृति' एवं 'चोदक' ।

अनारभ्य विधि—किसी याग के विवरण को प्रारम्भ करके उसी विवरण के अन्तर्गत उसी याग के लिये अपेक्षित विधि वाक्य को आरभ्यविधि कहा जाता है । इसी विधि को विशेष विधि भी कह सकते हैं क्योंकि शास्त्र में याग-'विशेष' की प्रक्रिया के विवेचन को प्रारम्भ करके उस याग के प्रसङ्ग में ही यह वधि प्रवृत्त होती है । इसके विपरीत वह विधि जो किसी याग विशेष का विवेचन प्रारम्भ करके उसके प्रसङ्ग में न पढ़ी गई हो अपितु सभी यज्ञों में समानरूप से प्रवृत्त हो अनारभ्य विधि अथवा सामान्यविधि कही जाती है । 'यस्य पर्णमयी जुहूभवति न स पाप श्लोक शृणोति' इस विधि का पाठ किसी याग विशेष के प्रसङ्ग में नहीं आया है, इसलिये यह विधि अनारभ्य विधि अर्थात् सामान्य विधि है ।

प्रकृति—'प्रकृति' ऐसे याग को कहते हैं जिसकी अङ्गों सहित सम्पूर्ण सम्पादनविधि वर्णित हुई हो; उसे अपने अनुष्ठान के लिये किसी दूसरे स्थल से किसी विधान को ग्रहण न करना पड़े । ऐसे यागों का विधान स्वयं में पूर्ण होता है । 'दर्श' याग एवं 'पूर्णमास' याग प्रकृति कहे जाते हैं, क्योंकि इन यागों के प्रकरण में इनका पूर्ण विवरण प्राप्त होता है । किसी भी अङ्गविधान के लिये ये याग किसी इतर विधि पर आश्रित नहीं रहते हैं ।

विकृति—ऐसे यागों को कहते हैं जिनका विवेचन स्वतः पूर्ण न हो । इन यागों के प्रकरण में अनुष्ठानापेक्षित सभी अङ्गों का पाठ नहीं मिलता है, अतएव अपने अनुष्ठान की पूर्णता के लिये इन्हें अन्य प्रकृति यागों पर निर्भर रहना पड़ता है, जिन यागों पर ये आश्रित होते हैं उन्हें इनका प्रकृति याग कहते हैं, और जिन अङ्गों को ये अपनी प्रकृति से प्राप्त करते हैं उन अङ्गों को 'चोदक प्राप्त' या 'अतिदेशप्राप्त' कहते हैं । 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' अर्थात् प्रकृति के समान ही 'विकृति याग को करना चाहिये' यह वाक्य

'चोदक' या 'अतिदेश' कहा जाता है। उदारण के लिये 'सौर्य' एक ऐसा याग है जिसे 'विकृति' कहा जाता है क्योंकि इसके अनुष्ठान के लिये अपेक्षित कई अंगों का विधान इसके प्रकरण में पठित नहीं है अतएव अङ्गों की प्राप्ति अन्य प्रकृति याग से होती हैं।

चोदक—'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस वाक्य को चोदक वाक्य कहते हैं। 'चोदक' का अर्थ 'प्रेरक' या 'विधायक' है। इस वाक्य के सुनने से यह प्रेरणा मिलती है कि प्रकृति याग के समान विकृति याग का अनुष्ठान करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि प्रकृति याग में कुछ अपेक्षित अङ्गों का विधान न प्राप्त होने से अनुष्ठान काल में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक होता है कि इस याग का सम्पादन कैसे हो? उसी समय 'प्रकृतिवद् विकृति : कर्तव्या 'यह वाक्य विकृति को प्रकृति के समान अनुष्ठित करने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार चोदक वाक्य भी विधि के अन्तर्गत आ जाता है। चोदक वाक्य को अतिदेश वाक्य भी कहते हैं।

जैसा कि अभी बतलाया जा चुका है 'यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति' विधि अनारभ्य विधि है इसमें पठित 'पर्णमयी' अनारम्याधीत है। उक्त विधि का उपयोग प्रकृति यागों में होने का विधान है, विकृति यागों में नहीं, क्योंकि विकृति यागों में उसकी प्राप्ति 'प्रकृति के समान विकृति करनी चाहिये' ('प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या') इस चोदक वाक्य से ही हो जायेगी। इस लिये यहाँ भी विकृति यागों में उसका विधान मानने पर दो बार विधान हो जाने पर पुनरुक्ति नामक दोष की आपत्ति होगी।

प्रसङ्ग—अब पूर्व संङ्केतित 'प्रकृति', 'विकृति' एवं 'अनारम्यविधि' का लक्षण किया जा रहा है—

(३४—प्रकृतिविकृत्यनारम्यविधीनां लक्षणानि)

यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः। यथा दर्शपूर्णमासादिः। तत्प्रकरणे सर्वाङ्गपाठात्। यत्र न समग्राङ्गोपदेशः सा विकृतिः।

यथा सौर्यादिः । तत्र कतिपयाङ्गानामतिदेशेन प्राप्तत्वात् । अनारभ्यविधिः सामान्यविधिः । तदिदं वाक्यं प्रकरणादिभ्यो बलवत् । अत एव 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादेरेकवाक्यत्वाद्दर्शाङ्गत्वं न तु प्रकरणाददर्शपूर्णमासाङ्गत्वम ।'

अर्थ—जिस याग के विषय में समस्त अङ्गों का पाठ मिलता हैं उसे प्रकृति याग कहते हैं । उदाहरण के लिए दर्शपूर्णमांस आदि प्रकृति याग है है क्योंकि दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में उनके सभी अंगों का पाठ प्राप्त होता है । जिस याग के विषय में समस्त अंगों का पाठ नहीं प्राप्त होता है उसे विकृति याग कहा जाता है । उदाहरण के लिए सौर्य याग को लिया जा सकता है । सौर्य याग विकृति याग है क्योंकि सौर्य याग के लिए अपेक्षित कतिपय अंगों की प्राप्ति अतिदेश से होती है । सामान्य विधि को ही आरम्य विधि कहा जाता है ।

वाक्य प्रमाण प्रकरण आदि से बलवान् है । इसीलिए 'इन्द्राग्नी इदं हविः' यह मंत्र वाक्य प्रमाण से 'दर्श' नामक याग का अंग होता है, न कि प्रकरण प्रमाण से 'दर्श' एव 'पूर्णमास' दोनों का अंग ।

अर्थबोधिनी—प्रकृति, विकृति, अतिदेश (चोदक) वाक्य एवं अनारम्भविधि का विवेचन गत विभाग में हो ही चुका है अतएव प्रकृतस्थल में उनका विवेचन नहीं किया जा रहा है ।

वाक्य प्रमाण प्रकरण प्रमाण से बलवान् होता है अतएव जिस स्थल में एक ही काल में दोनों प्रमाणों से विनियोग की संभावना हो रही होगी वहाँ वाक्य प्रमाण द्वारा सिद्ध विनियोग मान्य एवं प्रकरण प्रमाण द्वारा संभाव्य विनियोग त्याज्य होगा । इसीलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादि मंत्र 'दर्श' संज्ञक याग का अङ्ग माना जाता है, क्योंकि वाक्य प्रमाण से उक्त मंत्र 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' दोनों यज्ञों का अङ्ग होने लगता है, जिसे स्वीकार नहीं किया जाता । न स्वीकार करने का कारण

यही है कि वाक्य प्रकरण से बलवान् होता है। बलवान् होने के कारण पर निम्नलिखित पंक्तियों में विचार किया जा रहा है—

तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।५।१०) में प्राप्त प्रासङ्गिक मंत्र का पाठ इस प्रकार है—

'अग्नीषोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्रातम् ।
इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्रातम् ॥'

मंत्र का पदच्छेद इस प्रकार है—

'अग्नीषोमौ इदं हविः अजुषेताम् अवीवृधेताम् महः ज्यायः अक्राताम् । इन्द्राग्नी इदं हविः अजुषेताम् अवीवृधेताम् महः ज्यायः अक्राताम् ॥'

मंत्रार्थ इस प्रकार है—

'हे अग्नि एवं सोम ! तुम दोनों ने इस हवि का सेवन किया है, उसकी वृद्धि की है एव बहुत श्रेष्ठ कर दिया है। हे इन्द्र एवं अग्नि। तुम दोनों ने इस हवि को सेवन किया हे, उसकी वृद्धि की है एवं बहुत श्रेष्ठ कर दिया है ॥'

वाक्य प्रमाण की अपेक्षा प्रकरण प्रमाण विनियोग से विप्रकृष्ट रहता है अतएव वाक्य की अपेक्षा प्रकरण द्वारा विनियोग अमान्य होता है। प्रकरण प्रमाण से विनियोग मानने में व्यापारों का क्रम इस प्रकार होगा—

(१) प्रकरण—'अग्नीषोमाविदं..............अक्राताम् ।

'इन्द्राग्नी इदं................ अक्राताम्' ॥ मंत्र दर्शपूर्णमास यागों के प्रसंग में पढ़ा गया है। अतएव सम्पूर्ण मंत्र 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' यागों में विनियुक्त होना चाहिए। किन्तु मीमांसा दर्शन के अनुसार 'पूर्णमास' यज्ञ के अग्नि एवं सोम देवता हैं, तथा 'दर्श' याग के इन्द्र एवं अग्नि। इसलिये 'पूर्णमास' यज्ञ के समय केवल अग्नि एव सोम (अग्नीषोमौ) इन्हीं दो देवताओं का आमंत्रण होगा। तदनुसार 'इन्द्राग्नी' पद का परित्याग कर देना

होगा। इसी प्रकार 'दर्श' में 'अग्नीषोमौ' पद का परित्याग करना होगा। यह सब प्रकरण प्रमाण द्वारा होगा।

(२) **वाक्यकल्पना**—'दर्श' याग के अनुष्ठान में 'अग्नीषोमौ' पद का परित्याग कर दिया जाता है तब उक्त मंत्र का रूप यह होगा—'इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम् । इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम् ॥' किन्तु 'इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम्' और 'इन्द्राग्नी..... ..... ज्यायोऽक्राताम्' । के एक वाक्य होने में कोई श्रुति प्रमाण नहीं है। अर्थात् दोनों में एक वाक्यताबोधक वाक्य वेद में नहीं पाया जाता, अतएव 'वाक्य' प्रमाण से दोनों को 'एक वाक्य' मान लिया जाता है।

(३) **लिंगकल्पना**—'एकवाक्यता' सम्पन्न हो जाने के पश्चात्' इन्द्राग्नी'—पदगत लिंगरूप शक्ति से 'इन्द्र' एवं 'अग्नि' इन दो देवताओं का प्रकाशन होता है। अर्थात् लिंग से यह समझा जाता है कि मंत्र एवं उक्त देवताओं के बीच सम्बन्ध होना चाहिये।

(४) **श्रुतिकल्पना**—लिंग के पश्चात् श्रुति की कल्पना की जाती है। श्रुति का रूप इस प्रकार होगा—इस मंत्रांश (इदं हवि............अक्राताम् । इन्द्राग्नी..............अक्राताम् ।') से इन्द्र एवं अग्नि देवताओं से सम्बन्धित कोई क्रिया करनी चाहिये' (अनेन मन्त्रभागेनेन्द्राग्निविषयाकाचित्क्रिया—नुष्ठेया') ।

और (५) **विनियोग**

किन्तु वाक्य प्रमाण द्वारा विनियोग होने में कुल ४ व्यापारों की आवश्यकता पड़ती है। वे ये हैं—

(१) वाक्य—'इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेताम्' मंत्रांश के 'इन्द्राग्नी' एवं 'इदं हविरजुषेतामवीवृधेताम्' भागों में वाक्य प्रमाण से एकवाक्यता आती हैं।

(२) लिंगकल्पना—तदनन्तर लिंग प्रमाण से मन्त्र एवं दोनों (इन्द्र एवं अग्नि) देवताओं के बीच सम्बन्ध समझा जाता है।

(३) श्रुतिकल्पना– मंत्र एवं देवताओं के बीच अंगांगिभावबोधक श्रुति की कल्पना की जाती है।

और (४) विनियोग

हम देखते हैं कि प्रकरण प्रमाण एवं विनियोग के बीच तीन व्यापारों (वाक्य, लिंग एवं श्रुति) का व्यवधान है जबकि वाक्य एवं विनियोग के बीच केवल दो व्यापारों (लिंग एवं श्रुति) का। इससे सिद्ध होता है कि प्रकरण प्रमाण विनियोग से विप्रकृष्ट है और वाक्य सन्निकृष्ट। अतएव प्रकरण द्वारा विनियोग अमान्य एवं वाक्य द्वारा विनियोग ग्राह्य होता है। इसीलिये वाक्य प्रमाण द्वारा 'इन्द्राग्नी इदं..........अक्राताम्' इतना मंत्रांश दर्शयाग का अंग होता है न कि प्रकरण प्रमाण से 'इदं हवि .... अक्राताम्। इन्द्राग्नी ....अक्राताम् मंत्रांश का 'दर्श' याग और 'अग्नीषोमाविद...........अक्राताम्। इदं हवि...........अक्राताम्' मंत्रांश 'पूर्णमास' याग का। इस प्रकार क्रमशः देवताओं के एक युग्म को को छोड़कर पूरा मंत्र 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' दोनों यागों का अंग हो रहा था जिसका बाध वाक्य प्रमाण से हो गया[1]।

ध्यान रहे कि वाक्य प्रमाण से 'अग्नीषोमाविदं हवि...........अक्राताम्' मंत्रांश 'पूर्णमास' का अंग और 'इन्दाग्नी इदं हवि........अक्राताम्' मंत्रांश 'दर्श' याग का अंग होता है।

१—'अग्नीषोममन्त्रशेषस्येदं हविरित्यादिरूपस्येन्द्राग्निपदान्वयाश्रवणात्प्रकरणेन प्रथमं तदन्वयरूपं वाक्यं कल्पनीयं तेन च वाक्येनेन्द्राग्निप्रकाशनसामर्थ्यरूपं लिङ्गं कल्पनीयम्। तच्च लिङ्गमनेन मन्त्रभागेनेन्द्राग्निविषया काचित्क्रियानुष्ठेयेति विनियोजिकां तृतीयां श्रुतिं कल्पयति। ततः प्रकरणविनियोगयोर्मध्ये त्रिभिर्व्यवधानं भवति, अग्नीषोमपदान्वयरूपं वाक्यं तु श्रूयमाणत्वाल्लिङ्गश्रुतिभ्यामेव व्यवधीयते। एवमिन्द्राग्नीमंशशेषस्याप्यग्नीषोमपदन्वयाश्रवणात्प्रकरणेन प्रथमं तदन्वयरूपं वाक्यं कल्पनीयमित्यादि स्वयमूह्यम्। तस्माद् वाक्येन स्वस्माद् दुर्बलस्य प्रकरणस्य बाधितत्वात्तत्तन्मन्त्रशेषस्तत्र तत्रैव व्यवतिष्ठत इति।'

(कौमुदी, पृष्ठ–९१–९२)

प्रसङ्ग—अब प्रकरण प्रमाण का लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३५–प्रकरणलक्षणम्)

उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम् । यथा प्रयाजादिषु । 'समिधो यजति' इत्यादिवाक्ये फलविशेषस्यानिर्देशात् 'समिद्यागेन भावयेत्' इति बोधानन्तरं 'किम्' इत्युपकार्याकाङ्क्षा । दर्शपूर्णमासवाक्येऽपि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' इति बोधानन्तरं 'कथम्' इत्युपकारकाकाङ्क्षा। इत्थं चोभयाकाङ्क्षया प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्' ।

अर्थ—दो वाक्यों की परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं। उदाहरण इस प्रकार समझना चाहिए। प्रयाज यागों के स्थल में 'समिधो यजति' विधि का पाठ है, किन्तु 'समिद्' याग के अपने फल का निर्देश यहाँ नहीं हुआ है, अतएव 'समिधो यजति' का अर्थबोधवाक्य 'समिद्यागेन भावयेत्' ऐसा होने पर 'किं भावयेत्' ? इस प्रकार उपकार्य अर्थात् फल की आकांक्षा होती है। इसी प्रकार 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस विधि का 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' इस प्रकार वाक्यार्थबोध होने पर 'कथं भावयेत्' इस प्रकार उपकारक (साधन) की आकांक्षा होती है। इस प्रकार उभयाकांक्षा-रूप प्रकरण प्रमाण से प्रयाज आदि दर्शपूर्णमास के अङ्ग समझे जाते हैं।

अर्थबोधिनी—दो वाक्यों की परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं। एक वाक्य फलसाधनभूत क्रिया के सम्पादन प्रकार का विधान करता है किन्तु साध्य-फल का नहीं, इसलिए उसे क्रियाजन्य फल की आकांक्षा होती है। दूसरा वाक्य फल का निर्देश करता है किंतु उस फल के साधनभूत कर्तव्य क्रिया या क्रियाओं का विधान नहीं करता है अतएव इसे 'कथंभाव' 'कैसे करे' इस प्रकार साधनभूत क्रियाओं की आकांक्षा होती है। इस तरह दोनों वाक्य एक दूसरे के प्रति साकांक्ष रहते हैं। यही आकांक्षा प्रकरण कहलाती है।

उदाहरण के लिए प्रयाज यागों के प्रसङ्ग में 'समिधो यजति' तनूनपातं' यजति'—आदि क्रियाविधायक वाक्य पाये जाते हैं। उक्त वाक्यों में केवल क्रियाओं का विधान है। 'समिधो यजति' का अर्थबोध वाक्य–'समिद्यागेन भावयेत्' होगा किंतु यहाँ फल का निर्देश नहीं किया गया है अतएव आकांक्षा होती है कि 'किं भावयेत्' अर्थात् किसका सम्पादन करे।

दूसरा वाक्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' है इसका मीमांसा की दृष्टि से अर्थबोध वाक्य इस प्रकार है–दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' अर्थात् 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' यागों से स्वर्ग की भावना (प्राप्ति) करे। किन्तु यहाँ यह नहीं बतलाया गया है कि 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' से स्वर्ग की प्राप्ति कैसे करे ? अर्थात् वे कौन सी क्रियायें हैं जिनके सम्पादन से स्वर्ग मिल सकेगा।'दर्श' एवं 'पूर्णमास' याग दो प्रधान याग हैं जिनका सम्पादन अन्य अंगभूत क्रियाओं से ही हो सकेगा। इस प्रकार 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' वाक्य के सुनने पर आकांक्षा होती है कि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां कथं स्वर्गं भावयेत्' ? इस प्रकार हम देखते हैं कि 'समिधो यजति' अर्थात् 'समिद्यागेन भावयेत्' वाक्य को फल की आकांक्षा एवं दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" अर्थात् 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' वाक्य को 'कथंभाव' की आकांक्षा है। उक्त दोनों वाक्य परस्पर साकांक्ष हैं। परस्पर इस लिए कि एक वाक्यगत आकांक्षा दूसरे वाक्य के श्रवण से शान्त हो जाती है। अतः परस्पराकांक्षा-रूप प्रकरण प्रमाण से प्रयाज आदि क्रियायें दर्शपूर्णमास का अंग सिद्ध होती हैं।

वाक्यों की परस्पर आकांक्षा को इस प्रकार स्पष्टरूपेण समझा जा सकता है—

वाक्य—१ 'समिधो यजति'='समिद्यागेन भावयेत्' में –

(क) उपकारक का विधान—यहाँ साधनभूत अर्थात् उपकारकभूत 'समिद् याग' का विधान है, अर्थात् 'इतिकर्तव्यता' का श्रवण है। वाक्य विधान करता है कि 'इस प्रकार (समिद् याग के सम्पादन से) करो'।

(ख) उपकार्य की आकांक्षा—यहाँ उपकार्य अर्थात् सहायता प्राप्त करने वाले का श्रवण नहीं है अर्थात् समिद् याग किस याग का सहायक होगा; इसका निर्देश नहीं है। अभिप्राय यह है कि यहाँ 'उपकार्य' की आकांक्षा 'समिद् यागेन किं भावयेत्' रूप में है।

वाक्य–२––'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' = 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' में—

(क) उपकार्य (याग) का श्रवण—प्रकृत वाक्य में उपकार्य अर्थात् दर्शपूर्णमास याग का श्रवण है।

(ख) उपकारक की आकांक्षा—दर्शपूर्णमास द्वारा जिन साधनों की सहायता से अर्थात् जिन अंगभूत क्रियाओं से स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है उन साधनभूत अर्थात् उपकारकभूत क्रियाओं का यहाँ पर उल्लेख नहीं है। अतएव प्रकृत वाक्य में उपकारक की आकांक्षा–'दर्शपूर्णमासाभ्यां कथं भावयेत्' इस रूप में है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाक्य १ (ख) में उपकार्य की आकांक्षा है और वाक्य २ (क) में उपकार्य का श्रवण है। इस प्रकार वाक्य १ की उपकार्याकाङ्क्षा का शमन वाक्य २ के उपकार्यश्रवण से हो जाता है। इसी प्रकार वाक्य २ (ख) में उपकारक की आकांक्षा है और वाक्य १ (क) में उपकारक का विधान है। इसी प्रकार वाक्य २ की उपकारकाकांक्षा का उपशमन वाक्य १ के उपकारक–विधान से हो जाता है।

प्रकरण प्रमाण से वाक्य १ में विहित प्रयाज आदि वाक्य २ में विहित 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' यागों के अङ्ग होते हैं, अतएव अङ्गी हैं, एवं प्रयाज उनके अङ्ग हैं।

प्रसङ्ग—अब सर्व प्रथम प्रकरण के 'महाप्रकरण' एवं 'अवान्तरप्रकरण' दो प्रभेद बतलाकर महाप्रकरण के स्वरूप का परिचय दिया जा रहा है—

(३६—प्रकरणं द्विविधम् महाप्रकरणलक्षणञ्च)

तच्च प्रकरणं द्विविधम् । महाप्रकरणमवान्तरप्रकरणं चेति ।

तत्र मुख्यभावनासम्बन्धिप्रकरणं महाप्रकरणम् । तेन च प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम् ।

एतच्च प्रकृतावेव उभयाकाङ्क्षायाः संभवान्न तु विकृतौ । तत्र 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इत्यतिदेशेन कथंभावाकाङ्क्षाया उपशमेनापूर्वाङ्गानामप्युभयाकाङ्क्षया विनियोगासंभवात् । तस्माद-पूर्वाङ्गानां स्थानादेव विकृत्यर्थत्वम् ।

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकरण के २ भेद होते हैं—(१) महाप्रकरण और (२) अवान्तर प्रकरण । इनमें से मुख्य (स्वर्ग) भावना संबंधी प्रकरण को महा-प्रकरण कहते हैं । इसी प्रकरण प्रमाण से प्रयाज दर्शपूर्णमास के अङ्ग समझे जाते हैं ।

महाप्रकरण प्रकृति याग में ही प्रवृत्त होता है, क्योंकि अभिमत उभया-कांक्षा का होना प्रकृति याग में ही संभव है, विकृति याग में नहीं । इसका कारण यह है कि विकृतियाग में उभयाकांक्षा की शांति 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' अर्थात् 'प्रकृति के समान 'विकृति याग का अनुष्ठान करना चाहिए' इस अतिदेश वाक्य से हो जाती है, और इसीलिये नवीन अंगों का विनियोग भी उभयाकांक्षा द्वारा नहीं हो सकता । अतएव स्थान प्रमाण द्वारा ही नवीन अंग विकृति याग के अंग समझे हैं ।

अर्थबोधिनी—प्रकरण के दो प्रभेद हैं—(१) महाप्रकरण और (२) अवान्तर प्रकरण ।

जिस प्रकरण का संबन्ध मुख्य भावना अर्थात् फलभावना से होता है वह प्रकरण महाप्रकरण कहा जाता है । पिछले विभाग (संख्या ३५) में जिस प्रकरण का उदाहरण दिया गया है वह महाप्रकरण ही है । स्वर्गरूप फल मुख्य

होता है। दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य में मुख्यभावना है। 'समिधो यजति' में मुख्यभावना न होकर अंगभावना है। मुख्यभावना का संबन्ध अंगभावना से है। क्योंकि प्रकरण प्रमाण से अङ्गभावना मुख्यभावना का अंग होती है, अत: 'मुख्यभावनासंबन्धी' होने के कारण प्रकृत प्रकरण को महाप्रकरण कहा गया है। 'मुख्यभावनासम्बन्धि' की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—मुख्यभावनासंबन्ध: कस्यापि मुख्यभावनाङ्गत्वम् मुख्यभावनाङ्गत्वम् कस्यापि अस्ति अस्मिन् इति मुख्यभावनासंबन्धि=प्रकरणम्'। अर्थात् जिस प्रकरण में अंगीभूत मुख्यभावना के प्रति कोई अंग होता हुआ प्रतीत हो वह प्रकरण महाप्रकरण कहलाता है। ध्यान रहे यहाँ मुख्य का अर्थ सर्वतोमुख्य है आपेक्षिक मुख्य नहीं। प्रयाज आदि की अंगभूत क्रियायें भी प्रयाज की अंग होती हैं और प्रयाज उनके अंगी। इस अङ्गाङ्गिभाव को अंगप्रधानभाव भी कहा जा सकता है। इस दृष्टि से अंगभूत क्रियाओं के प्रति प्रयाज प्रधान या मुख्य हुए। किन्तु प्रयाज स्वयं 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' के अंग हैं, परन्तु महाप्रकरणस्थल में ऐसी मुख्यता विवक्षित नहीं है अपितु सर्वोत्कृष्ट फलसम्बन्धी मुख्यता विवक्षित है। ऐसी मुख्यता उत्पत्तिविधियों में पाई जाती है। अतएव उत्पत्तिविधि में निहित मुख्य भावना जहाँ पर किसी अंग का अंगी हो वह प्रकरण 'महाप्रकरण कहा जाता है। इस प्रकार महाप्रकरण से 'प्रयाज' 'दर्श' एवं 'पूर्णमास'—रूप अंगी के अंग होते हैं।

प्रकरण की प्रवृत्ति केवल प्रकृति याग में होती है, विकृति याग में नहीं। इसका कारण यह हैकि विकृति याग में उभयाकाङ्क्षा नहीं होती यदि विकृति याग में 'कथं भावयेत्' इस प्रकार 'कथंभाव' की आकांक्षा होती भी है तो वह आकांक्षा अतिदेश वाक्य से शान्त हो जाती है। 'प्रकृतिवद् विकृति: कर्तव्या' यह अतिदेश वाक्य है। इसका अर्थ है कि 'प्रकृति के समान विकृति याग का अनुष्ठान होना चाहिये'। इसलिये जब एक ओर आकांक्षा ही नहीं हुई, तो उभयाकांक्षा भी नहीं हुई। यही कारण है कि विकृतियाग में कोई भी प्रकरण नहीं होता। यह चाहे महाप्रकरण हो और

चाहे अवान्तर प्रकरण (अवान्तर प्रकरण का विवेचन अग्रिम विभाग में किया जायेगा)।

विकृति यागों में कुछ ऐसे नवीन अङ्गों (अपूर्वाङ्गों) का विधान मिलता है, जिनका विधान उनके प्रकृति याग में हुआ रहता है, अतएव इन अंगों के विषय में इस प्रकार फलाकांक्षा होती है कि ये नवीन अंग किस लिये हैं (एभिः किं भावयेत् ?)। इस फलाकांक्षा का शमन 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या' इस अतिदेश वाक्य से नहीं हो सकता, क्योंकि ये अंग प्रकृति में पाये ही नहीं जाते हैं। क्या यहाँ उभयाकांक्षा से प्रकरण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि यहाँ फलाकांक्षा अवश्य है फिर भी कथंभावाकांक्षा नहीं है, क्योंकि कथंभावाकांक्षा यदि होगी तो उसका शमन अतिदेश वाक्य से हो जायेगा। इस प्रकार यहाँ केवल एक आकांक्षा—'फलाकांक्षा' हुई। परस्पर उभय—दो आकांक्षायें नहीं हुईं। अतएव यहाँ प्रकरण की प्रवृत्ति नहीं होगी और 'नवीन अंग विकृति याग के अंग होते हैं' यह निश्चय 'स्थान' प्रमाण से होता है। स्थान प्रमाण का विवेचन विभाग (४१–४५) में किया गया है[१]।

उदाहरण के लिये उक्त विषय को इस प्रकार समझा जा सकता है— 'सौर्यं' एक विकृति याग है। इसका प्रकृति याग–दर्शपूर्णमास है। विकृति याग सौर्य के अन्तर्गत 'उपहोम' आदि कई नवीन क्रियाओं का विधान है। 'उपहोम' आदि का विधान दर्शपूर्णमास में नहीं है, अतएव 'उपहोमादिक्रियाभिः किं भावयेत्' द्वारा फलाकांक्षा होती है जिसका शमन अतिदेश वाक्य से नही हो सकता। कारण, उपहोम आदि क्रियायें प्रकृति याग में श्रुत नहीं हैं। इस प्रकार प्रकृत स्थल में एक आकांक्षा होती है, दूसरी–कथंभावाकांक्षा नहीं होती है, क्योंकि 'सौर्यं यागेन कथंभावयेत' इस कथंभावाकांक्षा का शमन अति देश वाक्य से ही हो जाता है। अतएव यहां उभयाकांक्षा नहीं रह पाती है जिससे प्रकरण हो सके।

१—देखिये विभाग संख्या–४३

प्रश्न है कि 'उपहोम' आदि अपने विकृति याग—'सौर्य' के अङ्ग किस प्रमाण से समझे जाते हैं ? उत्तर है— 'स्थान प्रमाण से'। स्थान प्रमाण का विवेचन विभाग (४१-४५) में किया जायेगा।

प्रसङ्ग—अब अवान्तर प्रकरण का लक्षण किया जा रहा है—

(३७—अवान्तरणप्रकरणलक्षणम्)

अङ्गभावनासंबन्धिप्रकरणमवान्तरप्रकरणम्। तेन चाभिक्रमणादीनां प्रयाजाद्यङ्गत्वम्। तच्च संदंशेनैव ज्ञायते। तदभावे चाविशेषात् सर्वेषां फलभावनाकथंभावेन ग्रहणप्रसङ्गेन प्रधानाङ्गत्वापत्तेः।

अर्थ—अङ्गभावना से संबन्धित प्रकरण को अवान्तर प्रकरण कहते हैं। इसी अवान्तरप्रकरण से अभिक्रमण आदि क्रियायें प्रयाज आदि यागों का अंग समझी जाती हैं। इस प्रकार के अङ्गत्व का बोध संदंश के द्वारा होता है, क्योंकि संदंश के अभाव में प्रयाज, अभिक्रमण एवं इसी प्रकार की सभी क्रियायें फलाकांक्षा में अन्वित होने लगेंगी और प्रधान का अङ्ग होने लगेंगी।

अर्थबोधिनी—अवान्तर प्रकरण होने के लिये यह आवश्यक है कि १—उभयाकांक्षा हो और २—अङ्गक्रियाय अङ्गभावना का अङ्ग हों अर्थात् इस स्थल में अंगीभूत क्रिया भी किसी का (अपने प्रधान का) अङ्ग होती है।

उदाहरण के लिये दर्शपूर्णमास के अङ्ग-रूप में प्रयाज आदि क्रियाओं का 'प्रयाजाः कर्तव्याः' इस प्रकार विधान है। इसी प्रसंग में 'अभिक्रमण' (परिभ्रमण) आदि क्रियाओं का विधान है। अतएव 'प्रयाजैः कथं भावयेत्' इस प्रकार कथंभावाकांक्षा एवं 'अभिक्रमणादिभिः किं भावयेत्' इस प्रकार उपकार्याकांक्षा होती है। अतः यहाँ परस्पर दोनों की आकाङ्क्षा (उभयाकाङ्क्षा) स्पष्ट है, क्योंकि एक की आकांक्षा की शान्ति दूसरे से इस प्रकार होती है—'अभिक्रमणादिभिः प्रयाजापूर्वं भावयेत्' एवं 'अभिक्रमणादिभिः

प्रयाजानुष्ठानं भावयेत्' । यहाँ साध्य होने के कारण 'प्रयाज' अंगी है एवं 'अभिक्रमण' आदि अंग । यहाँ के अंगीभूत प्रयाज भी दर्शपूर्णमास के अंग हैं, अतएव यहाँ का प्रकरण 'अङ्गभावनासबन्धि प्रकरण' हुआ । इसी को अवान्तर प्रकरण कहते है ।

यदि संदंश द्वारा अंगाङ्गिभाव का वोध न स्वीकार किया जायेगा तो दर्शपूर्णमास के अंगभूत अभिक्रमण आदि भी प्रयाज की भाँति साक्षात् रूप से दर्शपूर्णमास के अंग होने लगेंगे, किंतु ऐसा नहीं होता । जैसे प्रयाज दर्श-पूर्णमास के अंग हैं वैसे अभिक्रमण आदि क्रियायें भी दर्शपूर्णमास का अंग होंगी, क्योंकि 'संदंश' जिसके द्वारा अभिक्रमण आदि प्रयाज के अंग समझे जाते थे—अस्वीकृत हो गया है । इस प्रकार दर्शपूर्णमास में विहित कोई भी क्रिया साक्षात् दर्शपूर्णमास का ही अंग हो जायेगी प्रयाजादि के द्वारा नहीं होगी । फिर प्रयाजादि के प्रसंग में अभिक्रमण आदि का पाठ ही व्यर्थ हो जायेगा और कोई भी क्रिया प्रयाज आदि का अङ्ग न हो सकेगी । किंतु ऐसा नहीं माना जा सकता । अतएव 'संदंश' के द्वारा अंगवोध सिद्ध होता है ।

प्रसंग – अब संदंश का लक्षण किया जा रहा है :—

(३८—संदंशलक्षणं तदुदाहरणञ्च)

एकाङ्गानुवादेन विधीयमानयोरङ्गयोरन्तराले विहितत्वं संदंशः यथाभिक्रमणे । तद् हि 'समानयते जुह्वाम् उपभृतस्तेजो वा' इत्यादिना प्रयाजानुवादेन किंचिदङ्गं विधाय विधीयते 'यस्यैवं विदुषः प्रयाजा इज्यन्ते प्रैभ्यो लोकेभ्यो भ्रातृव्यान् नुदते'[1] । अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै' इति । तदनन्तरं 'यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेद' इत्यादिना किंचिदग विधीयते । अतः प्रयाजाङ्गमध्ये

१—'नुदते' के स्थान पर 'तुदते' पाठ भी प्राप्त होता है । 'तुदते' का अर्थ 'व्यथयति' होता है ।

विहितमभिक्रमणं तदङ्गम् । 'प्रयाजैरपूर्वं कृत्वा यागोपकारं भावयेत् ।' इति ज्ञाते 'कथमेभिरपूर्वं कर्तव्यम्' इति कथंभावाकाङ्क्षायाः सत्त्वात् । सा च संदंशपठितैरभिक्रमणादिभिःशाम्यति । न चाङ्गभावनायाः कथंभावाकाङ्क्षाभावः; भावनासामान्येन तत्रापि तत्संभवात् ।

अर्थ—किसी मुख्य याग के एक अंग का अनुवाद करके विधीयमान दो अङ्गों के बीच में किसी क्रिया के विहित होने को संदंश कहते हैं। उदाहरण के लिये अभिक्रमण स्थल में संदंश होता है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है–सर्वप्रथम प्रयाज के एक अङ्ग का अनुवाद 'समानयते जुह्वाम् उपभृतस्तेजो वा' इस विधि वाक्य से किया जाता है। इस वाक्य का अर्थ है–'उपभृत्' नामक पात्र से 'जुहू' में घी लाये।' इसके पश्चात् 'अभिक्रमण' नामक क्रिया का विधान 'यस्यैवं विदुषः प्रयाजा इज्यन्ते प्रैभ्यो लोकेभ्यो भ्रातृव्यान् नुदते अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै' इस वाक्य से किया जाता है। इस वाक्य का अर्थ है—'इस प्रकार जानने वाला पुरुष यदि प्रयाजों का अनुष्ठान करता है तो वह इन लोकों से शत्रुओं को भगा देता है, विजय के लिए अभिक्रमण याग का अनुष्ठान करना चाहिये।' इसके पश्चात् प्रयाज के एक अङ्ग का विधान 'यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेद' (जो प्रयाजों के मिथुन को जानता है) इत्यादि वाक्य से किया जाता है। अतएव प्रयाज के दो अङ्गों–घृतानयन एवं मिथुनवेद–के मध्य पठित 'अभिक्रमण' क्रिया भी संदंशन्याय से प्रयाज का अंग समझी जाती है। 'प्रयाजाः कर्तव्याः, विधि के अर्थबोध वाक्य –प्रयाजैरपूर्वं कृत्वा यागोपकारं भावयेत्' होने पर 'कथमेभिरपूर्वं कर्तव्यम्' इस प्रकार कथंभावाकांक्षा होने लगती है। इस कथंभावाकांक्षा की शान्ति संदंशपठित अभिक्रमण आदि क्रियाओं से होती है। यह भी कहना उचित नहीं कि अंगभावना में कथंभावाकांक्षा नहीं होती। यह इसलिये कि प्रत्येक भावना में कथंभावाकांक्षा रहती है, अंगभावना भी एक भावना ही है अतएव उसमें भी कथंभावाकांक्षा होगी।

अर्थबोधिनी—'संदंश' शब्द का अर्थ सँडसी होता है। चूल्हे आदि पर चढ़े हुये गर्म पात्र संदंश (सँडसी) से पकड़कर उतारे जाते हैं। 'संदेश' में लोहे की दो शलाकायें होती हैं जिनके बीच में स्थित पात्र उन दोनों शलाकाओं के वाहर बिल्कुल नहीं जा पाता है अतः संदंश से पात्र उठाते समय हाथ से जितनी क्रिया संदंश में होती है उतनीं पात्र में भी होती है और वह पात्र उन दो शलाकाओं से वाहर नहीं जा पाता है, इसलिए नहीं गिरता। और यदि कदाचित् असावधानी हो जाती है,ठीक प्रकार से उन दो शलाकाओं के बीच में पात्र नहीं रह पाता है तो वह गिर जाता है। इसी प्रकार यज्ञ संवन्धी विधान के अवसर पर जहाँ किसी एक अङ्गी के दो अङ्ग कहे जाते हैं और उन दोनों के बीच कोई तीसरी क्रिया कही जाती है तो वह तीसरी क्रिया जिसमें पहिले उन दोनों क्रियाओं के अंगी के अंगत्व का निर्णय नहीं रहता है वहाँ मध्यवर्ती क्रिया भी उन्हीं दोनों पूर्वांपरवर्ती क्रियाओं के अंगी का ही अंग मानी जाती है, क्योंकि दोनों क्रियायें सँडसी के शलाकाद्वयस्थानीय और मध्यवर्ती वह क्रिया उत्तारणीय पात्रस्थानीय हो जाती है। अतः वह मध्यवर्ती क्रिया दोनों ओर की क्रियाओं के स्वभाव से वैजात्य नहीं रख पाती है, इसीलिए उन दोनों की तरह वह मध्यवर्ती क्रिया भी उन दोनों क्रियाओं के अंगी का ही अंग होती है।

उदाहरण द्वारा इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—'दर्श' एवं 'पूर्णमास' प्रधान याग हैं, दर्शपूर्णमास के अंग प्रयाज हैं। प्रयाज ५ क्रियाओं का समूह हैं[1]। अंगभूत प्रयाज-रूप क्रिया-समूह का विधान (वाद) 'प्रयाजाः कर्तव्याः' विधि द्वारा किया जाता है। इसी को 'एकांगवाद' कहा जाता है। पुनः प्रयाजसमूह की क्रियाओं का पृथक्-पृथक् विधान 'समिधो यजति' आदि वाक्यों से होता है। इसी पुनर्विधान को 'अनुवाद' कहा जाता हैं। इस प्रकार 'समिधो यजति' आदि वाक्यों से 'एकांगानुवाद' हुआ।

१—'समिधो जयति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति स्वाहाकारं यजति'।

इसके पश्चात् प्रयाज की एक अंगक्रिया का विधान' समानयते जुह्वाम् उपभृतस्तेजो वा' इस मंत्र से किया जाता है। इस क्रिया को 'घृतानयन' कहते हैं, क्योंकि यहाँ 'उपभृत्' नामक पात्र से घी लाकर 'जुहू' में रखा जाता है।

इसके पश्चात् अभिक्रमण क्रिया का विधान 'यस्यैवं विदुषः प्रयाजा इज्यन्ते, प्रैभ्यो, लोकेभ्यो भ्रातृव्यान् नुदते। अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै।' इस विधि से किया जाता है। इस क्रिया को अभिक्रमण कहते हैं, क्योंकि इसमें आहवनीयाग्नि के चारों ओर भ्रमण—परिभ्रमण करते हुए यागानुष्ठान किया जाता है। अभी यह निश्चय नहीं है कि 'अभिक्रमण' किसका अङ्ग है, यही निश्चित करना है।

इसके अनन्तर प्रयाज की एक अंगक्रिया का विधान 'यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेद' इस विधि से किया जाता है। इस अङ्ग का नाम 'मिथुनवेदन है।

उक्त तीनों क्रियाओं का क्रम इस प्रकार है—

१–घृतानयन—प्रयाज की अंग क्रिया।

२—अभिक्रमण—?

३—मिथुनवेदन—प्रयाज की अंग क्रिया।

उक्त स्थिति को संदशस्थिति कहा जाता है। यदि 'घृतानयन' संदेश की एक शलाका है तो 'मिथुनवेद' दूसरी शलाका। 'अभिक्रमण' पात्रस्थानीय है।

ऐसी स्थिति में 'अभिक्रमण' भी प्रयाज का अंग होगी, क्योंकि वह प्रयाज के अंगों के बीच में पठित है। प्रयाज के अङ्गों के बीच में पठित होने से अभिक्रमण क्रिया भी प्रयाज का अंग होगी। ध्यान रहे अभिक्रमण न तो घृतानयन का अंग होगी और न मिथुनवेदन का अपितु प्रयाज का, क्योंकि घृतानयन एवं मिथुनवेदन भी प्रयाज के अंग हैं और इन्हीं दो के बीच में 'अभिक्रमण' का पाठ मिलता है।

प्रकरण होने के कारण अवान्तर प्रकरण भी उभयाकांक्षात्मक है। प्रयाजभावना में कथंभावाकांक्षा पाई जाती है। 'प्रयाजाः कर्तव्याः' का अभिप्राय यह है कि प्रयाज का सम्पादन करके जो अपूर्व उत्पन्न हो उसके

अंगीभूत दर्शपूर्णमास का उपकार हो। प्रयाजों के द्वारा अपूर्व कैसे (कथम्) उत्पन्न किया जाये ('प्रयाजैरपूर्वं कृत्वा यागोपकारं भावयेत्' इति ज्ञाते कथमेभिरपूर्वं कर्तव्यम्, इति कथंभावाकाङ्क्षायाः सत्वात्)। इधर 'अभिक्रमण' क्रिया का भी कुछ साध्य होना चाहिए, अतएव अभिक्रमणभावना साध्य की अपेक्षा रखती है, जिसका स्वरूप इस प्रकार होगा– 'अभिक्रमणेन किं भावयेत्'।

प्रयाजभावना की कथंभावाकाङ्क्षा–'एभिः अपूर्वं कथं कर्तव्यम्' का शमन 'अभिक्रमणानुष्ठानेन अपूर्वं कर्तव्यम्' से हो जाता है। इस प्रकार अवान्तर प्रकरण में प्रयाज एवं अभिक्रमण दोनों परस्पर साकांक्ष हुए।

प्रयाज दर्शपूर्णमास के अंग हैं, अतएव प्रयाजभावना अंगभावना हुई। पूर्वपक्षी का आक्षेप है कि अंगभावना को कथंभावाकांक्षा की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए[1], क्योंकि अंगभावना स्वयं अपनी प्रधान भावना की कथंभावाकांक्षा का उपशमन करती है। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां कथं स्वर्गं भावयेत्' इस प्रकार कथंभावाकांक्षा होने पर 'प्रयाजोपकृताभ्यां दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' इस प्रकार कथंभावाकांक्षा का उपशमन ही प्रयाजों का प्रयोजन है।

सिद्धांती का उत्तर है कि 'भावना कथंभावाकांक्षायुक्त होती है' यह एक सामान्य नियम है, अतएव कैसी भी भावना हो चाहे वह अंगभावना हो या प्रधान उसमें कथंभावाकांक्षा अवश्य होगी। प्रयाजभावना भी भावना ही है, अतएव उसमें भी कथंभावाकांक्षा होगी[2]।

१–'प्रयाजादिभावना कथंभावाकाङ्क्षाशून्या अंगभावनात्वात्'।
(कौमुदी –पृष्ठ ९७)

१–'प्रयाजाद्यङ्गभावना कथंभावसाकाङ्क्षा भावनात्वाद् दर्शादिभावनावदिति प्रयोगोऽत्र बोध्यः।'
(कौमुदी पृष्ठ ९७)

प्रसङ्ग—प्रकरण के द्वारा क्रिया का ही साक्षात् भाव से विनियोग होता है. द्रव्य एवं गुण का विनियोग क्रिया के माध्यम से परंपरया होता है, इस विषय का विवेचन किया जा रहा है––

(३९–प्रकरणं क्रियाया एव साक्षाद् विनियोजकम्)

तदिदं प्रकरणं क्रियाया एव साक्षाद्विनियोजकं द्रव्यगुणयोस्तु तद्द्वारा। तथा हि। 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यत्र फलभावनायां कथंभावाकाङ्क्षायां सन्निधिपठिताश्रूयमाणफलकं क्रियाजातमुपकार्याकाङ्क्षयेतिकर्तव्यतात्वेनान्वेति। क्रियाया एव लोके कथंभावाकाङ्क्षायामन्वयदर्शनात्। नहि 'हस्तेन कुठारेण च्छिन्द्यात्' इत्यत्र कथंभावाकाङ्क्षायामुच्चार्यमाणोऽपि हस्तोऽन्वेति। किंतु हस्तेनोद्यम्य निपात्येति उद्यमननिपातने एव। हस्तश्च तद्द्वारैवान्वेतीति सार्वजनीनमेतत्।

अर्थ––पूर्वोक्त द्विविध प्रकरण द्वारा क्रिया ही साक्षात् रूप से विनियुक्त (अङ्गभावापन्न) समझी जाती है, द्रव्य एवं गुण तो क्रिया द्वारा परपरया विनियुक्त अर्थात् अङ्गभूत समझे जाते हैं। उदाहरण के लिए 'यजेत स्वर्गकामः' एक विधि है। यहाँ याग से 'स्वर्गरूपफल का सम्पादन कैसे करना चाहिए' इस प्रकार फलभावना में कथभावाकांक्षा होने पर 'यजेत स्वर्गकामः' इस विधि के समीप में पठित वह 'क्रिया का समूह' जिसके फल का निर्देश नहीं किया गया है, उपकार्य (अङ्गीयाग) की आकांक्षा से इतिकर्तव्यता के रूप में अन्वित होता है। लोक में भी 'यह काम कैसे करें' इस तरह कथंभावाकांक्षा होने पर क्रिया का ही अन्वय देखा जाता है। अगर कोई कहे कि–'हस्तेन कुठारेण छिन्द्याद्' अर्थात् 'हाथ से कुल्हाड़े के द्वारा लकड़ी काटनी चाहिये' यहाँ 'कैसे काटे' ? इस प्रकार कथंभावाकांक्षा होने पर हाथ (द्रव्य) भी अन्वित हो जाता है, क्रिया तो नहीं अन्वित होती है–तो यह कथन भी समीचीन नहीं। कारण, उक्त प्रकार से कथंभावाकांक्षा होने पर 'हाथ

से कुल्हाड़े को उठाकर और गिराकर काटे इस प्रकार उठाना (उद्यमन) और गिराना (निपातन) ये क्रियायें ही साक्षात् रूप से अन्वित होती हैं। हाथ तो उद्यमननिपातन–रूप क्रिया के द्वारा ही परंपरया अन्वित होता है, यह बात सभी लोग जानते हैं।

अर्थबोधिनी—अन्य प्रमाणों की भाँति महाप्रकरण और अवान्तरप्रकरण दोनों प्रकरणों के द्वारा अङ्गाङ्गिभाव का बोध होता है। किन्तु जहां श्रुति एवं लिंग आदि अन्य प्रमाणों से गुण (आरुण्य, संख्या), द्रव्य (व्रीहि), क्रिया (प्रोक्षण), लिङ्ग (पुंस्त्व) एवं मंत्र आदि अंग रूप में समझे जाते हैं वहां दोनों प्रकार के प्रकरण प्रमाणों से क्रिया ही अंगरूप में समझी जाती है, अर्थात् प्रकरण साक्षात् रूप से केवल क्रिया के विनियोजक होते हैं। इसका अर्थ वह नहीं कि प्रकरणप्रमाणस्थल में द्रव्य एवं गुण का विनियोग होता ही नहीं। द्रव्य एवं गुण का विनियोग परंपरया क्रिया के माध्यम से होता है और क्रिया का विनियोग साक्षात् रूप से होता है।

इसका कारण यह है कि प्रकरणस्थल में सर्वत्र उभयाकांक्षा होती है और अंगी क्रिया की ओर से कथंभावाकांक्षा होती है कि 'अंगी क्रिया के फल का सम्पादन किस प्रकार करना चाहिए।' जैसे 'यजेत स्वर्गकामः' वाक्य में 'यागेन स्वर्गं कथं भावयेत्' इस प्रकार 'कथंभाव' की आकांक्षा है अथवा 'प्रयाजाः कर्तव्याः' इस प्रकार विधान होने पर 'प्रयाजैः कथम् अपूर्वं भावयेत्' इस प्रकार कथंभावाकांक्षा होती है। इस तरह हम देखते हैं कि अङ्गीभूत क्रियाभावना सदैव 'कथंभाव' की आकांक्षा से युक्त रहती है। इस आकांक्षा की शान्ति 'अङ्ग' से होती है। अंग से 'कथंभावाकांक्षा' की शान्ति तभी हो सकती है जब अंग 'क्रिया' हो, क्योंकि 'कैसे ?' या 'किस प्रकार ?' करें का उत्तर क्रिया ही हो सकता है। वस्तुतः 'कैसे ?' या 'किस प्रकार ?' करें के मूल में क्रियासम्पादनप्रकार की आकांक्षा निहित है जिसका शमन किसी क्रिया से ही हो सकता है।

उदाहरण के लिये यदि यह कहा जाये कि 'कुल्हाड़े से काटो' और इस पर

भी कोई पूछ बैठे कि 'किस तरह या कैसे काटें ?' तो इसका उत्तर होगा– 'कुल्हाड़े को उठाकर और गिराकर उससे काटो'। इस प्रकार 'कैसे ?' का उत्तर 'उठाना गिराना' ये क्रियायें हुईं। 'किस तरह काटे ?' का उत्तर 'हाथ से' यह नहीं होगा, क्योंकि यह उत्तर तो 'किससे' या 'किसके द्वारा' इस प्रश्न का होगा और वह भी 'उठाने गिराने' के सम्बन्ध में। अर्थात् यदि यह प्रश्न हो कि 'किससे उठायें गिरायें ?' तो उत्तर होगा 'हाथ से'। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'किस तरह काटे ?' का उत्तर 'उठाना गिराना' क्रियायें हैं न कि हाथ। हाँ, हाथ 'उठाने गिराने' क्रियाओं का अंग होने से उद्यमन निपातन क्रिया के द्वारा (परम्परया) छेदनात्मक मुख्य क्रिया से अन्वित होता है, साक्षात् रूप से नहीं, साक्षात् रूप से अन्वय क्रिया का होता है। उक्त लौकिक दृष्टान्त से सभी लोग परिचित हैं। इसी के आधार पर यह समझ लेना चाहिये कि प्रकरणस्थल में भी क्रिया ही साक्षात् रूप में विनियुक्त होती है, एवं द्रव्य तथा गुण क्रिया के द्वारा अन्वित होते हैं, साक्षात् रूप में नहीं।

प्रसंग—अब प्रकरण एवं स्थान प्रमाण के बलाबल पर विचार किया जा रहा है––

(४०—प्रकरणस्य स्थानादिभ्यो बलवत्त्वम्)

इदं च स्थानादिभ्यो बलवत। अत एव 'अक्षैर्दीव्यति' 'राजन्यं जिनाति' इति देवनादयो धर्मा अभिषेचनीयसन्निधौ पठिता अपि स्थानान्न तदङ्गं, किन्तु प्रकरणाद्राजसूयाङ्गम्।

अर्थ—यह प्रकरण स्वपरवर्ती स्थान आदि सभी प्रमाणों से बलवान् होता है, इसीलिये 'अक्षैर्दीव्यति' (अर्थ–गोटों से जुआ खेलता है') और 'राजन्यं जिनाति' (अर्थ—राजा को जीतता है) इस प्रकार देवन (जुआ खेलना) आदि धर्म अभिषेचनीय क्रिया के समीप पठित होने पर भी 'स्थान प्रमाण से उस 'अभिषेचनीय क्रिया' का अंग नहीं होते हैं अपितु प्रकरण प्रमाण से राजसूय के अंग होते हैं।

अर्थबोधिनी—प्रकरण प्रमाण स्वपरवर्ती 'स्थान' एवं 'समाख्या' नामक

प्रमाणों से अधिक वलवान् होता है। प्रकरण केवल उक्त दो प्रमाणों से बलवान् है, अतएव ग्रंथकार को 'स्थानादिभ्यो' इस वहुवचनान्त पद का प्रयोग नहीं करना चाहिये था। हाँ, स्थान प्रमाण के तीन प्रभेद और समाख्या प्रमाण के दो प्रभेद, इस प्रकार कुल मिलाकर पाँच प्रभेदों की दृष्टि से वहुवचनान्त 'स्थानादिभ्यो' पाठ को उचित माना जा सकता है।

प्रकरण स्थान प्रमाण से अधिक वलवान् है, इस कथन की पुष्टि में दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है। 'राजसूय' एक याग है जिसके अन्तर्गत अनेक याग (याग समूह) हैं जिसमें से एक 'अभिषेचनीय' नामक सोमयाग भी है। इसी अभिषेचनीय याग के समीप 'अक्षैर्दीव्यति, राजन्यं जिनाति, शौनश्शेपमाख्यापयति' इस मंत्र का पाठ है। इस मंत्र से जुआ खेलना (देवन), ज्यान (जीतना) एव आख्यापन आदि धर्मों का विधान है[1]। 'अभिषेचनीय' ज्योतिष्टोम का विकृति याग भी है।

अव प्रश्न यह है कि 'अक्षैर्दीव्यति' इत्यादि मंत्र द्वारा विहित देवन (जुआ खेलना) आदि धर्म प्रकरण प्रमाण से राजसूयवोध्य सभी यागों के अंग होंगे या स्थान प्रमाण से केवल अभिषेचनीय के ? 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' यह विधि है। इसका अर्थबोधवाक्य इस प्रकार होगा—'राजा राजसूययागेन स्वाराज्यं भावयेत्' यहाँ भावना कथंभावाकांक्ष है अर्थात् 'राजसूय यागेन स्वाराज्यं कथं भावयेत्' इस प्रकार इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होती

१—'अस्ति राजसूयः, 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इत्यनेन स्वाराज्यरूपफलोद्देशेन विहितः। तत्र अनुमत्यादय इष्टयः, पञ्चवातीयादयो दर्वीहोमाः, 'आदित्यां मल्हां गर्भिणीमालभते' इत्यादयः पशुयागाः, पवित्राभिषेचनीयदशपेयकेशवपनीयव्युष्टिद्विरात्रक्षत्रधृतिसंज्ञकाः षट् सोमयागाश्च विहिताः। तत्र अभिषेचनीयाख्यसोमयागसन्निधौ अक्षैर्दीव्यति, राजन्यं जिनाति, शौनश्शेपमाख्यापयत' इत्यादिभिः अक्षदेवनराजन्यजयादयः श्रूयन्ते त इत्यर्थः।'

(सारविवेचिनी, पृष्ठ ६८–६९)

है। इस इतिकर्तव्यता की आकांक्षा का शमन देवन आदि धर्मों से होता है। इधर देवन आदि धर्मों में भी साध्याकांक्षा है, अर्थात् 'इनसे क्या किया जाये? इसलिये यहाँ उभयाकांक्षा होने से प्रकरण मान्य होता है और प्रकरण द्वारा देवनादि धर्म राजसूय के अंग समझे जाते हैं,[1] अर्थात् देवनादि धर्म राजसूय के अन्तर्गत सभी यागों के अंग होते हैं इन्हीं यागों में से अभिषेचनीय भी अन्यतम है। अभिप्राय यह है कि प्रकरण प्रमाण से देवनादि धर्म—राजसूय की सभी इकाइयों का, जिनमें अभिषेचनीय याग भी एक इकाई है—अंग होते हैं।

अभिषेचनीय और देवनादि धर्मों के वीच उभयाकांक्षा नहीं है, क्योंकि अभिषेचनीय ज्योतिष्टोम का विकृति याग है, अतएव अभिषेचनीय की कथंभावाकांक्षा का शमन 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस अतिदेशवाक्य से हो जाता है।[2] अतएव उभयाकांक्षा न होने से अभिषेचनीय एवं देवनादि धर्मों के अंगांगिभाव के निश्चय में प्रकरण प्रमाण प्रवृत्त नहीं हो सकता।

यद्यपि अभिषेचनीय कथंभावाकांक्ष नहीं है तथापि इसके समीप देवनादि धर्मों का पाठ पाया जाता है, इसलिये यदि कथमपि उसे कथंभावाकांक्ष एवं देवनादि धर्मों को आकांक्षाशामक मान लिया जाये तो अभिषेचनीय एवं देवनादि धर्मों के वीच अगांगिभाव का निश्चय किया जा सकता है। उक्त स्थिति स्थान प्रमाण द्वारा मान्य होती है। इसके पश्चात् (१) उभयाकांक्षा रूप प्रकरण, (२) वाक्य, (२) लिंग एवं (४) श्रुति की कल्पना करनी पड़ती है तक कहीं जाकर विनियोग होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थान प्रमाण से विनियोग मानने पर स्थान

१—प्रकरण से (१) वाक्य की कल्पना (२) लिंग की कल्पना एवं (३) श्रुति की कल्पना होकर विनियोग होता है।

२—'अभिषेचनीयस्याव्यक्तचोदनाचोदितत्वेन ज्योतिष्टोमविकारत्वात्प्राकृतैरेव धर्मैर्निराकाङ्क्षत्वात्'।

(मीमांसान्यायप्रकाश, पृष्ठ ६८–६९)

एव विनियोग के बीच चार प्रमाणों का व्यवधान है जब कि प्रकरण प्रमाण से विनियोग मानने पर प्रकरण और विनियोग के बीच केवल तीन प्रमाणों का। प्रकरण स्थान की अपेक्षा विनियोग के अधिक समीप है, अतएव अधिक बलवान् है। इसीलिये देवनादि धर्म प्रकरण से राजसूय (राजसूयगत सभी यागों का जिसमें अभिषेचनीय भी एक है) के अंग होते हैं, स्थान प्रमाण से (केवल) अभिषेचनीय के ही अंग नहीं।

प्रसंग—अब स्थान प्रमाण का लक्षण एवं उसके प्रभेदों का निरूपण प्रस्तुत है—

(४१—स्थानलक्षणम्)

देशसामान्यं स्थानम् । तद् द्विविधं पाठसादेश्यमनुष्ठानसादेश्यं चेति । स्थानं क्रमश्चेत्यनर्थान्तरम् । पाठसादेश्यमपि द्विविधं यथासङ्ख्यपाठः संनिधिपाठश्चेति ।

अर्थ-देश की समानता को स्थान प्रमाण कहते हैं। स्थानप्रमाण के दो भेद होते हैं-(१) पाठसादेश्य एवं (२) अनुष्ठानसादेश्य। 'स्थान' एवं 'क्रम' शब्द एकार्थवाची हैं अर्थात् प्रकृत स्थल में 'स्थान' शब्द का अर्थ क्रम है। पाठसादेश्य के भी दो प्रभेद होते हैं—(१) यथासंख्य पाठ और (२) सन्निधि पाठ।

अर्थबोधिनी—देश की समानता अर्थात् स्थान की समानता को 'स्थान' प्रमाण कहते हैं। उदाहरण के लिए, जैसा कि पिछले विभाग में प्रतिपादित किया गया है, 'अभिषेचनीय' याग एव देवनादि धर्मों का पाठ समान देश अर्थात् एक ही स्थान पर पाया जाता है। अतएव 'स्थान की समानता' को स्थान प्रमाण माना गया है। स्थान का अर्थ क्रम भी होता है अतएव जो विनियोग क्रम के आधार पर होता है उसे स्थानप्रमाणबोध्य मानना चाहिये। स्थान प्रमाण के दो भेद है (१) पाठसादेश्य' एवं (२) 'अनुष्ठानसादेश्य'। 'पाठसादेश्य' के भी दो भेद है—(१) यथासंख्यपाठ और (२) 'सन्निधिपाठ'। इन सभी प्रभेदों का विवरण अग्रिम विभागों में प्राप्त होता है।

प्रसंग—पहिले 'पाठसादेश्य' के प्रथम प्रभेद 'यथासंख्यपाठ' के स्वरूप का प्रतिपादन किया जा रहा है—

(४२–यथासंख्यपाठाद्विनियोगः)

तत्र 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्' 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' इत्येवं क्रमविहितेषु 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' इत्यादीनां याज्यानुवाक्यामन्त्राणां यथासंख्यं प्रथमस्य प्रथमं द्वितीयस्य द्वितीयमित्येवंरूपो विनियोगो यथासंख्यपाठात् । प्रथमपठित-मंत्रस्य हि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां प्रथमतो विहितं कर्मैव प्रथम-मुपतिष्ठते समानदेशत्वात् । एवं द्वितीयमन्त्रस्यापि ।

अर्थ—यथासंख्य से होने वाले विनियोग को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझना चाहिए—'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्' एवं 'वैश्वानरं द्वादशक-पालं निर्वपेत्' इन दो विधियों का क्रमशः पाठ प्राप्त होता है । इन विधियों का अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—'इन्द्र एवं अग्नि के लिए ११ कपालों में निर्मित पुरोडाश का निर्वाप करना चाहिए' एब 'वैश्वानर के लिए १२ कपालों में तैयार किये गये पुरोडाश का निर्वाप करना चाहिये' । उक्त दो विधि वाक्यों के पश्चात् 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' (अर्थ—'इन्द्र एवं अग्नि द्युलोक के प्रकाशक हैं) आदि याज्यानुवाक्या मंत्रों का पाठ मिलता है। अब यथासंख्यपाठ से यह बोध होता है कि प्रथम मंत्र प्रथमविधिबोध्य क्रिया का अङ्ग और द्वितीय मन्त्र द्वितीयविधिबोध्य क्रिया का अङ्ग है। यह इसलिए है कि प्रथम मंत्र के विषय में 'यह मंत्र किसके लए है' इस प्रकार कैमर्थ्याकाङ्क्षा होने पर प्रथमपठित क्रिया ही पहिले बुद्धि में उपस्थित होती है, क्योंकि जैसे यह मंत्र पहिले स्थान पर है वैसे क्रिया भी प्रथमस्थानीय है। इसी प्रकार दूसरे मन्त्र के विषय में भी समझ लेना चाहिये ।

अर्थबोधिनी—'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्' (मैत्रायणी संहिता–२।१।१) एवं 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' (मैत्रायणी संहिता –२।१।२) इन दो विधियों द्वारा क्रमशः ऐन्द्राग्न याग एवं वैश्वानर याग का विधान प्राप्त होता है। पुनः मैत्रायणी संहिता (४।११) में ही दो याज्यानुवाक्या[1] संज्ञक युग्म (जोड़ा) मन्त्रों का पाठ क्रमशः 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' एवं 'वैश्वानरोऽजीजनत्' आदि से प्रारम्भ होते हुए प्राप्त होते हैं। उक्त विषय को स्पष्टरूपेण इस प्रकार समझा जा सकता है—

याग पाठ की क्रम संख्या

संख्या १—ऐन्द्राग्न याग

संख्या २—वैश्वानर याग

याज्यानुवाक्या मंत्र पाठ की क्रम संख्या

संख्या १—'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' आदि से प्रारम्भ किया गया 'याज्यानुवाक्या'।

संख्या २—'वैश्वानरोऽजीजनत्' आदि से प्रारम्भ किया गया याज्यानुवाक्या।

'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' आदि प्रथमस्थानीय मन्त्र पढ़ते समय यह जिज्ञासा होती है कि इस मन्त्र का फल क्या है? यह मन्त्र किमर्थक—किं प्रयोजनक है? इस प्रकार कैमर्थ्याकांक्षा होने पर आकांक्षा की शान्ति प्रथम-स्थानीय ऐन्द्राग्न याग से होती है। जैसा कि ऊपर क्रम संख्या से स्पष्ट हो गया है कि 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' की संख्या १ है और ऐन्द्राग्न याग की भी संख्या १ है। इस प्रकार 'यथासंख्यपाठ' द्वारा 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' आदि याज्यानुवाक्या मन्त्र 'ऐन्द्राग्न याग' के मन्त्र होते हैं।

इसी प्रकार (संख्या–२) 'वैश्वानरोऽजीजनत्' आदि याज्यानुवाक्या मन्त्र वैश्वानर याग (संख्या २) के अङ्ग होते हैं।

१—'याज्या' संज्ञक मन्त्रों का उच्चारण यागानुष्ठान काल में किया जाता है। 'अनुवाक्या' संज्ञक मन्त्रों से देवता का आह्वान किया जाता है।

प्रसंग—संप्रति 'पाठसादेश्य' के द्वितीय प्रभेद 'सन्निधिपाठ' के स्वरूप का निरूपण क्रम-प्राप्त है–

(४३—सन्निधिपाठाद् विनियोगः)

वैकृताङ्गानां प्राकृताङ्गानुवादेन विहितानां संदंशपतितानां विकृत्यर्थत्वं सन्निधिपाठात् यथा आमनहोमानाम् । तेषां हि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां फलं विकृत्यपूर्वमेव भाव्यत्वेन सम्बध्यते, उपस्थितत्वात् । स्वतंत्रफलकत्वे विकृतिसंनिधिपाठानर्थक्यापत्तेः ।

अर्थ–प्रकृति याग के अंगों के अनुवाद से विहित जो विकृति याग के संदंशपठित अंग होते हैं वे सन्निधिपाठ–रूप प्रमाण से विकृति याग के अंग समझे जाते हैं। जैसे आमनहोम सन्निधि पाठ से विकृति का अंग होते हैं क्योंकि 'आमनहोमैः किं भावयेत्' इस प्रकार आमनहोमों के फल के सम्बन्ध में आकांक्षा होने पर विकृतियागजन्य अपूर्व अर्थात् पुण्य ही साध्यरूप में अन्वित होता है, इस प्रकार आमनहोम विकृति याग के अंग समझे जाते हैं। आमनहोम विकृति याग के समीप पठित होने के कारण (सन्निधि पाठ से) ही विकृति याग के अंग होते हैं। यदि आमन होमों का फल विकृति के अपूर्व के अतिरिक्त स्वतंत्ररूप से और कुछ होता तो इन आमनहोमों का पाठ विकृति याग के समीप होता ही क्यों ? फिर तो विकृति याग के समीप इनका पाठ ही व्यर्थ हो जायेगा।

अर्थबोधिनी—'सांग्रहणी' एक विकृति याग है। इसका प्रकृति याग 'दर्शपूर्णमास' है। 'वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेत् ग्रामकामः' विधि द्वारा 'सांग्रहणी' का विधान किया जाता है। 'सांग्रहणी' के निकट (सन्निधि) ही आमन होमों का विधान है। आमन होमों की संख्या ३ है। इनका अनुष्ठान 'आमन से स्वाहा, रेतस्विने स्वाहा' आदि मंत्रों के उच्चारण द्वारा होता है, इसलिये इन दोनों को 'आमन होम' कहते हैं। ये आमन होम 'प्रयाज' एवं 'अनुयाज' के मध्य में विहित हैं। इस प्रकार 'सांग्रहणी' नामक विकृति याग में 'दर्श

पूर्णमास' नामक प्रकृति यागों से अतिदेशप्राप्त 'प्रयाज' एवं 'अनुयाज' संज्ञक अंगों के बीच 'आमनहोमों का विधान है। आमनहोमों का क्या फल है? ऐसी आकांक्षा होने पर सांग्रहणीजन्य अपूर्व ही इनके अनुष्ठान का फल ठहरता है, क्योंकि इनका अपना स्वतंत्र कोई फल नहीं है अन्यथा,यदि इनका कोई स्वतंत्र फल होता तो भला आमनहोमों का दर्शपूर्णमास के विकृतिभूत सांग्रहणी के निकट फलरहितरूप में पाठ क्यों होता। अतः इस सन्निधिपाठरूप प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि सांग्रहणीजन्य अपूर्व (पुण्य) ही आमनहोमों का फल है। इस प्रकार 'सन्निधिपाठ' के कारण ही ये आमनहोम 'सांग्रहणी' के अंग अर्थात् उपकारक निर्णीत होते हैं अर्थात् 'सन्निधिपाठ' से 'आमनहोम' विकृति- सांग्रहणी' के अंग समझे गये।

प्रसंग—'अनुष्ठानसादेश्य' से होने वाले विनियोग का प्रदर्शन करते हैं—

(४४-अनुष्ठानसादेश्याद् विनियोगः)

पशुधर्माणामग्नीषोमीयार्थत्वमनुष्ठानसादेश्यात्। औपवसथ्येऽहनि अग्नीषोमीयः पशुरनुष्ठीयते। तस्मिन्नेव दिने ते धर्माः पठ्यन्ते। अतस्तेषां कैमर्थ्याकाङ्क्षायामनुष्ठेयत्वेनोपस्थितं पशवपूर्वमेव भाव्यत्वेन संबध्यते।

अर्थ— अनुष्ठान सादेश्य' संज्ञक स्थान प्रमाण से यह समझा जाता है कि पशुसम्बन्धी क्रियायें अग्नीषोमीय नामक पशु का अंग होती हैं। औपवसथ्य नामक दिन में अग्नीषोमीय पशु का अनुष्ठान होता है। उसी दिन उन क्रियाओं का पाठ मिलता है। अतएव उन क्रियाओं के संबंध में 'आभिः क्रियाभिः किं भावयेत्' इस प्रकार कैमर्थ्याकांक्षा अर्थात् फलाकांक्षा होने पर अनुष्ठेय–रूप में उपस्थित (अनुष्ठानसदेश) जो अग्नीषोमीयपशुजन्य अपूर्व है वही साध्य रूप में अन्वित होता है।

अर्थबोधिनी—यहाँ 'धर्म' शब्द का अर्थ क्रिया है। प्रकृत स्थल में 'पशुधर्म' शब्द का जिन क्रियाओं से तात्पर्य है वे तीन हैं—(१) उपाकरण

(२) पर्यग्निकरण और (३) नियोजन। 'प्रजापतेर्जायमानाः' एवं 'इदं पशुम्' इत्यादि दो मंत्रों को पढ़कर पशु को स्पर्शकरना 'उपाकरण' कहलाता है, कुश की लौ (अग्निज्वाला) से तीन बार पशु की प्रदक्षिणा करने को 'पर्यग्निकरण कहा जाता है और पशु को रस्सी से यूप (यज्ञस्तम्भ) में बाँधने की क्रिया को 'नियोजन कहा जाता है।'[1]

ज्योतिष्टोम प्रकरण में तीन पशुओं का अनुष्ठेय रूप में पाठ मिलता है। वे हैं–(१)अग्नीषोमीय (२)सवनीय एवं (३) अनुबन्ध्य'। इनमें से 'अग्नीषोमीय' पशु का अनुष्ठान 'औपवसथ्य' नामक दिन में,'सवनीय' पशु का 'सौत्य' नामक दिन में और 'अनुबन्ध्य' पशु का 'अवभृथ' नामक दिन में किया जाता है।

उपाकरण, पर्यग्निकरण एवं नियोजन इन धर्मों का पाठ उसी स्थान पर है जिस स्थान पर 'अग्नीषोमीय'पशु के अनुष्ठान का विधान है। निम्नलिखित तालिका विषय के स्पष्टीकरण में सहायक होगी–

क्रमाङ्क	दिन	अनुष्ठेय पशु	पठित क्रियायें
१––	औपवसथ्य	अग्नीषोमीय	उपाकरण, पर्यग्निकरण, नियोजन
२––	सौत्य	सवनीय	
३ ––	अवभृथ	अनुबन्ध्य	

उपाकरण आदि धर्मों के विषय में यह आकांक्षा होती है कि ये धर्म किसके लिये हैं ? इनका क्या प्रयोजन या अर्थ है ? इसी आकांक्षा को कैमर्थ्याकांक्षा कहते हैं। इस प्रकार कैमर्थ्याकांक्षा होने पर समीपस्थ अग्नीषोमीय पशुजन्य अपूर्व साध्य (अनुष्ठेय) रूप में अन्वित होता है। अर्थात् उक्त

१—'तत्र प्रजापतेर्जायमानाः इदं पशुमित्याभ्यामृग्भ्यां पशोरुपस्पर्शनमुपाकरणं, दर्भज्वालयार्ऽचिःप्रदक्षिणीकरणं पर्य्यग्निकरणं, यूपे रज्ज्वाबन्धनं यूपनियोजनमित्यादयो बोध्याः.....................'

(कौमुदी––पृष्ठ १०४)

आकांक्षा का शमन इस प्रकार होता है–उपाकरण आदि धर्मों का अपना स्वतंत्र कोई फल नहीं है, इन क्रियाओं का फल यही है कि ये अनुष्ठित होकर अग्नीषोमीय पशु के अनुष्ठान से होने वाले अपूर्व को उत्पन्न करें अर्थात् अग्नीषोमीय का उपाकरण आदि होकर तज्जन्य फल की उत्पत्ति हो सके। इन क्रियाओं का सम्बन्ध अग्नीषोमीय पशु से इसलिये होता है कि वे समान दिन में पठित हैं। उसी औपवसथ्य दिन में अग्नीषोमीय पशु के अनुष्ठान का विधान है और उसी स्थान पर उपाकरण आदि धर्मों का भी पाठ है, अतएव पाठगत समीपस्थता के कारण अग्नीषोमीय पशु से इन क्रियाओं का सम्बन्ध समझा जाता है। इस प्रकार उपाकरण आदि पशुधर्म अग्नीषोमीय का अग समझे जाते हैं।

उपाकरण आदि क्रियायें (धर्म) अन्य पशुओं के अङ्ग 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस अतिदेश वाक्य से समझे जाते हैं।

प्रसंग—'स्थान' प्रमाण 'समाख्या' नामक अन्तिम प्रमाण से अधिक बलवान् होता है इसी की पुष्टि उदाहरण द्वारा की जा रही है—

(४५–स्थानं समाख्यातः प्रबलम्)

तच्च स्थानं समाख्यातः प्रबलम्। अतएव शुन्धनमंत्रः सांनाय्यपात्राङ्गं पाठसादेश्यात् न तु पौरोडाशिकमिति समाख्यया पुरोडाशपात्राङ्गम्।

अर्थ—पूर्वोक्त, 'स्थान' प्रमाण समाख्या' नामक प्रमाण से बलवान् है। इसीलिये शुन्धनमंत्र पाठसादेश्यरूप प्रमाण से 'सांनाय्य' नामक पात्रों का अङ्ग है न कि 'पौरोडाशिकम्' इस समाख्या से 'पुरोडाश' पात्रों का अङ्ग।

अर्थबोधिनी—स्थान प्रमाण समाख्या से प्रबल है। अतएव जहां दोनों प्रमाणों की प्रवृत्ति हो रही हो वहाँ स्थानप्रमाणकृत विनियोग मान्य होगा, समाख्याप्रमाणकृत नहीं। इसीलिये शुन्धनमन्त्र सांनाय्यपात्रों (के प्रोक्षण[1])

१–'पात्राङ्गं पात्रप्रोक्षणाङ्गम्' (सारविवेचिनी–पृष्ठ ७९)

का अंग होता है, क्योंकि पाठसादेश्य–रूप स्थानप्रमाण से शुन्धनमंत्र सांनाय्य पात्रों (के प्रोक्षण) का अंग समझा जाता है और प्रकृतमंत्र पुरोडाशपात्रों (के पोक्षण) का अङ्ग नहीं होता है। कारण, यह मंत्र पुरोडाशपात्रों (के प्रोक्षण) का अंग समाख्या प्रमाण से समझा जा सकता था। समाख्या द्वारा तो मंत्र दोनों प्रकार के पात्रों के प्रोक्षण का अंग समझा जाता है।

दर्शपूर्णमास याग के विधान में 'पौरोडाशिक' नाम का भी एक 'काण्ड' है। उसी काण्ड में 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै' इस मन्त्र का पाठ है। यह मन्त्र जैसा कि इसके अर्थ से प्रकट होता है किसी पदार्थ के 'शुद्ध करने' में विनियुक्त होता है। इसीलिये इस मत्र को 'शुन्धनमंत्र' कहा जाता है। इसी 'पौरोडाशिक' काण्ड में दो प्रकार के पात्रों का पाठ है। एक पात्र वे हैं जिन्हें 'सान्नाय्य' पात्र कहते हैं, इन पात्रों में यज्ञोपयोगी दूध एवं दही रखा जाता है। 'सान्नाय्य' शब्द का अर्थ ही 'दूध-दही' होता है[1]। सान्नाय्य पात्रों के अन्तर्गत मुख्य पात्र—कुम्भी, शाखापवित्र, अभिधानी और दोहन पात्र आदि हैं। इन्हीं सान्नाय्य पात्रों के समीप शुन्धनमंत्र का पाठ प्राप्त होता है। दूसरे पात्र वे हैं जिन्हें 'पुरोडाशपात्र' कहते हैं। उलूखल, मुसल, कृष्णाजिन और सिलबट्टा (दृषदुपले) आदि मुख्य पुरोडाशपात्र हैं[2]।

शुन्धनमंत्र सान्नाय्यपात्रों की सन्निधि में पठित हैं, अतएव वह सान्नाय्य-पात्रों के प्रोक्षण का अंग होता है। कारण, मंत्र द्वारा कैमर्थ्याकांक्षा होने पर समीपस्थ सान्नाय्यपात्र का भाव्य अपूर्व ही साध्यत्वेन अन्वित होता है।

१—'सान्नाय्यं दधिपयसी'

(मीमांसान्यायप्रकाश-–पृष्ठ ७७)

२—'कुम्भी, शाखापवित्रम्, अभिधानी, दोहनपात्रमित्यादीनि सान्नाय्य-पात्राणि। उलूखलम्, मुसलम्, कृष्णाजिनम्, दृषदुपले, इत्यादीनि पुरोडाश-पात्राणि'।

(सारविवेचिनी–पृष्ठ ७९)

समाख्या द्वारा विनियोग मानने पर मंत्र सम्पूर्ण काण्ड में पठित सभी पात्रों के प्रोक्षण का अंग होगा चाहे वे सान्नाय्यपात्र हों या पुरोडाशपात्र । यह इसलिये कि मंत्र का पाठ 'पौरोडाशिक' काण्ड में प्राप्त होता है और मंत्र का सान्निध्य पौरोडाशकाण्डपठित सभी पात्रों से हो सकेगा ।

समाख्या द्वारा विनियोग मानने पर 'समाख्या' एवं 'विनियोग' के मध्य 'स्थान', 'प्रकरण', 'वाक्य', लिंग' एवं श्रुति' की कल्पना इन पाँच व्यापारों का व्यवधान होगा जब कि स्थान द्वारा विनियोग मानने पर 'स्थान' एवं 'विनियोग' के बीच केवल 'प्रकरण', 'वाक्य', 'लिङ्ग' एवं 'श्रुति' की कल्पना इन चार व्यापारों का व्यवधान होगा । अतएव 'समाख्या' विनियोग से विप्रकृष्ट है, एवं 'स्थान' सन्निकृष्ट । अतएव 'स्थान' द्वारा विनियोग मान्य होगा,' समाख्या' द्वारा अमान्य । इसीलिये प्रकृत मंत्र सान्नाय्यपात्रों के प्रोक्षण का अङ्ग होता है न कि पुरोडाशपात्रों के प्रोक्षण का भी [3] ।

प्रसंग—अन्तिम प्रमाण 'समाख्या' के स्वरूप का निरूपण--

(४६—समाख्यालक्षणम्)

समाख्या यौगिकः शब्दः । सा च द्विविधा-वैदिकी लौकिकी च । तत्र होतुश्चमसभक्षणाङ्गत्वम्, होतृचमस इति वैदिक्या समाख्यया । अध्वर्योस्तत्तत्पदार्थाङ्गत्वम्, लौकिक्या आध्वर्यवमिति समाख्यया । इति संक्षेपः ।

तदेवं निरूपितानि संक्षेपतः श्रुत्यादीनि षट् प्रमाणानि ।

अर्थ—यौगिक शब्द को 'समाख्या' कहते हैं । समाख्या के २ प्रभेद होते हैं—(१) वैदिकी समाख्या (२) लौकिकी समाख्या । 'होतृचमस' इस वैदिकी समाख्या से 'होता' नामक ऋत्विक् चमसभक्षण-रूप क्रिया का अङ्ग समझा

३—देखिये कौमुदी—पृष्ठ १०७)

जाता है। 'आध्वर्यवम्' इस लौकिकी समाख्या से 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् तत्तत् क्रियाओं का अङ्ग समझा जाता है।

इस प्रकार श्रुति आदि ६ प्रमाणों का संक्षेप में निरूपण किया गया।

अर्थबोधिनी – यौगिक शब्द को समाख्या कहते हैं। यौगिक शब्द के अवयवों के अभिधेय अर्थ से ही यौगिक शब्द का अर्थ समझा जाता है। जैसे 'पाचक' शब्द का 'पकाने वाला' अर्थ शब्दावयवभूत 'पच्' धातु एवं 'ण्वुल्' प्रत्यय के अर्थ से अभिहित होता है। अभिप्राय यह है कि जिस शब्द से केवल अवयवार्थ का ही बोध हो उसे यौगिक कहा जाता है[1]।

यहाँ यौगिकशब्द-रूप समाख्या के दो प्रभेद माने गये हैं–(१) वैदिकी, (२) लौकिकी। वैदिकी समाख्या ऐसे यौगिक शब्दो को कहते हैं जो वेद में पठित होते हैं—साक्षात् वेद का अङ्ग होते हैं। जैसे 'हेतृचमसः' शब्द वेद में पठित है[2]। इसका अर्थ है—'होता का चमस' (चमचा) अर्थात् 'होता का चमस नामक वह पात्र जिससे वह सोम रस का पान करता है'। उक्त अभिधेय अर्थ 'होतृचमसः' या 'होतुश्चमसः' इस यौगिक शब्द से निकलता है। वेद में 'प्रैतु होतुश्चमसः' का पाठ है। लौकिक समाख्या वेद में साक्षात् पठित नहीं होती है अपितु याज्ञिकों द्वारा निष्पन्न होती है[3]। जैसे—'आध्वर्यवम्' यह यौगिक शब्द वेदपठित नहीं है अपितु मानवनिष्पन्न है।

वैदिकी एवं लौकिकी दोनों समाख्यायें विनियोगबोध में विधि की सहायता करती हैं। 'होतुश्चमसः' या 'होतृचमसः' से ज्ञात होता है कि होता चमस का अर्थात् चमसभक्षण का अंग है। यहाँ क्रिया प्रधान है[4]। क्रिया

१—'यत्रावयवार्थ एव ज्ञायते स यौगिक इति'

(कौमुदी—पृष्ठ १०९)

२—वेद में 'होतुश्चमसः' का साक्षात् पाठ है 'होतृचमसः' का नहीं।

३—'याज्ञिकैः परिकल्पितयेत्यर्थः' (कौमुदी · पृष्ठ १०९)

४—'भक्षणस्य क्रियात्मकत्वेन प्राधान्यात्रत्कतुर्होतुर्भवति। तदंङ्गत्व मित्यर्थः।

(कौमुदी—पृष्ठ १०९)

है—'चमसभक्षण' अर्थात् 'चमससंज्ञक पात्र में रखे हुये सोम का पान करना'। अतएव चमसस्थ सोम का पान करने के कारण 'होता' अङ्ग हुआ और 'चमसभक्षण' अंगी। 'आध्वर्यवम्' लौकिकी समाख्या हैं। इसका अर्थ है—'अध्वर्यु का कर्म' या 'अध्वर्यु संवन्धी'। 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् का सम्वन्ध यजुर्वेद से है. अतएव 'आध्वर्यवम्' समाख्या से यह बोध होता है कि 'अध्वर्यु' अजुर्वेद की सभी क्रियाओं का अंग समझा जाता है।

इस प्रकार विनियोग विधि के द्वारा अङ्गाङ्गिभावबोध में सहायक होने वाले श्रुति आदि सभी छः प्रमाणों का विवेचन समाप्त हुआ।

प्रसङ्ग—विनियोग विधि द्वारा विनियुक्त अङ्गों का विभाजन प्रस्तुत किया जा रहा है—

(४७—विनियोजिताङ्गानि द्विविधानि)

एतत्सहकृतेन विनियोगविधिना 'समिदादिभिरुपकृत्य दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्येवरूपेण यानि विनियोज्यन्ते तान्यङ्गानि द्विविधानि, सिद्धरूपाणि क्रियारूपाणि चेति। तत्र सिद्धानि जातिद्रव्यसंख्यादीनि। तानि च दृष्टार्थान्येव। क्रियारूपाणि च द्विविधानि गुणकर्माणि प्रधानकर्माणि चेति। एतान्येव संनिपत्योपकारकाणि आरादुपकारकाणीति चोच्यन्ते।

अर्थ—इन श्रुत्यादि ६ प्रमाणों से सहायता प्राप्त करने वाली 'समिदादिभिरुपकृत्य दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' (अर्थ-'समिद् आदि यागों से उपकृत हुए 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' नामक याग के अनुष्ठान से इष्ट का सम्पादन करना चाहिए) इस प्रकार की विनियोग विधि के द्वारा दो अङ्ग विनियुक्त होते हैं—(१) सिद्धरूप अंग एवं (२) क्रियारूप अंग। इनमें जाति, द्रव्य एवं संख्या आदि तो सिद्धरूप अंग है, इन सबका प्रयोजन दृष्ट (प्रत्यक्ष) ही रहता है। क्रियारूप अंग के २ प्रभेद होते हैं—(१) गुणकर्म एवं

(२) प्रधानकर्म । इनमें से 'गुणकर्म' को 'सन्निपत्योपकारक कर्म' और 'प्रधानकर्म' को 'आरादुपकारक कर्म' कहते हैं।

अर्थबोधिनी—प्रथम वाक्य का सार अर्थ यह है कि विनियोग विधि के द्वारा जो अंग विनियुक्त किये जाते हैं वे दो प्रकार के होते हैं–'विनियोग-विधिना यानि अङ्गानि विनियोज्यन्ते तानि द्विविधानि'। प्रथम वाक्य में 'विनियोगविधिना' पद के दो विशेषण हैं–(१) 'एतत्सहकृतेन' एवं (२) "समिदादिभिरुपकृत्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्येवंरूपेण"। विनियोगविधि को पूर्वोक्त इन (एतत्) श्रुति आदि ६ प्रमाणों से विनियोगबोध में सहायता मिलती है–'एतत्सहकृतेनानेन विधिनाङ्गत्वं परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपं पारार्थ्यपरपर्याय ज्ञाप्यते'[1]। इसीलिये विनियोग विधि को 'एतत्सहकृत' कहा गया है।

'दर्श' एवं 'पूर्णमास' मुख्य याग हैं। इनके अंगयाग प्रयाज' एवं 'अनुयाज' हैं। 'समिधो यजति,' 'तनूनपातं यजति' आदि विधियों के द्वारा प्रयाज एवं अनुयाज के विधान का अनुवाद होता है, इसका सांकेतिक विवेचन विभाग संख्या ३८ में किया गयां हैं। अतएव 'समिद् याग' आदि अंग हैं एवं दर्शपूर्णमास अंगी। इस प्रकार अङ्गाङ्गिभावबोध-रूप विनियोग के कारण "समिदादिभिरुपकृत्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्येवंरूपेण" पदसमूह को 'विनियोगविधिना' का विशेषण मानना उचित ही है।

विनियोग विधि द्वारा विनियुक्त अङ्गों के दो प्रभेद हैं—(१) 'सिद्धरूप' एवं (२) 'क्रियारूप'। सिद्धरूप अंग को हम 'क्रियाभिन्न' कह सकते हैं, उसका स्वरूप पहले से ही सम्पन्न हुआ रहता है। वह क्रिया की भाँति साध्य (उत्पाद्य) नहीं होता, इसलिए उसे सिद्ध कहते हैं। सिद्धरूप अंग जाति, द्रव्य एवं संख्या आदि के रूप में अनेक प्रकार का होता है। 'पशुत्व' जाति ('पशुना यजेत'), 'व्रीहि' (अन्नविशेष द्रव्य—'व्रीहिभिर्यजेत') एकत्व संख्या ('एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति'), आरुण्यगुण ('अरुणया पिङ्गाक्ष्या

१—देखिये विभाग संख्या—२३

एकहायन्या............क्रीणाति'), 'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्य' मंत्र इत्यादि सब सिद्ध अंग के उदाहरण हैं। इनका प्रयोजन दृष्ट होता है। इनका दृष्ट प्रयोजन यही है कि इनके द्वारा साध्य क्रियाओं का अनुष्ठान सम्पन्न होता है[1]।

द्वितीय प्रभेद—'क्रियारूप' अंग के दो प्रभेद हैं—(१) गुणकर्म (२) प्रधान कर्म। 'गुणकर्म' किसी क्रिया के अंगभूत द्रव्य आदि के अंग होते हैं। अर्थात् गुणकर्म साक्षात् प्रधान क्रिया का अंग नहीं होता, अपितु परंपरया। 'प्रधान कर्म' साक्षात् प्रधान क्रिया का अंग होता है जैसे—'प्रयाज' प्रधान क्रिया–दर्शपूर्णमास का साक्षात् अंग है। सभी अंग क्रियाओं में प्रधान होने के कारण ही 'प्रधानकर्म' पद में 'प्रधान' पद का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए 'प्रयाज' अङ्गक्रियायें हैं, किन्तु इनका अङ्गी दर्शपूर्णमास है जो कि अंगी नहीं है। इस प्रकार प्रयाज सभी अंगक्रियाओं में प्रधान हैं।

'गुणकर्म' को सन्निपत्योपकारक एवं 'प्रधान कर्म' को आरादुपकारक कहते हैं। इन्हें सन्निपत्योपकारक इसलिये कहा जाता है कि ये किसी के अङ्ग बनकर उसके माध्यम से मुख्यक्रिया (यथा–दर्शपूर्णमास; का उपकार करते हैं। 'सन्निपत्योपकारक कर्म' को 'आश्रयि कर्म' भी कहा जाता है। आरादुपकारक स्वतः, अव्यवधानेन, और किसी का अङ्ग न बनकर मुख्य क्रिया का उपकार करते हैं। प्रयाज स्वतः दर्शपूर्णमास का उपकार करते हैं न कि और किसी का अङ्ग बनकर। इसलिये 'प्रयाज' आरादुपकारक हैं।

यद्यपि 'आराद्दूरसमीपयोः' इस कोपवाक्य के अनुसार 'आरात्' यह पद दूरत्व एवं सामीप्य दोनों अर्थों का वाचक है, ऐसी परिस्थितियों में 'सन्निपत्योपकारक' को भी दूरत्व अर्थ लेकर 'आरादुपकारक' कहा जा सकता है, तथापि प्रकृत 'आरादूपकारक' इस शब्द के अन्तर्गत 'आरात्' शब्द को केवल सामीप्यवाची मानकर ये दो विभाग किये गये हैं।

१—'दृष्टार्थान्येवेति–तैः क्रियानिर्वृत्तिरूपदृष्टप्रयोजनस्यैव जननादिति भावः।' (सारविवेचिनी–पृष्ठ ८१)

प्रसंग-सन्निपत्योपकारक कर्म का लक्षण एवं विभाग—

(४८-सन्निपत्योपकारकाण्यङ्गानि)

कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन विधीयमानं कर्म संनिपत्योपकारकम्। यथावघातप्रोक्षणादि। तच्च दृष्टार्थम्,अदृष्टार्थं दृष्टादृष्टार्थं चेति। तत्र दृष्टार्थमवघातादि, तद्धि द्रव्यत्यागांशेनैव अदृष्टं देवतोद्देशेन च देवतास्मरणं दृष्टं करोति।

अर्थ—कर्म के अङ्गभूत द्रव्य आदि के उद्देश्य से विहित कर्म को 'सन्निपत्योपकारक' कहते हैं। उदाहरण के लिये अवघात एवं प्रोक्षण आदि सन्निपत्योपकारक' कर्म हैं। सन्निपत्योपकारक कर्म के तीन प्रभेद हैं—(१) दृष्टार्थक (२) अदृष्टार्थक,और (३) दृष्टादृष्टार्थक। इनमें से दृष्टार्थक कर्म का उदाहरण अवघात आदि,अदृष्टार्थक का उदाहरण प्रोक्षण आदि और दृष्टादृष्टार्थक का उदाहरण पशु एवं पुरोडाश हैं। पशु एवं पुरोडाश आदि को 'दृष्टादृष्टार्थक'इसलिए कहा जाता है कि इनके दृष्ट एवं अदृष्ट दोनों प्रकार के प्रयोजन होते हैं। द्रव्यत्याग अंश में तो पशु एवं पुरोडाश का प्रयोजन अदृष्ट है और इनसे 'देवता का स्मरण होना'— रूप दृष्ट प्रयोजन भी सिद्ध होता हैं, अतएव इस अंश में ये दृष्टार्थक भी हैं।

अर्थबोधिनी—किसी कर्म के अङ्गभूत द्रव्य आदि का अङ्ग होने वाले कर्म को सन्निपत्योपकारक कर्म कहते है। दर्शपूर्णमास कर्म हैं, इसका अंग द्रव्य व्रीहि है। व्रीहि को उद्देश्य करके (साध्य बनाकर) व्रीहीन् प्रोक्षति' द्वारा विधीयमान 'प्रोक्षण' कर्म सन्निपत्योपकारक कर्म हुआ।

'सन्निपत्योपकारक कर्म' के तीन प्रभेद हैं—(१) दृष्टार्थक, (२) अदृष्टार्थक एवं (३) दृष्टादृष्टार्थक। 'दृष्टार्थक' उसे कहा जाता है जिसका प्रयोजन दृष्ट हो अर्थात् इस जन्म में ही प्रत्यक्ष सिद्ध हो, 'व्रीहीनवहन्ति' विधि द्वारा विहित 'अवचात' कर्म का तुषविमोचन (धान से भूसी हटाना) प्रत्यक्ष प्रयोजन है अतएव 'अवधात' को 'दृष्टार्थक सन्निपत्योपकारक कर्म' कहा जायेगा।

दूसरा प्रभेद-'अदृष्टार्थक' है'व्रीहीन् प्रोक्षति'विधिविहित 'प्रोक्षण' क्रिया इसका उदाहरण है। 'प्रोक्षण' का दृष्ट प्रयोजन नहीं है, 'क्योंकि उससे व्रीहि की निष्पत्ति नहीं होती (देखिये विभाग संख्या २६), प्रोक्षण से केवल अपूर्व उत्पन्न होता है, अपूर्व दृष्ट नहीं अदृष्ट होता है। इसीलिये 'प्रोक्षण' आदि कर्म 'अदृष्टार्थक' प्रभेद के अन्तर्गत आते हैं। तीसरा प्रभेद 'दृष्टादृष्टार्थक' है। पशुयाग एवं पुरोडाश याग आदि इसके उदाहरण हैं। देवता के लिये पशु पुरोडाश आदि द्रव्य का त्याग करने से अदृष्ट (अपूर्व) उत्पन्न होता है, अतएव द्रव्यत्याग' अंश में पशुपुरोडाशयाग अदृष्टार्थक हैं। द्रव्यत्यागकाल में देवता का स्मरण किया जाता है अतएव पशुपुरोडाशादि क्रिया का दृष्ट प्रयोजन देवतास्मरण हुआ। अतएव इसे (पशुपुरोडाशादि याग को)'दृष्टार्थक' भी मान जाता है। इस प्रकार पशुपुरोडाशादि याग 'दृष्टादृष्टार्थक' के उदाहरण हुये।

प्रसङ्ग—'आरादुपकारककर्म' का लक्षण—

(४९-आरादुपकारकाण्यङ्गानि)

द्रव्याद्यनुद्दिश्य केवलं विधीयमानं कर्म आरादुपकारकम्। यथा प्रयाजादि। आरादुपकारकं च परमापूर्वोत्पत्तावेवोपयुज्यते। संनिपत्योपकारकं तु द्रव्यदेवतासंस्कारद्वारा यागस्वरूपेऽप्युपयुज्यते। इदमेव चाश्रयिकर्मेत्युच्यते।

तदेवं निरूपितः संक्षेपतो विनियोगविधिः।

अर्थ-जब केवल कर्म का ही विधान किया गया हो न कि द्रव्य आदि को उद्देश्य करके उस कर्मका विधान हुआ हो तब ऐसी स्थिति में उस कर्म को 'आरादुपकारक' कहते हैं। आरादुपकारक कर्म मुख्यापूर्व की उत्पति में सहायक होता है, जब कि सन्निपत्योपकारक (कर्म) द्रव्य एवं देवता के सस्कार के द्वारा याग के स्वरूप में भी काम आता है, यही दोनों में अन्तर है। इसी सन्निपत्योपकारक कर्म को 'आश्रयिकर्म' कहते हैं।

अर्थबोधिनी—ऐसा कर्म जिसका विधान किसी द्रव्य आदि के अंगरूप में

न होकर केवल कर्म के रूप में ही होता है 'आराद्उपकारक' कहा जाता है 'प्रयाज' नामक यागों का विधान'प्रयाजाः कर्तव्याः' इस विधि द्वारा होता है। यहाँ केवल 'प्रयाज'—संज्ञक यागों–कर्मों का ही विधान है। प्रयाज किसी द्रव्य आदि का अंग नहीं हैं, अपितु द्रव्य आदि ही प्रयाज का अंग होते हैं।

'प्रयाज' अंग हैं किन्तु प्रधान याग (दर्शपूर्णमास) के ही। दर्शपूर्णमास के अनुष्ठान से फलापूर्व अर्थात् परमापूर्व उत्पन्न होता है। इसी परमापूर्व से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इस प्रकार 'प्रयाज' संज्ञक यागों का साध्य परमापूर्व को उत्पन्न करना होता है। इसीलिये कहा गया है कि–'आराद्उपकारकं च परमापूर्वोत्पत्तावेवोपयुज्यते'। अभिप्राय यह है कि आराद्उपकारक कर्म प्रधानतम याग का ही अंग होता है। 'दर्शपूर्णमास प्रधानतम याग हैं। प्रयाज इन्हीं प्रधानतम दर्शपूर्णमास नामक यागों के ही साक्षात् अंग हैं, इसीलिये इनकी संज्ञा आराद्उपकारक है। आराद्उपकारक परमापूर्व के 'आरात्'—समीपता से अर्थात् साक्षात् रूप से उपकारक होते हैं, जबकि सन्निपत्योपकारक सन्निपत्य अर्थात् किसी और(मध्यवर्ती अंगी)में'निपत्य'-गिरकर(मिलकर)अर्थात् अंग बनकर। अर्थात् सन्निपत्योपकारक किसी मध्यवर्ती अंगी का आश्रय लेकर परमापूर्व की उत्पत्ति में उपकारक होता है। यही कारण है कि इसे 'आश्रयि कर्म'-जिसका कोई आश्रय हो अर्थात् जो किसी के आश्रित होकर प्रधानतम कर्म का अंग बन पाता हो—कहा जाता है।

इस प्रकार ग्रंथकार ने विनियोग विधि का संक्षेप में विवेचन किया।

प्रसङ्ग—विनियोग विधि का निरूपण करने के पश्चात् अब तृतीय विधि —'प्रयोगविधि' के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है–

(५०—प्रयोगविधिलक्षणम्)

प्रयोगप्राशुभाववोधको विधिः प्रयोगविधिः। स चाङ्गवाक्यैकवाक्यतापन्नः प्रधानविधिरेव। स हि साङ्गं प्रधानमनुष्ठापयन्

विलम्बे प्रमाणाभावादविलम्बापरपर्यायं प्रयोगप्राशुभावं विधत्ते। न च तदविलम्बेऽपि प्रमाणाभाव इति वाच्यम्। विलम्बे हि अङ्ग-प्रधानविध्येकवाक्यतावगततत्साहित्यानुपपत्तिः। विलम्बेन क्रिय-माणयोः पदार्थयोः 'इदमनेन सह कृतम्' इति साहित्यव्यवहारा-भावात्। स चाविलम्बो नियते क्रमे आश्रीयमाणे भवति। अन्यथा हि 'किमेतदनन्तरमेतत् कर्तव्यमेतदनन्तरं वा' इति प्रयोगविक्षेपापत्तेः। अतः प्रयोगविधिरेव स्वविधेयप्रयोगप्राशुभाव–सिद्ध्यर्थं नियतं क्रममपि पदार्थविशेषणतया विधत्ते। अत एवाङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम्। तत्र क्रमो नाम विततिविशेषः, पौर्वापर्यरूपो वा।

अर्थ–जिस विधि से अनुष्ठान की शीघ्रता का बोध होता है उसे प्रयोग विधि कहा जाता है। प्रयोग विधि कोई अन्य विधि नहीं है, अपितु अङ्ग वाक्यों से मिलकर एक वाक्य—रूप में स्थित उत्पत्ति विधि ही है। अङ्गों सहित प्रधान क्रिया का अनुष्ठान कराती हुई प्रयोग विधि अविलम्ब अर्थात् क्रिया की शीघ्रता का विधान करती है। विलम्ब होने में कोई प्रमाण नहीं होता, इसीलिये प्रयोगविधि से प्राशुभाव का विधान माना जाता है। कोई व्यक्ति यह भी कह सकता है कि अनुष्ठान के प्राशुभाव (अविलम्बेन सम्पाद्यता) में कोई प्रमाण ही नहीं है। किन्तु यह कथन समीचीन नहीं। कारण, अगविधि एवं प्रधान विधि मिलकर एक वाक्यता को प्राप्त करते हैं अर्थात् एक वाक्य हो जाते हैं। यदि क्रियायें विलम्ब से अनुष्ठि होंगी तो उस एक वाक्यता से समझा जाने वाला 'अङ्ग एवं प्रधान का सहभाव' (साहित्य) सम्पन्न न हो सकेगा। विलम्ब से अनुष्ठित की जाने वाली दो क्रियाओं के सम्बन्ध में 'यह क्रिया इसके साथ अनुष्ठित हुई है' इस प्रकार के साहित्य (साथ-साथ होने) का व्यवहार (वाक्य प्रयोग) नहीं होता। और शीघ्रता तभी होती है जब निश्चित क्रम का आश्रय लिया जाये अन्यथा क्या यह

क्रिया इस क्रिया के बाद अनुष्ठित की जाये अथवा इस–दूसरी क्रिया के बाद' इस प्रकार संदेह उपस्थित हो जाने के कारण अनुष्ठान में बाधा पड़ने लगेगी। अतएव प्रयोग विधि अपने विधेय–प्राशुभाव की सिद्धि के लिये पदार्थ के विशेषणरूप में निश्चित क्रम का भी विधान करती है। इसलिये प्रयोग विधि का यह भी लक्षण है—'अङ्गों के क्रम का बोध कराने वाली विधि को प्रयोग विधि कहते हैं'। क्रम विस्तारविशेष अथवा पूर्वापरभाव–रूप होता है।

अर्थबोधिनी—इसके पूर्व 'उत्पत्ति विधि' एवं 'विनियोग विधि' का विवेचन हो चुका है। अब प्रयोगविधि का विवेचन प्रारम्भ हो रहा है। ग्रन्थकार ने उद्देशस्थल (विभाग संख्या १९) में विधियों का जो क्रम बतलाया है वह इस प्रकार है—'विधिश्चतुर्विधः, उत्पत्तिविधिर्विनियोगविधिरधिकारविधिः प्रयोग विधिश्चेति'। किन्तु लक्षणपरीक्षणस्थल में विधियों के क्रम में परिवर्तन कर दिया गया है परिवर्तन यह है कि विनियोगविधि के पश्चात् प्रयोग विधि का विवेचन किया गया है और अन्त में अधिकार विधि का। उद्देश एवं लक्षण-परीक्षास्थल में विधियों का क्रम इस प्रकार रखा गया है—

उद्देश्यस्थलीय विधिक्रम	लक्षणपरीक्षास्थलीयविधिक्रम
(१) उत्पत्तिविधि	(१) उत्पत्ति विधि
(२) विनियोगविधि	(२) विनियोग विधि
(३) अधिकार विधि	(३) प्रयोग विधि
(४) प्रयोग विधि	(४) अधिकार विधि

हम देखते हैं कि उद्देशस्थलीय विधि के क्रम में तृतीय एवं चतुर्थ स्था क्रमशः अधिकार विधि एवं प्रयोग विधि का है जब कि लक्षणपरीक्षास्थल में तृतीय एवं चतुर्थस्थान क्रमशः प्रयोग विधि एवं अधिकार विधि का है।

प्रयोगविधि से इस विषय का निर्णय होता है कि किस अंग क्रिया के पश्चात् अविलम्ब अव्यवहितभाव से किस अंग क्रिया का अनुष्ठान करना चाहिये। इसलिये अङ्ग क्रियाओं के क्रम का बोध करने वाली विधि प्रयोग

विधि कही जाती है। (अत एवाङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम्)। अङ्गक्रियाओं के क्रम के निश्चित होने पर ही यज्ञ का अनुष्ठान अविच्छिन्नरूपेण हो सकता है। यदि यही संदेह हो गया कि इस क्रिया के बाद यह क्रिया की जाये या इस क्रिया के बाद ('अन्यथा हि किमेतदनन्तरमेतत्कर्तव्यमेतदनन्तरं वेति प्रयोगविक्षेपापत्तेः') तो जब तक निर्णय न हो जाये यागानुष्ठान रुका रहेगा और एक क्रिया के अनुष्ठान के पश्चात् विराम हो जायेगा। इस प्रकार क्रियायें अविच्छिन्नरूपेण अनुष्ठित न हो सकेंगी। किन्तु क्रियाओं को अविच्छिन्नरूपेण अर्थात् 'साथ-साथ' अनुष्ठित होना चाहिये। 'साथ-साथ' का अर्थ 'अव्यवधानेन' है। यदि क्रियाओं के अनुष्ठान में विलम्ब (व्यवधान) होगा तो हम यह नहीं कह सकते कि क्रिया इस क्रिया के साथ अनुष्ठित हुई है (विलम्बेन क्रियमाणयोः पदार्थयोरिदमनेन सह कृतमिति साहित्यव्यवहाराभावात्)। क्रियायें साथ-साथ निरन्तर तभी अनुष्ठित हो सकती हैं जब उनका क्रम–किस क्रिया के बाद किस क्रिया का अनुष्ठित होगा —निश्चित हो ('स चाविलम्बो नियते क्रमे आश्रीयमाणे भवति')।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रयोग विधि वह विधि है जो क्रियाओं के क्रम का बोध कराती है, जिससे क्रियाओं के अनुष्ठान में विलम्ब न होकर शीघ्रता हो–प्राशुभाव हो। इसलिये प्रयोग विधि को 'अनुष्ठान की शीघ्रता का बोध कराने वाली विधि' कहा जाता है ('प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः' तथा '…………विलम्बे प्रमाणाभावादविलम्बापरपर्यायं प्रयोगप्राशुभावं विधत्ते।') विधेयभूत क्रियाओं के विशेषणरूप में निश्चित क्रम का भी विधान किया जाता है (अतः प्रयोगविधिरेव स्वविधेयप्राशुभावसिद्ध्यर्थं नियतं क्रममपि पदार्थविशेषणतया विधत्ते)। 'पदार्थविशेषणतया' इसलिये कहा कि विधि में विधेय है 'क्रिया'। क्रिया के साथ ही साथ क्रम का विधान मान लेने पर विधेय दो हुये—(१) क्रिया (२) क्रम। इसलिये एक विधि वाक्य से दो पदार्थों का विधान होने से वाक्य-भेद होगा। किन्तु विधान क्रिया का माना जाये और क्रम उस क्रिया का विशेषण हो तब वाक्य-भेद नहीं होगा।

जैसा कि बताया जा चुका है कि प्रयोगविधि द्वारा क्रम का विधान होने से केवल क्रियाओं के अनुष्ठान में शीघ्रता होती है। क्रमबोध से अनुष्ठान में शीघ्रता एवं अनुष्ठान की शीघ्रता से अंगक्रियाओं और प्रधान याग में एकता-अखण्डता स्थापित हो जाती है। इस प्रकार अंगक्रियाओं के साथ अखण्डता या एकवाक्यताप्राप्त उत्पत्तिविधि को ही प्रयोगविधि कहना चाहिये (स चाङ्गवाक्यैकवाक्यतापन्नः प्रधानविधिरेव' तथा स हि साङ्गं प्रधानमनुष्ठापयन् ....)।

क्रम क्या होता है? क्रम एक विशेष प्रकार का विस्तार—वितति है। क्रम से ही अनेक क्रियायें अव्यवहितत्वेन अनुष्ठित होकर एक बड़ी विस्तृत क्रिया हो जाती है, जैसे लोहे की कड़ियाँ एक दूसरे से व्यवहितत्वेन सटकर विस्तृत जंजीर बन जाती है। इसलिए क्रम को 'विशेष प्रकार का विस्तार'–विततिविशेष कहा जाता है। यदि क्रम ज्ञात न होगा तो क्रियायें अव्यवहितत्वेन अनुष्ठित न होंगी। फलतः पृथक्-पृथक् अनुष्ठित होंगी और विस्तार न हो सकेगा।

क्रम पौर्वापर्यरूप होता है अर्थात् पौर्वापर्य को क्रम कहा जाता है। पौर्वापर्य का अर्थ है 'पूर्वापरभाव' अर्थात् 'कौन पूर्व में है और कौन पश्चात्। इसी को क्रम कहते हैं।

ध्यान रहे प्रयोगविधि अन्य तीन विधियों से अतिरिक्त कोई चौथी पृथक् विधि नहीं है अपितु उन्हीं तीनों को मिलाकर सम्मेलनरूप एकवाक्यतापन्न विधि है जिससे क्रम का बोध होता है—'स च प्रयोगविधिः प्रयाजाद्यङ्गजातवाक्यैकवाक्यतामापन्नो "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते" त्यादिप्रधानविधिरेवोक्तवक्ष्यमाणविधित्रयमेलनरूपश्चतुर्थोऽयं विधिर्न तु विध्यन्तरमित्याह[१]।'

१—कौमुदी—पृष्ठ ११४

प्रसङ्ग—क्रम के निर्णायक ६ प्रमाणों का उल्लेख करके पहिले प्रथम प्रमाण-श्रुति का लक्षण किया जा रहा है —

(५१—क्रमे श्रुत्यादीनि षट् प्रमाणानि श्रुतिलक्षणञ्च)

तत्र षट् प्रमाणानि श्रुति-अर्थ-पाठ-स्थान मुख्य-प्रवृत्त्याख्यानि ।

तत्र क्रमपरवचनं श्रुतिः । तच्च द्विविधम् । केवलक्रमपरं तद्विशिष्टपदार्थपरं चेति । तत्र 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' इति केवलक्रमपरं, वेदिकरणादेर्वचनान्तरप्राप्तत्वात् । 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' इति तु क्रमविशिष्टपदार्थपरम्, एकप्रसरताभङ्गभयेन भक्षानुवादेन क्रममात्रस्य विधातुमशक्यत्वात् ।

सेयं श्रुतिरितरप्रमाणापेक्षया बलवती । तेषां वचनकल्पन द्वारा क्रमप्रमाणत्वात् । अत एवाश्विनग्रहणस्य पाठक्रमात्तृतीयस्थाने ग्रहणप्रसक्तौ 'आश्विनो दशमो गृह्यते' इतिवचनाद् दशमस्थाने ग्रहणमित्युक्तम् ।

अर्थ—क्रम के निर्णायक प्रमाणों की सख्या ६ है । वे इस प्रकार हैं—(१) श्रुति (२) अर्थ (३) पाठ (४) स्थान (५) मुख्य एवं (६) प्रवृत्ति । क्रमबोधक शब्द को श्रुति कहा जाता है । श्रुति के २ प्रभेद हैं—(१) केवल क्रमपरक (२) क्रमविशिष्टपरक । केवलक्रमपरक श्रुति का उदाहरण 'वेद कृत्वा वेदिं करोति' में मिलता है । वेद (कुशमुष्टि) एवं वेदी की रचना का विधान दूसरे विधिवाक्यों से प्राप्त होता है, यहाँ केवल क्रम —किसके बाद कौन सी क्रिया अनुष्ठित की जायेगी—का विधान (क्त्वा—गत) 'क्त्वा' प्रत्यय से होता है । 'क्रमविशिष्टपदार्थपरक' श्रुति का उदाहरण 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' (अर्थात् वषट्कर्ता पहिले भक्षण करे) है । इस श्रुति को 'विशिष्ट' इसलिए माना जाता है कि एक वाक्यता के भंग होने के भय से भक्षण का अनुवाद करके क्रममात्र का विधाद नहीं किया जा सकता ।

यह श्रुति अन्य–अर्थ, पाठ आदि प्रमाणों की अपेक्षा बलवती होती है। अन्य प्रमाण श्रुति की कल्पना द्वारा अर्थात् परंपरया क्रम का बोध कराते हैं। इसीलिए पाठक्रम से तृतीय स्थान पर 'आश्विनग्रहण' का प्रसङ्ग होने पर 'आश्विनो दशमो गृह्यते' (दसवें स्थान पर आश्विनग्रहण करे) इस श्रुति से आश्विनग्रहण दसवें स्थान पर होता है यह बात मीमांसासूत्र (५।४।१। में कही गई है।

अर्थबोधिनी—क्रम के निर्णायक छः प्रमाण होते है। वे हैं—श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य एवं प्रवृत्ति।

श्रुति का लक्षण है—'क्रमपरवचनम्'। 'क्रमपरवचनम्' का अर्थ है–'क्रम का साक्षात् बोध कराने वाला शब्द'। उक्त श्रुति के श्रवण से ही 'अमुक क्रिया के पश्चात् अमुक क्रिया का अनुष्ठान करना चाहिये' इस प्रकार क्रियाओं के क्रम अर्थात् पूर्वापरभाव का ज्ञान हो जाता है।

श्रुति के दो प्रभेद हैं—(१, केवलक्रमपरक एवं (२) क्रमविशिष्ट-पदार्थपरक। जिस श्रुति से क्रममात्र का ही विधान किया जाता है, क्रिया आदि का नहीं, वह श्रुति 'केवलक्रमपरक' कहलाती है। यहाँ क्रिया आदि का विधान विधि वाक्य या विधि वाक्यों से पहिले ही हुआ रहता है। इस श्रुति से केवल क्रम का ही विधान होता है। उदाहरण के लिए 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' इस वाक्य में 'क्त्वा'-प्रत्यय–रूप श्रुति से ज्ञात होता है कि वेद का निर्माण करने के पश्चात् वेदी का निर्माण किया जाना चाहिए। उक्त वेदकरण एवं वेदिकरण में पूर्वापरभावरूप क्रम है जिसका विधान 'क्त्वा'-प्रत्ययात्मक श्रुति से हुआ है। 'वेद' का अर्थ—कुशमुष्टिविशेष (जिससे वेदी का सम्मार्जन किया जाता है)—होता है। 'आहवनीय' एवं 'गार्हपत्य' संज्ञक अग्नियों के बीच चार अङ्गुल का गहरा गर्त जिसमें हवि का प्रक्षेप किया जाता है, 'वेदि'–'वेदी' कहलाती है[1]। 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' वाक्य से

१—'वेदः दर्भमुष्टिविशेषः, आहवनीयगार्हपत्ययोर्मध्ये चतुरङ्गुलनिखातं भूतल हविर्निधानविशेषरूपकम्। (कौमुदी—पृष्ठ ११९)

यद्यपि 'वेद (कुशमुष्टि) का निर्माण करना चाहिए, वेदी का निर्माण करना चाहिए' इस अर्थ का भी बोध होता है, परन्तु यह अर्थ अनूदित (पूर्व से विहित) है। दर्शपूर्णमास प्रकरण में पहिले से ही वेदकरण एवं वेदिकरण का विधान प्राप्त होता है[1], अतएव यहाँ केवल क्रम का ही विधान है।

'क्रमविशिष्टपदार्थपरक' श्रुति का उदाहरण—'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' है[2]। यागानुष्ठान काल में 'होता' नामक ऋत्विक् 'वषट्' शब्द का उच्चारण करता है इसीलिए होता को 'वषट्कर्ता' कहा जाता है, यहाँ 'होता के प्रथम-भक्षण' का विधान है। अभिप्राय यह है कि विधान तो है 'भक्षण' क्रिया का और प्राथम्य (उसका प्रथम होना) उस (भक्षण) का विशेषण है। प्राथम्य क्रम का बोधक है। इस प्रकार प्रकृत श्रुति प्राथम्य-रूप 'क्रम' से विशिष्ट' भक्षण-रूप 'पदार्थ' का 'बोध' कराती है, इसीलिए इसे 'क्रम-'विशिष्टपदार्थपरक' कहते हैं। यहाँ केवल क्रम का विधान नहीं है, क्योंकि 'भक्षण'-क्रिया का विधान करने वाली कोई दूसरी विधि नहीं है। 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' से 'भक्षण' का विधान करके पुनः उसी का अनुवाद करके उसे प्राथम्यविशिष्ट मानना भी उचित नहीं है। कारण, इससे एकप्रसरता अर्थात् एकवाक्यता भंग हो जायेगी। एकवाक्यताभंग को ही वाक्यभेद कहते हैं। वाक्यभेद एक दोष है (देखिए विभाग संख्या १६), अतएव दोष से बचने के लिये यहाँ श्रुति को 'क्रमविशिष्टपदार्थपरक' ही मानना उचित होगा।

श्रुति-अर्थ, पाठ आदि अन्य सभी प्रमाणों से बलवान् है। जहाँ अन्य प्रमाणों द्वारा क्रम-बोध होता है वहाँ क्रमबोधकवाक्य-रूप श्रुति की कल्पना करनी पड़ती है, अतएव विलम्ब होता है। प्रयोग होने के लिए प्राशुभाव आवश्यक है। श्रुति के द्वारा क्रम-बोध शीघ्र हो जाता है। अतएव अन्य

१—'दर्शपूर्णमासयोर्हविरभिवासनोत्तरं वेदिकरणविधिवाक्येनैव वेदि-करणस्य प्राप्तत्वात्तदनुवादेन क्त्वाप्रत्ययोक्तक्रममात्रमत्र विधीयत इति भावः (कौमुदी—पृष्ठ ११९–१२०)

२—यागानुष्ठान से अवशिष्ट सोम का पान (भक्षण) सर्वप्रथम 'होता' नामक ऋत्विक् करता है, उसके बाद दूसरे।

प्रमाणों की अपेक्षा क्रमबोध शीघ्र कराने के कारण श्रुति बलवती होती है। इसीलिए जहाँ कहीं क्रमबोध के विषय में श्रुति एवं अन्य प्रमाणों की युगपत् प्रवृत्ति होने लगती है, श्रुतिबोध्यक्रम ही मान्य होता है। उदाहरण के लिए 'ऐन्द्रवायव गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाति, आश्विन गृह्णाति' (मैत्रायणी संहिता —४।५।७) इस मत्र में ऐन्द्रवायवग्रहण, मैत्रावरुणग्रहण के पश्चात् अश्विनग्रहण का पाठ तृतीय स्थान पर है। पाठ स 'आश्वनस्तृतीयो गृह्यते' आदि रूप में श्रुति की कल्पना करनी पड़ेगी, तभी क्रम का निर्धारण होगा। इस प्रकार पाठ से श्रुति की कल्पना करने में विलम्ब होता है, किन्तु 'आश्विनो दशमो गृह्यते' यहाँ 'दशमः' इस श्रुति से आश्विनग्रहण[1] का स्थान दसवां निर्धारित होता है। श्रुति द्वारा शीघ्र क्रमबोध होता है, अतएव दोनों प्रमाणों में विरोध होने पर श्रुतिबोध्य क्रम मान्य होने से दसवें स्थान पर 'आश्विनग्रहण' होता है।

प्रसंग—अर्थक्रम का लक्षण—

(५२—अर्थक्रमलक्षणम्)

यत्र प्रयोजनवशेन क्रमनिर्णयः सोऽर्थक्रमः। यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'यवागूं पचति' इत्यग्निहोत्रयवागूपाकयोः। अत्र हि यवाग्वा होमार्थत्वेन तत्पाकः प्रयोजनवशेन पूर्वमनुष्ठीयते।

स चायं पाठक्रमाद् बलवान्। यथापाठं ह्यनुष्ठाने क्लृप्तप्रयोजनबाधोऽदृष्टार्थत्वं च स्यात्। न हि होमानन्तरं क्रियमाणस्य पाकस्य किंचिद् दृष्टं प्रयोजनमस्ति।

अर्थ—जहाँ प्रयोजनवशात् क्रम का निर्णय होता है उसे अर्थक्रम कहते हैं। उदाहरण के लिए 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'यवागूं पचति' इन विधिवाक्यों के स्थल में निर्णीत होने वाले क्रम को लिया जा सकता है। यहाँ पाठक्रम

१—'आश्विन' शब्द का अर्थ 'अश्वी' देवता से सम्बन्धित पात्र है।

की दृष्टि से 'अग्निहोत्र होम' पहिले विहित है एवं 'यवागूपाक' बाद में। किन्तु अनुष्ठान वपरीत क्रम से होता है। यहाँ क्रम का निर्णय अर्थ-पाठ से होता है। कारण, 'यवागूपाक' का प्रयोजन (अर्थ) अग्निहोत्र होम में काम आना है। इस उद्देश्य (अर्थ) से 'यवागूपाक' अग्निहोत्र होम के पहिले किया जाता है।

अर्थक्रम अपने परवर्ती पाठक्रम नामक प्रमाण से बलवान् होता है।

अर्थक्रम के अनुसार पहले अग्निहोत्र होम एवं बाद में यवागूपाक का अनुष्ठान करने पर निश्चित प्रयोजन (यवागूपाक से अग्निहोत्र-संज्ञक होम का सम्पादन) में बाधा पड़ेगी एवं अदृष्ट की उत्पत्ति माननी होगी। अदृष्ट कल्पना इसलिए कि अग्निहोत्र के अनुष्ठान के पश्चात् यवागू के तैयार करने का कोई दृष्ट प्रयोजन तो रह नहीं जाता।

अर्थबोधिनी—यहाँ 'अर्थ' शब्द का अभिप्रेत अर्थ 'प्रयोजन' है। इसलिए अर्थक्रम एवं प्रयोजनक्रम ये दोनों शब्द पर्यायवाची अर्थात् एकार्थक हैं। इसलिए जो क्रम प्रयोजन के आधार पर होता है वह 'अर्थक्रम' कहलाता है। उदाहरण के लिए दो विधियों का क्रमशः पाठ इस प्रकार है—'अग्निहोत्रं जुहोति', 'यवागूं पचति'। इन विधियों के द्वारा क्रमशः 'अग्निहोत्रहोम' एवं 'यवागूपाक' का विधान है। अतएव पाठक्रम से पहिले 'अग्निहोत्रहोम' का अनुष्ठान होना चाहिए था पश्चात् 'यवागूपाक' तैयार किया जाना चाहिये था। किन्तु 'यवाग्वाग्निहोत्रं जुहुयात्' इस वाक्य से 'यवागू के द्वारा अग्निहोत्र नामक याग का अनुष्ठान करना चाहिए' यह अर्थबोध होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि यवागू (लपसी) का प्रयोजन अग्निहोत्र होम का अनुष्ठान है। इस प्रयोजन को कार्यान्वित करने के लिये यवागू को ही पहिले तैयार करना होगा तत्पश्चात् उससे अग्निहोत्र का अनुष्ठान करना होगा। इस प्रकार प्रयोजनक्रम या अर्थक्रम से यवागूपाक एवं अग्निहोत्र होम के अनुष्ठान में जो पूर्वापरभाव है वह पाठक्रम से प्राप्त पूर्वापरभाव के विपरीत है।

यहाँ पाठक्रम का आदर नहीं किया गया है, क्योंकि पाठक्रम से पहिले 'अग्निहोत्र होम' को और बाद में 'यवागूपाक' को स्थान मिलता था। यदि अग्निहोत्र का अनुष्ठान पहिले किया जायेगा तो निर्धारित प्रयोजन–'यवाग्वाग्निहोत्रं जुहुयात्' में बाधा पड़ेगी (क्लृप्तप्रयोजनबाधा) अतएव यहाँ पाठ के द्वारा क्रम का निर्धारण नहीं मानना चाहिए। पुनश्च अग्निहोत्र होम हो चुकने के पश्चात् यवागूपाक का कोई प्रत्यक्ष प्रयोजन नहीं दिखलाई पड़ता (न हि होमानन्तरं क्रियमाणस्य पाकस्य किंचिद् दृष्टं प्रयोजनमस्ति) अतएव कुछ अदृष्ट प्रयोजन (अदृष्टार्थत्वम्) ही मानना होगा किन्तु जब यवागू का दृष्ट प्रयोजन–अग्निहोत्रहोम का अनुष्ठान संभव है तब उनका अदृष्ट प्रयोजन मानना मीमांसा के सिद्धान्त के विरुद्ध है–' सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्'[1]।

इसलिये अर्थक्रम पाठक्रम से बलवान् है (स चायं पाठक्रमाद् बलवान्)।

प्रसंग–पाठक्रम का लक्षण एवं विभाजन–

(५३ – पाठक्रमलक्षणम्)

पदार्थबोधकवाक्यानां यः क्रमः स पाठक्रमः। तस्माच्च पदार्थानां क्रम आश्रीयते। येन हि क्रमेण वाक्यानि पठितानि तेनैव क्रमेणाधीतान्यर्थप्रत्ययं जनयन्ति। यथाप्रत्ययं च पदार्थानामनुष्ठानम्। स च पाठो द्विविधः—मंत्रपाठो ब्राह्मणपाठश्चेति। तत्राग्नेयाग्नीषोमीययोस्तत्तद्याज्यानुवाक्यानां पाठाद् यः क्रम आश्रीयते स मंत्रपाठात्।

स चायं मंत्रपाठो ब्राह्मणपाठाद् बलीयान्, अनुष्ठाने ब्राह्मण–वाक्यापेक्षया मंत्रपाठस्यान्तरङ्गत्वात्। ब्राह्मणवाक्यं हि प्रयोगाद्बहिरेवेदं कर्तव्यमिति अवबोध्य कृतार्थम्। मन्त्राः पुनः

१––(विभाग संख्या ६४)

प्रयोगकाले व्याप्रियन्ते, अनुष्ठानक्रमस्य स्मरणक्रमाधीनत्वात् । तत्क्रमस्य च मंत्रक्रमाधीनत्वाद् अन्तरङ्गोऽयं मन्त्रपाठः ।

प्रयाजानां 'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजति' इत्येवंविधपाठ-क्रमाद् यः क्रमः स ब्राह्मणपाठक्रमात् । यद्यपि ब्राह्मणवाक्यान्यर्थं विधाय कृतार्थानि, तथापि प्रयाजादीनां क्रमस्मारकान्तरस्याभावात्तान्येव क्रमस्मारकत्वेन स्वीक्रियन्ते ।

अर्थ—क्रियाओं (पदार्थों) का विधान करने वाले वाक्यों का जो क्रम है उसे पाठक्रम कहा जाता है। पाठक्रम क्रियाओं के अनुष्ठान के क्रम का आधार होता है। कारण, जिस क्रम से मंत्रब्राह्मणगत विधिवाक्यों का पाठ किया जाता है उसी क्रम से अध्ययन करने पर उन वाक्यों के अर्थ का ज्ञान होता है और ज्ञानक्रम के अनुसार क्रियाओं का अनुष्ठान किया जाता है। पाठक्रम के दो प्रभेद होते हैं—(१) मंत्रपाठ, (२) ब्राह्मणपाठ। आग्नेय एवं अग्नीषोमीय यागों का जो क्रम इन यागों के याज्यानुवाक्यासंज्ञक वाक्यों के क्रम से निर्धारित होता है वह (यागों का) क्रम मंत्रपाठ से ही निर्णीत होता है।

मन्त्रपाठ ब्राह्मणपाठ से से बलवान् होता है, क्योंकि क्रियानुष्ठान में मंत्रपाठ ब्राह्मणपाठ की अपेक्षा अंतरङ्ग होते हैं। कारण, ब्राह्मणवाक्य तो क्रियानुष्ठान से दूर रहकर ही 'ऐसा करना चाहिये' इस प्रकार अज्ञात क्रिया का ज्ञापन करके कृतकृत्य हो जाते हैं, जब कि मंत्रों का व्यवहार क्रियानुष्ठान काल में होता है क्योंकि क्रियानुष्ठान के क्रम का आधार स्मरणक्रम है और स्मरणक्रम का आधार मंत्रपाठक्रम है। इसीलिये मन्त्रपाठक्रम ब्राह्मण-पाठक्रम से बलवान् माना जाता है।

'समिधो यजति' ('समिद्' नामक याग का अनुष्ठान करे), 'तनूनपातं यजति' ('तनूनपात' नामक याग का अनुष्ठान करे') इस प्रकार पाठक्रम से 'प्रयाज' संज्ञक यागों का जो क्रम है उसका आधार ब्राह्मणपाठक्रम है। यद्यपि

ब्राह्मणवाक्य क्रिया का विधान करके कृतार्थ हो जाते हैं न कि साक्षात् रूप से क्रियानुष्ठान काल में व्यवहृत होते हैं,फिर भी यतः प्रयाज आदि यागों के क्रम को स्मरण कराने वाले अन्य वाक्यों का सर्वथा अभाव रहता है,इसीलिये वहाँ ब्राह्मणवाक्यों को ही क्रमस्मारक–रूप में स्वीकार कर लिया जाता है।

अर्थबोधिनी--अङ्गविधायक वाक्यों के पाठक्रम के अनुसार ही जहाँ क्रिया का क्रम निर्णीत होता है वहाँ का अगविधायकवाक्यगत पूर्वापरभाव पाठक्रम कहलाता है। जहाँ अर्थक्रम अगगतपूर्वापरभाव का निर्णायक नहीं होता है वहाँ पाठक्रम के द्वारा अंगों के पूर्वापरभाव का निर्णय होता हैं। अनुष्ठान में पाठक्रम को प्रमाण मानने का कारण यह है कि जिस क्रम के अगबोधक वाक्यों का पाठ वेद या ब्राह्मणग्रंथों में हुआ रहता है उसी क्रम से उनका अध्ययन किया जाता है अर्थात् जिस वाक्य का पाठ वेद में पहिले होता है उसका अध्ययन भी पहिले होता है और जिसका पाठ उस वाक्य के बाद होता है उसका अध्ययन भी उस वाक्य के बाद में होता है,अर्थात् पाठक्रम अध्ययन-क्रम का आधार होता है। जिस क्रम से अंगबोधक वाक्यों का अध्ययन किया जाता है उसी क्रम से वाक्यबोध्य अगों का ज्ञान भी होता है। जिस क्रम से अंगों का ज्ञान होता है उसी क्रम से उन अङ्गों का स्मरण होता है और स्मरणक्रम से अङ्गों का अनुष्ठान होता है। सारांश यह है कि पाठक्रम के अनुसार अध्ययनक्रम, अध्ययनक्रम के अनुसार अर्थज्ञानक्रम, अर्थज्ञानक्रम के अनुसार पदार्थस्मरणक्रम एव स्मरणक्रम के अनुसार पदार्थानुष्ठानक्रम होता है। अतएव पदार्थों के अनुष्ठान के क्रम का मूल आधार पाठक्रम होता है। यह क्रमनिर्णय की प्रक्रिया वैज्ञानिक होने के कारण उन सभी स्थलों में आदृत होती है जहां प्रयोजन की संपत्ति में बाधा प्राप्त होने के कारण आदरणीय अर्थक्रमरूप निर्णायक का अभाव होता है। इसीलिये ग्रन्थकार ने कहा है– 'तस्माच्च पदार्थानां क्रम आश्रीयते'।

पाठ दो प्रकार के होते हैं—(१) मन्त्रपाठ और (२) ब्राह्मणपाठ। इन्हीं दोनों पाठों के अनुसार क्रमशः दो पाठक्रम होते हैं—(१) मंत्रपाठक्रम एवं

(२) ब्राह्मणपाठक्रम। वेद की संहिताओं में पठित मंत्रों के पाठ में जो पूर्वापरभाव होता है उसे मंत्रपाठक्रम कहते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणवाक्यों में पठितविधि वाक्यों के पाठ में होने वाले पूर्वापरभाव को ब्राह्मणपाठक्रम कहते हैं।

मंत्रपाठक्रम ब्राह्मणपाठक्रम से बलवान् होता है (स चायं मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठाद् बलीयान्)। इसलिये उक्त दोनों पाठों में क्रमविषयक परस्पर विरोध होने पर मंत्रपाठक्रम मान्य होता है। इस उदाहरण को इस प्रकार समझा जा सकता है। तैत्तिरीयसंहिता में पहिले अग्नीषोमीय याग का विधान है तत्पश्चात् आग्नेय याग का। इसलिये ब्राह्मणपाठक्रमानुसार पहिले अग्नीषोमीय याग का अनुष्ठान होना चाहिये बादमें आग्नेय याग का। किन्तु मन्त्रपाठ के अन्तर्गत पहिले आग्नेय्य अनुवाक्या एवं याज्या मंत्रों का पाठ है उसके बाद अग्नीषोमीय अनुवाक्या एवं याज्या मंत्रों का पाठ है। इस प्रकार मंत्रपाठक्रमानुसार आग्नेय्य अनुवाक्या एवं याज्या मंत्रों का पाठ पहिले एवं अग्नीषोमीय अनुवाक्या एवं याज्या मंत्रों का पाठ उसके बाद होना चाहिये। आग्नेय्य मंत्रों का पाठ आग्नेय याग में होता है एवं अग्नीषोमीय मंत्रों का अग्नीषोमीय याग में। इस प्रकार आग्नेय याग का अनुष्ठान पहिले और अग्नीषोमीय याग का अनुष्ठान बाद में होना चाहिये। ब्राह्मणपाठ से मन्त्रपाठ बलवान् होता है, अतएव मंत्रपाठबलात् मंत्रपठित (संहितापठित) अपने याज्यानुवाक्या के क्रम के बल पर आग्नेय याग का अनुष्ठान पहिले होगा, अग्नीषोमीय का बाद में।

ब्राह्मणपाठक्रम इस प्रकार है—

१—यह ब्राह्मणपाठक्रम प्रकृत स्थल में अङ्गों के अनुष्ठानक्रम का निर्णायक नहीं है क्योंकि यह निम्नलिखित मन्त्रपाठ की बलवत्ता के कारण बाधित होता है।

क्रम संख्या	विधेय	विधिवाक्य	ग्रन्थसंदर्भ
१—	अग्नीषोमीय याग	'ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छत्'	तैत्तिरीय ब्राह्मण (५।२)
२—	आग्नेय याग	'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायाञ्च पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति'	तैत्तिरीय ब्राह्मण (६।३)

मंत्र पाठक्रम[२] इस प्रकार है—

क्रम संख्या	मंत्र संज्ञा	मंत्र	ग्रन्थ संदर्भ
१—(क)	अनुवाक्या (आग्नेय)	'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् । अपां रेतांसि जिन्वति'	हौत्रकाण्ड
(ख)	याज्या (आग्नेय)	भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिस्सचसे शिवाभिः । दिवि मूर्धानं दधिषे सुवर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ।।'	
२—(क)	अनुवाक्या (अग्नीषोमीय)	'अग्नीषोमा सवेदसा सहूती वनतगिरः । सदेवत्रा बभूवथुः'	आध्वर्यव-काण्ड
(ख)	याज्या (अग्नीषोमीय)	'युवमेतानि दिवि रोचनान्यग्निश्च सोम सक्रतू अधत्तम् । युवं सिन्धूँरभिशस्तेरवद्यादग्नीषोमावमुञ्चतं गृभीतान् ।।'	

मंत्रपाठ ब्राह्मणपाठ से बलवान् होता है। इसका कारण यह है कि

२—यह पाठक्रम प्रकृत स्थल में अङ्गों के अनुष्ठानक्रम का निर्णायक मान्य होता है क्योंकि यहाँ अपनी बलवत्ता के कारण उपर्युक्त ब्राह्मणपाठक्रम को अङ्ग-विषयक क्रमनिर्णायक नहीं होने देता ।

ब्राह्मणवाक्य साक्षात् अनुष्ठान से दूर रहते हैं। वे केवल अङ्गों का विधान करते हैं, किन्तु मंत्रों का पाठ यागानुष्ठानकाल में होता है, अतएव मंत्र ब्राह्मणवाक्य की अपेक्षा यागानुष्ठानकाल में अन्तरङ्ग हैं–अधिक समीप हैं। यदि यागानुष्ठानकाल में मंत्रों का पाठ न किया जायेगा तो प्रयोगसमवेत अर्थों का स्मरण न होगा और विना विधेय के स्मरण हुए यागानुष्ठान हो ही कैसे सकता है। विधेय पदार्थों के स्मारक मंत्र ही हो सकते हैं[1]।

जहाँ क्रमबोधक मंत्रपाठ नहीं प्राप्त होता है अथवा विधेयार्थस्मारक मंत्र नहीं प्राप्त होते हैं वहाँ अगत्या ब्राह्मणपाठ को ही क्रमबोधक मान लेना चाहिए। यथा प्रयाजों के विधायक ब्राह्मणवाक्य इस प्रकार है–'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, वर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति'। प्रकृत स्थल में ऐसा कोई मंत्रपाठ नहीं प्राप्त होता है जिससे क्रम का निर्णय हो सके, अतएव यहाँ उक्त ब्राह्मणवाक्यों के पाठ ही क्रमबोध में प्रमाण हैं।

प्रसंग—पाठ के पश्चात् अब तृतीय प्रमाण स्थान के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है--

(५४—स्थानक्रमलक्षणम्)

स्थानं नामोपस्थितिः। यस्य हि देशे योऽनुष्ठीयते तत्पूर्वतने पदार्थे कृते स एव प्रथममुपस्थितो भवतीति युक्तं तस्य प्रथममनुष्ठानम्। अत एव साद्यस्क्रे अग्नीषोमीयसवनीयानुवन्ध्यानां सवनीयदेशे सहानुष्ठाने कर्तव्ये आदौ सवनीयपशोरनुष्ठानमितरयोः पश्चात्। तस्मिन् देशे आश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयस्यैव प्रथममुपस्थितिः।

१—'मंत्रैरेव स्मर्तव्यमिति नियमविध्याश्रयणात्'

तथा हि। ज्योतिष्टोमे त्रयः पशु यागाः—अग्नीषोमीयः, सवनीयः अनुबन्ध्यश्चेति । ते च भिन्नदेशाः अग्नीषोमीय औपवसथ्येऽह्नि, सवनीयः सुत्याकाले, अनुबन्ध्यस्त्वन्ते । साद्यस्क्रो नाम यागविशेषः । स चाव्यक्तत्वाज्ज्योतिष्टोमविकारः । अतस्ते त्रयोऽपि पशुयागः साद्यस्क्रे चोदकप्राप्ताः । तेषां च तत्र साहित्यं श्रुतं 'सह पशूनालभेत' इति । तच्च साहित्यं सवनीयदेशे, तस्य प्रधान-प्रत्यासत्तेः, स्थानातिक्रमसाम्याच्च । सवनीयदेशे ह्यनुष्ठानेऽग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोः स्वस्वस्थानातिक्रमो भवति अग्नीषोमीयदेशे त्वनुष्ठाने सवनीयस्य स्वस्थानातिक्रममात्रम् । अनुबन्ध्यस्य तु स्वस्थानातिक्रमः सवनीयस्थानातिक्रमश्च स्यात् एवमनुबन्ध्यदेशेऽग्नीषोयीयस्य द्रष्टव्यः स्थानातिक्रमः ।

तथा च सवनीयदेशे सर्वेषामनुष्ठाने कर्तव्ये सवनीयस्य प्रथममनुष्ठानम् । आश्विनग्रहणानन्तरं हि सवनीयदेशः । प्रकृतौ 'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति' इत्याश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयो विहित इति साद्यस्क्रेऽप्याश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयो विहित इति साद्यस्क्रेऽप्याश्विनग्रहणे कृते सवनीय एवोपस्थितो भवति । अतो युक्तं तस्य स्थानात् प्रथममनुष्ठानमितरयोस्तु पश्चादित्युक्तम् ।

अर्थ-उपस्थिति को स्थान कहते हैं। उपस्थिति का अर्थ है—प्रकृति याग में अनुष्ठित क्रम के अनुसार किसी पदार्थ का विकृति याग में उपस्थित होना। जिसके देश में जिसका अनुष्ठ   है उसके अव्यवहित पूर्ववाली क्रिया के अनुष्ठान होने पर वही पहिले उपस्थित होता है इसलिये उसका

पहिले अनुष्ठान होना उचित है। इसीलिये जब साद्यस्क्र नामक याग के अन्तर्गत सवनीय देश में अग्नीषोमीय, सवनीय एवं अनुबन्ध्य इन तीनों का अव्यवहित अनुष्ठान करना होता है तो पहिले सवनीय नामक पशु का अनुष्ठान होता है, शेष दो पशुओं का अव्यवहित उत्तरकाल में, क्योंकि सवनीय देश में आश्विनग्रहण के अनन्तर सवनीय पशु की ही पहिले उपस्थिति होती है। इस विषय का स्पष्टीकरण इस प्रकार है ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत ३ पशु याग हैं। उनके नाम क्रमशः ये हैं—(१) अग्नीषोमीय (२) सवनीय एवं (३) अनुबन्ध्य। इन तीनों में से प्रत्येक का अनुष्ठान भिन्न-भिन्न काल में होता है, यथा अग्नीषोमीय याग का अनुष्ठान औपवसथ्य नामक दिन में, सवनीय का अनुष्ठान सुत्याकाल में और अनुबन्ध्य का अन्तिम दिन में। साद्यस्क्र एक यागविशेष की संज्ञा है। साद्यस्क्र अव्यक्त (अश्रुतदेवताक) होने से ज्योतिष्टोम का विकृति याग है। अतएव साद्यस्क्र में अतिदेश से तीनों पशुयागों की प्राप्ति होती है। साद्यस्क्र में तीनों पशुओं के सहानुष्ठान का विधान 'सह पशूनालभेत' अर्थात् पशुओं का आलभन साथ-साथ करे') इस श्रुति से होता है। पशुओं का यह सहानुष्ठान सुत्याकाल में होता है। कारण, (१) सवनीय प्रधान (सोमसवन) के समीप पड़ता है (२)पशुओं के स्थान के अतिक्रमण में समानता रहती है। सुत्याकाल में अनुष्ठान करने पर अग्नीषीमीय एवं अनुबन्ध्य पशु से अपने-अपने स्थान का ही अतिक्रमण करते हैं, जब कि अग्नीषोमीय देश में सहानुष्ठान करने पर सवनीय केवल अपने स्थान का अतिक्रमण करेगा और अनुबन्ध्य अपने स्थान का अतिक्रमण करेगा तथा सवनीय के स्थान का भी अतिक्रमण करेगा इसी प्रकार अनुबन्ध्य देश में अग्नीषोमीय के स्थानातिक्रम के विषय में भी समझना चाहिये।

उक्त कथन का अभिप्राय इस प्रकार है—सुत्याकाल में सभी पशुओं के सहानुष्ठान कर्तव्य होने पर सवनीय पशु का ही पहिले अनुष्ठान किया जाता जाता है। कारण, आश्विनग्रहण के पश्चात् सवनीयदेश प्राप्त होता है,क्योंकि प्रकृतियाग में आश्विनग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूप परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति' इस विधिवाक्य से यह बोध होता है कि आश्विनग्रहण के पश्चात्

सवनीय का ही अनुष्ठान होता है। उक्त वाक्य का अर्थ इस प्रकार है— 'अश्विनग्रहण करके त्रिगुणित रज्जु से यूप को वेष्ठित करके अग्निदेवताकसवनीय पशु का उपाकरण करे'। इसीलिये साद्यस्क में अश्विनग्रहण के पश्चात् सवनीय की उपस्थिति होती है, अतः स्थानप्रमाण से सवनीय पशु का पहिले अनुष्ठान होना उचित है, अन्य दोनों पशुओं का बाद में, यह बात जैमिनि ने (सूत्र ५।१।१३) में कही है।

अर्थबोधिनी–स्थान प्रमाण से क्रम का निर्णय होता है। स्थान प्रमाण की प्रवृत्ति विकृति यागों में ही होती है, वह भी एक विशेष स्थिति में। कभी कभी प्रकृति याग की अनेक दिन में अनुष्ठित होने वाली अनेक क्रियायें विकृति याग में साथ-साथ (एक ही दिन में) अनुष्ठित करनी होती हैं। तब प्रश्न यह होता है कि विकृति-याग में उन क्रियाओं के अनुष्ठान का क्रम क्या होगा? 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस अतिदेश वाक्य से इतना भर ज्ञात होता है कि प्रकृति याग की सभी क्रियायें विकृति याग में अनुष्ठित की जानी चाहियें किन्तु विकृति याग में अनुष्ठेय उन क्रियाओं के क्रम का ज्ञान नहीं हो पाता। यह इसलिये कि प्रकृतियाग में वे क्रियायें भिन्न-भिन्न दिनों में अनुष्ठित होती थीं जब कि विकृति याग में एक ही दिन में। यागों में प्रत्येक दिन की अपनी-अपनी विशेषता होती है। अतएव प्रकृतियागगत क्रियाओं के क्रम के समान ही विकृतिगत क्रियाओं का क्रम होगा या नहीं, इसका निश्चय होना चाहिये। अतएव ऐसे स्थलों पर क्रमनिर्णायक 'स्थान' होता है[1]।

'स्थान' का अर्थ एवं उसका लक्षण उदाहरण द्वारा सरलता से समझा जा सकता है। ज्योतिष्टोम (साद्यस्क) सोमयाग का प्रकृति याग है। इसमें तीन पशुओं का क्रमशः भिन्न-भिन्न दिनों में आलभन किया जाता है। पशुओं के

---

१ 'प्रकृतौ नानादेशानां पदार्थाना विकृतौ वचनादेकस्मिन् देशेऽनुष्ठाने कर्तव्ये यस्य देशेऽनुष्ठीयन्ते तस्य प्रथममनुष्ठानमितरयोस्तु पश्चात् अयं यः क्रमः स स्थानक्रमः'

(मीमांसान्यायप्रकाश पृष्ठ ९६)

नाम हैं—अग्नीषोमीय, सवनीय एवं अनुबन्ध्य। जिन दिनों में इन पशुओं का क्रमशः आलभन होता है उनमें से प्रथम दिन का नाम 'औपवसथ्य दिन', द्वितीय का 'सुत्याकाल' एवं तृतीय (अन्तिम) का 'अवभृथ' है। इस प्रकार ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु का आलभन 'औपवसथ्य' नामक प्रथम दिन में, सवनीय पशु का 'सुत्याकाल' संज्ञक द्वितीय दिन में एवं अनुबन्ध्य पशु का 'अवभृथ' संज्ञक अन्तिम (तृतीय) दिन में किया जाता है। यह परिस्थिति हुई ज्योतिष्टोमसंज्ञक प्रकृतियाग की।

इधर साद्यस्क्र नामक एक सोम याग है। यह अव्यक्त-नीरूप है क्योंकि इसमें रूप (देवता) का श्रवण नहीं है।[1] इस प्रकार सर्वाङ्गपाठ न प्राप्त होने के कारण इसे प्रकृतियाग न मानकर विकृतियाग माना जाता है[2]। मीमांसा के अनुसार 'साद्यस्क्र' ज्योतिष्टोम का विकृति याग है। इस याग का अनुष्ठान केवल एक ही दिन में किया जाता है।[3] चूँकि साद्यस्क्र ज्योतिष्टोम का विकृति याग है इसलिए 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस अतिदेश वाक्य से ज्योतिष्टोम के समान साद्यस्क्र में भी अग्नीषोमीय, सवनीय और अनुबन्ध्य संज्ञक तीनों पशुओं का आलभन किया जायेगा। ज्योतिष्टोम में ये पशु अलग-अलग दिनों में अनुष्ठित होते थे किन्तु साद्यस्क्र में तीनों पशुओं का का आलभन एक ही दिन में होता है क्योंकि 'सह पशूनालभेत' यह विधि

---

१ 'स्वार्थचोदितदेवतारहितत्वादित्यर्थः। तदुक्तं न्यायप्रकाशे 'अव्यक्तं च स्वार्थचोदितदेवताराहित्यमिति'।'

(कौमुदी पृष्ठ १३०)

तथा

'ननु यागस्य द्वे रूपे द्रव्यं देवता च'

(विभाग संख्या–२१)

२ देखिये विभाग संख्या–३४

३ 'साद्यस्क्रः एकदिनानुष्ठेयः सद्यः सोमक्रयविशिष्टः सोमयागविशेषः'

(सारविवेचिनी पृष्ठ ९६)

विधान करती है कि साद्यस्क याग में तीनों पशुओं का आलभन साथ-साथ अर्थात् एक ही दिन में किया जाये।

अब प्रश्न यह है कि तीनों दिनों में से किस एक दिन तीनों पशुओं का आलभन किया जाये ? उत्तर है—सवनीय देश में' अर्थात् सुत्याकाल में। सुत्याकाल में तीनों पशुओं का आलभन किया जाये और औपवसथ्य अथवा अवभृथ नामक दिनों में से किसी दिन न किया जाये। इसका कारण क्या है ? सुत्याकाल में तीनों पशुओं के आलभन (पशुयाग) किये जाने में २ कारण हैं—(१) प्रधानप्रत्यासत्ति एवं (२) स्थानातिक्रमसाम्य। 'प्रधान-प्रत्यासत्ति' का अर्थ है-मुख्य क्रिया से निकट होना। साद्यस्क्र सोमयाग है। इसमें मुख्य क्रिया सोमसवन है। ज्योतिष्टोम में भी सोम-सवन सुत्याकाल अर्थात् द्वितीय दिन (सवनीय) में होता था अतएव सवनीय दिन प्रधानप्रत्यासन्न हुआ। साद्यस्क्र में भी सोमसवन सुत्याकाल अर्थात् सवनीय देश में होता है। अतएव साद्यस्क्र में भी सवनीय दिन—प्रधानप्रत्यासन्न हुआ[1]। सुत्याकाल में सोमसवन जैसी मुख्य क्रिया के साथ ही पशुत्रय का आलभन होने पर प्रधानक्रिया (सोमसवन) एवं पशुयागों (पशुत्रय का आल-भन) में प्रत्यासत्ति(नैकट्य) होगी[2]। ज्योतिष्टोमगत सुत्याकाल में सोमसवन से अव्यवहित उत्तरकाल में सवनीय पशु का आलभन होता था जिससे प्रधान क्रिया-सोमसवन एवं सवनीय पशुक्रिया में प्रत्यासत्ति होती थी साद्यस्क्र में भी सुत्याकाल में पशुयाग होने पर प्रधान क्रिया के साथ पशु यागों की प्रत्यासत्ति होगी। अतएव सुत्याकाल अर्थात् सवनीय देश में ही तीनों पशुओं का आलभन होना चाहिए।

---

१ 'यथा प्रकृतिभूते ज्योतिष्टोमे सुत्याकालिकः सवनीयः प्रधानप्रत्यास-न्नस्तथैव तद्विकृतिशेषे साद्यस्क्रेऽपि तात्कालिकः स प्रधानप्रत्यासन्न एवेति भावः'।

(कौमुदी पृष्ठ १३१)

२ 'प्रधानस्य सोमयागस्य समनन्तरानुष्ठेयत्वेन सन्निहितत्वादित्यर्थः'।

(सारविवेचिनी पृष्ठ ९६)

पशुयागों के सवनीय देश में अनुष्ठान करने से 'स्थानातिक्रमसाम्य' होता है। स्थानातिक्रमसाम्य का अर्थ है—पशुयागों के 'स्थानों के उल्लंघन की समानता'। प्रकृतियाग 'ज्योतिष्टोम' में पशुओं के आलभन का क्रम इस प्रकार था—

पशु		दिव
अग्नीषोमीय	(१)……………	(१) अग्नीषोमीय देश अर्थात् औपवसथ्य दिन
सवनीय	(२)……………	(२। सवनीय देश अर्थात् सुत्याकाल
अनुवन्ध्य	(३)…………	।३) अनुवन्ध्य देश अर्थात् अवभृथ दिन

अब यदि साद्यस्क्र में सवनीय देश अर्थात् सुत्याकाल में तीनों पशुओं का अनुष्ठान होता है तो—

(१) अग्नीषोमीय पशु केवल अपने स्थान-अग्नीषोमीय देश का अतिक्रमण करता है (एक स्थानातिक्रमण)

(२) सवनीय पशु का अपने निर्धारित दिन सवनीय देश में अनुष्ठान होने के कारण स्थान का उल्लघन नहीं हुआ (स्थानातिक्रमण नहीं)

(३) अनुवन्ध्य पशु केवल अपने स्थान— अनुवन्ध्य देश का अतिक्रमण करता है (एक स्थानातिक्रमण)

इस प्रकार दो पशुओं का एक एक स्थानातिक्रमण हुआ।

यदि अग्नीषोमीय देश (१) में तीनों पशुओं का अनुष्ठान किया जायेगा तो—

(१) अग्नीषोमीय पशु का अपने निर्धारित दिन-अग्नीषोमीय देश में अनुष्ठान करने के कारण स्थान का उल्लंघन नहीं हुआ (स्थानातिक्रमण नहीं)

(२) सवनीय पशु केवल अपने स्थान—सवनीय देश का अतिक्रमण करता है (एक अतिक्रमण)

(३) अनुवन्ध्य पशु अपने स्थान—अनुवन्ध्य देश एवं सवनीय देश का अतिक्रमण करता है (दो अतिक्रमण)

इस प्रकार अग्नीषोमीय देश में अनुष्ठान करने पर सवनीय का 'एक अतिक्रमण' एवं अनुबन्ध्य के 'दो अतिक्रमण' हुए। अर्थात यहाँ स्थानातिक्रम-वैषम्य है।

यदि अनुबन्ध्य देश (३) में तीनों पशुओं का अनुष्ठान किया जायेगा तो–

(१) अग्नीषोमीय पशु अपने स्थान अग्नीषोमीय देश एवं सवनीय देश का अतिक्रमण करता है (दो अतिक्रमण)

(२) सवनीय पशु केवल अपने स्थान—सवनीय देश का अतिक्रमण करता है (एक अतिक्रमण)

(३) अनुबन्ध्य पशु का उसके अपने निर्धारित दिन-अनुबन्ध्य देश में अनुष्ठान करने के कारण स्थान का उल्लंघन नहीं हुआ (स्थानातिक्रम नहीं)।

इस प्रकार अनुबन्ध्य देश में अनुष्ठान होने पर अग्नीषोमीय के 'दो अतिक्रमण' हुए एवं सवनीय का 'एक अतिक्रमण' हुआ, अर्थात् यहाँ भी स्थानातिक्रमवैषम्य हुआ।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सवनीय देश में पशुओं का अनुष्ठान करने से ही स्थानातिक्रमसाम्य हो सकता है। साम्य प्रमाण से होता है वैषम्य नहीं। अतएव सवनीय देश में ही पशुओं का अनुष्ठान होना चाहिये।

'एवमनुबन्ध्यदेशेऽग्नीषोमीयस्य द्रष्टव्यः स्थानातिक्रमः' का अर्थ यह है कि जिस प्रकार अग्नीषोमीय देश में अनुबन्ध्य पशु का अनुष्ठान करने पर दो स्थानातिक्रम होते थे उसी तरह (एवम्) अनुबन्ध्य देश में अग्नीषोमीय पशु के अनुष्ठान करने पर 'दो स्थानातिक्रम' होंगे। जहाँ तक सवनीय पशु के अनुष्ठान का प्रश्न है वह अग्नीषोमीय देश में अनुष्ठित हो या अनुबन्ध्य देश में, वह अपने स्थानमात्र का अतिक्रमण करेगा (स्वस्थानातिक्रममात्रम्)।

अब तक यह निश्चय हो पाया है कि सवनीय देश में तीनों पशुओं का अनुष्ठान होगा। किन्तु पशुओं की संख्या—३ है, तीनों पशुओं का क्रमशः अनुष्ठान होगा अतएव यह प्रश्न उठना स्वाभाविक हो जाता है कि तीनों

पशुओं में से सर्वप्रथम किस पशु का अनुष्ठान होगा एवं द्वितीय तथा तृतीय स्थान पर किन पशुओं का ? इस प्रकार यहाँ पशुओं के अनुष्ठान के क्रम के विषय में जिज्ञासा होती है। यहाँ क्रम का निर्णायक 'स्थान' प्रमाण होता है।

प्रकृति याग—ज्योतिष्टोम में आश्विनग्रहण करने के पश्चात् सवनीय पशु का अनुष्ठान किया जाता है इसलिये विकृतियाग में भी आश्विनग्रहण करने के पश्चात् सवनीय ही उपस्थित होता है। इसी 'उपस्थिति' को स्थान प्रमाण कहा जाता है। इसीलिये स्थान प्रमाण का लक्षण 'स्थानं नामोपस्थितिः' किया गया है।

इस प्रकार सवनीय पशु का अनुष्ठान किया जायेगा तत्पश्चात् क्रमशः अग्नीषोमीय एवं अनुबन्ध्य पशु का। अग्नीषोमीय एवं अनुबन्ध्य के अनुष्ठान का क्रम प्रकृति के क्रम पर आधारित होगा[1]।

ज्योतिष्टोम में पशुओं के अनुष्ठान में यह क्रम था—अग्नीषोमीय,सवनीय अनुबन्ध्य, जब कि साद्यस्क में स्थान प्रमाण से सवनीय, अग्नीषोमीय एव अनुबन्ध्य यह क्रम हुआ।

प्रसंग—पञ्चम प्रमाण मुख्यक्रम का विवरण प्रस्तुत है—

(५५–(मुख्यक्रमलक्षणम्)

प्रधानक्रमेण योऽङ्गानां क्रमः स मुख्यक्रमः। येन हि क्रमेण प्रधानानि क्रियन्ते तेनैव क्रमेण तेषामङ्गान्यनुष्ठीयन्ते चेत्, तदा सर्वेषामङ्गानां स्वैः स्वैः प्रधानैस्तुल्यं व्यवधानं भवति। व्युत्क्रमेणानुष्ठाने केषांचिदङ्गानां स्वैः प्रधानैरत्यन्तमव्यवधानं केषांचिद-

---

१ 'तयोरपि मध्ये कस्य प्रथममनुष्ठानमिति चिन्तायां तत्र प्रकृतिदृष्टक्रमस्य परित्यागे प्रमाणाभावेन प्रथमतोऽग्नीषोमीयस्य, अनन्तरमानुबन्ध्यस्येत्येवं क्रमो बोद्धव्यः।'

(सारविवेचिनी पृष्ठ–९७)

त्यन्तं व्यवधानं स्यात् । तच्चायुक्तं, प्रयोगविध्यवगतसाहित्य-बाधापत्तेः । अतः प्रधानक्रमोऽप्यङ्गक्रमे हेतुः ।

अत एव प्रयाजशेषेणादावाग्नेयहविषोऽभिघारणं पश्चादैन्द्रस्य दध्नः आग्नेयैन्द्रयागयोः पौर्वापर्यात् । एवं च द्वयोरभिघारणयोः स्वस्वप्रधानेन तुल्यमेकान्तरितं व्यवधानम् । व्युत्क्रमेणाघारे त्वाग्नेयहविरभिघारणाग्नेययागयोरत्यन्तमव्यवधानम्, ऐन्द्रदध्यभिघारणैन्द्रयागयोद्व्र्यन्तरितं व्यवधानम् । तच्चायुक्तमित्युक्तमेव ।

अर्थ—प्रधान क्रियाओं के क्रम के अनुसार जो अङ्गक्रियाओं का क्रम होता है उसे मुख्यक्रम कहा जाता हैं । जिस क्रम से प्रधान क्रियाओं का अनुष्ठान होता है, यदि उसी क्रम से उनके अंगों का भी अनुष्ठान किया जाये तभी सभी अंग अपनी-अपनी प्रधान क्रियाओं से समान व्यवधान पर स्थित रहते हैं । किन्तु विपरीत क्रम से अनुष्ठान करने पर कुछ अङ्गों का अपनी प्रधान क्रियाओं से अत्यन्त अव्यवधान हो जाता है और कुछ का अत्यन्त व्यवधान । ऐसा होना उचित नहीं है क्योंकि इससे प्रयोग विधि जिस साहित्य (अर्थात् सहभाव अथवा तुल्य व्यवधान) का बोध कराती है उस (साहित्य) में वाधा पड़ती है । अतः प्रधानक्रम भी अङ्गक्रम में कारण माना जाता है । इसीलिए तो प्रयाज के अनुष्ठान से वचे हुये घृत से पहिले आग्नेय हवि का अभिघारण (छिड़काव) होता है और बाद मे ऐन्द्र दधि का अभिघारण । यह इसलिए कि आग्नेय और ऐन्द्रयागों में पूर्वापरभाव विद्यमान हैं । इस प्रकार दोनों अभिघारणों का अपने-अपने प्रधान से तुल्य व्यवधान होता है किन्तु विपरीत क्रम से अभिघारण होने पर 'आग्नेय हवि के आघार' और 'आग्नेय याग' में अत्यन्त अव्यवधान (अतिसामीप्य) हो जाता है, जब कि 'ऐन्द्रदधि के आघार' और 'ऐन्द्र याग' के बीच दो के अन्तर से व्यवधान होता है और इस प्रकार अत्यन्त अव्यवधान तथा द्व्यन्तरित व्यवधान होना उचित नहीं है, यही बात पहिले भी कही आ चुकी है ।

अर्थबोधिनी--मुख्यक्रम के द्वारा अङ्ग क्रियाओं के क्रमका निर्णय होता है। 'मुख्यक्रम' का अर्थ है-'मुख्य क्रियाओं का क्रम'। जो क्रम मुख्य क्रियाओं में होता है वही क्रम तत्तत् मुख्य क्रियाओं के अङ्गों में भी होता है। इस प्रकार मुख्यकियाओं एवं उनके अङ्गों में समान व्यवधान ही पड़ेगा, अन्यथा किसी मुख्यकिया एवं उसके अङ्गों में बिल्कुल व्यवधान हो नहीं होगा या व्यवधान कम हो पड़ेगा तथा किसी मुख्य क्रिया एवं उसके अङ्ग में व्यवधान बहुत ही अधिक हो पड़ेगा। किंतु ऐसा होना उचित नहीं क्योंकि अधिक व्यवधान प्रमाण नहीं है। प्रयोगविधि क्रियाओं के प्राशुभाव का विधान करती है। और यह प्राशुभाव अल्पतम व्यवधान से ही सम्पन्न हो सकता है।

उक्त विषय को उदाहरण द्वारा सरलता से समझा जा सकता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।५।७) में प्रथम 'अग्निर्मूर्धादिवः ....' 'भुवो यज्ञस्य ....' इत्यादि आग्नेय याज्यानुवाक्या मंत्रों का पाठ मिलता, है पुनः थोड़े व्यवधान के उपरान्त 'एन्द्र सानसिं रयिं.........' 'प्र ससाहिषे.........' इत्यादि ऐन्द्र्य याज्यानुवाक्या मंत्रों का पाठ मिलता है। यहाँ पाठक्रम म यह निश्चित होता है कि पहिले आग्नेय याग का अनुष्ठान होना चाहिए और उसके बाद में ऐन्द्र याग का (आग्नेयैन्द्रयागयोः पौर्वापर्यम्)।

आग्नेय एवं ऐन्द्रयाग दर्श याग के दो प्रधान याग हैं। दर्शपूर्णमास प्रकरण में ही 'प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयति' इस विधि के द्वारा प्रयाजानुष्ठान से बचे हुये घी के द्वारा हव्यों के छिड़काव का विधान किया गया है। दर्शयाग में हव्य (हवि) तीन हैं—(१) आग्नेय पुरोडाश (२) ऐन्द्र दधि (३) ऐन्द्र पय (पयस्)।

अब प्रश्न यह है कि उक्त तीन में से किस हवि का अभिघारण पहिले होगा और किस हवि का उसके बाद में। इस प्रश्न का उत्तर-प्रधानक्रम द्वारा मिलता है। आग्नेय और ऐन्द्र प्रधान याग हैं। आग्नेय याग का अनुष्ठान पहिले और ऐन्द्रयाग का तत्पश्चात् होता है। अतएव आग्नेय याग के अङ्ग पुरोडाशाभिघारण का अनुष्ठान पहिले होगा और ऐन्द्रयाग के अंग दध्यभि-

घारणका अनुष्ठान तत्पश्चात् होगा। इन अभिघारित पुरोडाश एवं दधि से क्रमशः आग्नेय याग एवं ऐन्द्रयाग का अनुष्ठान किया जायेगा। प्रकृत स्थल में अंग एवं प्रधान क्रियाओं के अनुष्ठान का क्रम इस प्रकार होगा—

१—आग्नेय याग की अंग क्रिया–[आग्नेय हवि (पुरोडाश) रभिघारण]
२—ऐन्द्रयाग की अंग क्रिया—(ऐन्द्रदध्यभिघारण)
३—आग्नेय याग
४—ऐन्द्र याग

यहाँ हम देखते हैं कि 'आग्नेय याग की अंग क्रिया' और 'आग्नेय याग' में एक–ऐन्द्र याग की अंग क्रिया'–का अन्तर है और 'ऐन्द्र याग की अंगक्रिया' और 'ऐन्द्रयाग' में एक–'आग्नेय याग' का अन्तर है अर्थात् अंगभूत अभि-घारणों का अपने-अपने प्रधान से समान व्यवधान है (एवं च द्वयोरभिधारणयोः स्वस्वप्रधानेन तुल्यमेकान्तरितं व्यवधानम्)।

यदि अंगों का अनुष्ठान प्रधानक्रम से न करके क्रम में उलट फेर (व्यतिक्रम) कर दिया जायेगा तो अंग एवं प्रधान क्रियाओं के अनुष्ठान का म इस प्रकार होगा—

१—ऐन्द्रयाग की अंगक्रिया—(ऐन्द्रदध्यभिघारण)
२—आग्नेय याग की अंग क्रिया–[आग्नेय हवि–(पुरोडाश) रभिघारण]
३—आग्नेय याग
४—ऐन्द्रयाग

यहाँ आग्नेय याग की अंग क्रिया और आग्नेय याग में बिल्कुल व्यवधान नहीं (अत्यन्तमव्यवधानम्) है किन्तु ऐन्द्रयाग की अंग क्रिया और ऐन्द्रयाग में दो–(१) आग्नेय याग की अंगक्रिया एव (२) आग्नेय याग—का अन्तर है। किन्तु इस प्रकार विषम व्यवधान होना समीचीन नहीं (व्युत्क्रमेणाघारे त्वाग्नेयहविरभिघारणाग्नेययागयोरत्यन्तमव्यवधानम्, ऐन्द्रदध्यभिघारणैन्द्र-यागयोर्द्व्यन्तरितं व्यवधानम् तच्चायुक्तम्)। इसीलिए अंगक्रियाओं के

अनुष्ठान में प्रधान क्रियाओं का क्रम ही ग्रहण किया जाता है। प्रधानक्रम से अंग क्रियाओं का अनुष्ठान करने से सभी अंगों का अपनी-अपनी प्रधान क्रियाओं से समान व्यवधान रहता है इसीलिए प्रधानक्रम स्वीकार किया जाता है। किन्तु प्रधान क्रम से विपरीतक्रम स्वीकार करने पर जैसा कि दिखलाया जा चुका है अंगों एवं तत्संवन्धी प्रधान क्रियाओं के वीच व्यवधान समान नहीं होते। अतएव विपरीत क्रम मान्य नहीं है।

प्रसंग–मुख्यक्रम पाठक्रम से दुर्बल एवं प्रवृत्तिक्रम से वलवान् होता है इस विषय का विवेचन किया जा रहा है—

(५६—मुख्यक्रमः पाठक्रमाद्दुर्बलः)

स च मुख्यक्रमः पाठक्रमाद्दुर्बलः। मुख्यक्रमो हि प्रमाणान्तरसापेक्षप्रधानक्रमप्रतिपत्तिसापेक्षतया विलम्बितप्रतिपत्तिकः। पाठक्रमस्तु निरपेक्षस्वाध्यायपाठक्रममात्रसापेक्षतया न तथेति बलवान्।

स चायं मुख्यक्रमः प्रवृत्तिक्रमाद्. बलवान् प्रवृत्तिक्रमे हि बहूनामङ्गानां प्रधानविप्रकर्षात्, मुख्यक्रमे तु सन्निकर्षात्।

अर्थ—मुख्यक्रम पाठक्रम की अपेक्षा दुर्बल होता है। मुख्यक्रम को पाठक्रम की अपेक्षा दुर्बल मानने का कारण यह है कि मुख्यक्रम का आधार प्रधान क्रियाओं के क्रम का ज्ञान है और प्रधान क्रियाओं के क्रम के ज्ञान का आधार अन्य प्रमाण (पाठक्रम) है इस प्रकार मुख्य क्रम से क्रमबोध विलम्ब से होता है, किन्तु पाठक्रम से क्रमनिर्णय अविलम्ब होता है। कारण, यहाँ क्रमबोध का आधार केवल वेदपठित वाक्यों का क्रम हैं, इसीलिये इस स्थल में क्रमनिर्णय शीघ्र हो जाता है, अतः पाठ क्रम मुख्यक्रम से बलवान् माना जाता है।

मुख्यक्रम प्रवृत्तिक्रम से बलवान् होता है, क्योंकि प्रवृत्तिक्रम-स्थल में

बहुत से अंग अपने प्रधान से दूर हो जाते हैं, जब कि मुख्यक्रमस्थल में समीप।

अर्थबोधिनी—मुख्यक्रम पाठक्रम से दुर्बल होता है। कारण, मुख्यक्रम प्रधान क्रियाओं के अनुष्ठान-क्रम पर आधारित होता है और प्रधानक्रियाओं का अनुष्ठानक्रम पाठक्रम पर आधारित होता है। इस प्रकार मुख्यक्रम प्रधानक्रम के ज्ञान (प्रतिपत्ति) की अपेक्षा रखता है। इसीलिये ग्रन्थकार ने मुख्यक्रम को 'प्रधानक्रमप्रतिपत्तिसापेक्ष' कहा है। प्रधानक्रम भी एक दूसरे प्रमाण—पाठक्रम की अपेक्षा रखता है। इसीलिये प्रधानक्रम को 'प्रमाणान्तरसापेक्ष' कहा गया है। मुख्यक्रम तो प्रमाणान्तरसापेक्ष जो प्रधान-क्रम उस प्रधानक्रम के ज्ञान की अपेक्षा रखने के कारण विलम्ब से ज्ञान कराता है (मुख्यक्रमो हि प्रमाणान्तरसापेक्षप्रधानक्रमप्रतिपत्तिसापेक्षतया विलम्वप्रतिपत्तिकः)। अतएव (विलम्वप्रतिपत्तिक होने के कारण) मुख्यक्रम दुर्वल है। पाठक्रमनिरपेक्ष-भूत 'वेद के पाठक्रम' की ही अपेक्षा रखता है, अतएव प्राशुप्रतिपत्तिक-शीघ्रप्रतिपत्तिक है, इस लिये मुख्यक्रम से वलवान् है।

मुख्यक्रम पाठक्रम से दुर्वल है इसका उदाहरण इस प्रकार है-दर्शपूर्णमास के पूर्णमास याग के अन्तर्गत दो याग हैं--(१) उपांशुयाग (२) अग्नीषोमीय याग। (१) उपांशु याग का द्रव्य आज्य है, आज्य के धर्म (क्रियायें) 'उत्पवन' एवं 'चतुर्गृहीतत्व' आदि हैं। (२) अग्नीषोमीय' याग का द्रव्य पुरोडाश है, पुरोडाश के धर्म (क्रियायें) 'निर्वाप' एवं 'अवधात' आदि हैं। प्रकृत विषय को सरलता से निम्न तालिका द्वारा समझा जा सकता हैं—

याग	साधन द्रव्य	द्रव्य की अङ्ग क्रियायें
१—उपांशु	आज्य	'उत्पवन', चतुर्गृहीतत्व आदि
२—अग्नीषोमीय	पुरोडाश	'निर्वाप', 'अवधात' आदि

यहाँ पहिले दो बातें समझ लेनी आवश्यक हैं—(१) उपांशु याग का अनुष्ठान पहिले एवं अग्नीषोमीय याग का अनुष्ठान बाद में होता है, अर्थात् उपांशुयाग, अग्नीषोमीय याग यह अनुष्ठानक्रम है। (२) वेद में पुरोडाश की

निर्वाप एवं अवघात आदि अङ्ग क्रियाओं (औषधधर्माः) का पाठ पहिले है–और आज्य की उत्पवन एवं चतुर्गृहीतत्व आदि अंग क्रियाओं (आज्यधर्माः) का पाठ बाद में है।

अब प्रश्न यह है कि क्या अनुष्ठानक्रम पर आधारित मुख्यक्रम को प्रमाण मानकर उपांशुयाग की अंगक्रियाओं 'उत्पवन' एवं 'चतुर्गृहीतत्व' आदि (आज्यधर्मों) का अनुष्ठान पहिले किया जाये और अग्नीषोमीय याग की अंग क्रियाओं—'निर्वाप' एवं अवघात आदि (औषधिधर्मों) का अनुष्ठान बाद में किया जाये अथवा पाठक्रम से औषधिधर्मों का अनुष्ठान पहिले और आज्यधर्मों का अनुष्ठान बाद में।

सिद्धान्त विकल्पगत द्वितीय मत को प्रमाण मानता है। उसके अनुसार पाठक्रम मुख्यक्रम से प्रबल है। कारण, वैदिक शब्दों से पाठक्रम का बोध शीघ्र हो जाता है किन्तु मुख्यक्रम से होने वाले क्रम का ज्ञान विलम्ब से होता है, क्योंकि यहाँ युक्तियों के द्वारा क्रम की कल्पना करनी पड़ती है। इसलिये पाठक्रम के अनुसार औषधिधर्मों का अनुष्ठान पहिले एवं आज्यधर्मों का अनुष्ठान बाद में होता है[1]।

१—'अत्रेदं बोध्यम्–दर्शपूर्णमासयोरुपांशुयाजोऽग्नीषोमीयश्चेत्येतदुभयं पौर्णमास्यामाम्नातं तत्रोपांशुयाजस्याज्यं द्रव्यं आज्यस्य धर्मा उत्पवनं चतुर्गृहीतत्वादय, अग्नीषोमीयस्य पुरोडाशो द्रव्यं तस्य धर्मा निर्वापावधातादयः तत्र च.यं पूर्वपक्षः मुख्यौ यागावुपांशुयाजाग्नीषोमीयौपूर्वोत्तरभाविनौ भवतः। तथा च सति अङ्गक्रमस्य प्रधानक्रमेणैवाश्रयणीयत्वात्प्रथममाज्यधर्माणामेवानुष्ठानं निर्वापादीनामिति। तत्र सिद्धान्तः औषधधर्माः निर्वापादयः पूर्वमाम्नाताः। आज्यधर्मास्तु पश्चात्। तत्र मुख्यक्रमप्रयुक्तमाज्यधर्माणां प्राथम्यं बाधित्वा पाठक्रमानुरोधेनौषधधर्मा एव प्रथमतोऽनुष्ठेयाः पाठक्रमो हि वैदिकैः शब्दैः सहसा प्रतीयते मुख्यक्रमानुसारी तु क्रम उपपत्त्या कल्पनीयः तस्मादग्नीषोमीयपुरोडाशार्था औषधधर्माः प्रथममनुष्ठेया आज्यधर्मास्तु पश्चादिति।'

(कौमुदी पृष्ठ १३६)

मुख्यक्रम प्रवृत्तिक्रम से बलवान् होता है। मुख्यक्रम के प्रवृत्तिक्रम से बलवान् होने का उदाहरण इस प्रकार है—दर्शपूर्णमास में (१) आग्नेय याग और (२) सान्नाय्य याग ये दो याग हैं। आग्नेय याग का अनुष्ठान पहिले किया जाता है और सान्नाय्य याग का बाद में। आग्नेय याग की अङ्ग क्रियायें 'अवदान' (हवि आदि को काटना), 'अभिघारण' (घृत से छिड़कना) एव 'हविरासादन' (हवि को निकट लाना) आदि हैं। सान्नाय्य याग की अंग क्रियायें दो प्रकार की हैं—(१) जिनका अनुष्ठान पूर्णिमा के एक दिन पहिले होना आवश्यक है—जैसे शाखाच्छेदन[1] (शाखा को काटना), वत्सापाकरण (बछड़े को अलग करना), दोहन (गाय को दुहना) आदि। ये क्रियायें यदि पूर्णिमा से एक दिन पूर्व अनुष्ठित न की जाकर पूर्णिमा के दिन ही अनुष्ठित की जायें तो उसी दिन दूध से दही न बन सकेगा और सान्नाय्य याग का अनुष्ठान न हो सकेगा। अतएव अर्थक्रम से उक्त क्रियाओं का अनुष्ठान पूर्व—एक दिन पहिले ही होगा। (२) दूसरे प्रकार की क्रियाओं में अवदान, अभिघारण एवं हविरासादन आदि हैं।

इतना तो निश्चित है कि आग्नेय याग का अनुष्ठान पहिले होता है और सान्नाय्य याग का उसके बाद। अब प्रश्न है कि उक्त यागों के पूर्व उनकी अङ्ग—क्रियाओं के अनुष्ठान का जैसा कि पूर्व उल्लेख किया जा चुका है 'सान्नाय्य' याग की कुछ अङ्ग क्रियाओं—शाखाच्छेदन, वत्सापाकरण एवं दोहन आदि—का अनुष्ठान सर्वप्रथम होगा। अब सान्नाय्य याग की अवदान, अभिघारण एवं हविरासादन आदि एवं आग्नेय याग की अवदान, अभिघारण एवं हविरासादन आदि क्रियाओं के अनुष्ठान के क्रम का प्रश्न है। प्रवृत्तिक्रम को प्रमाण मानने पर सान्नाय्य याग की कुछ अनुष्ठित क्रियाओं के बाद अवशिष्ट अवदान, अभिघारण एव हविरासादन आदि क्रियाओं का अनुष्ठान किया जाना चाहिये था अर्थात् सान्नाय्य की सभी अङ्ग क्रियायें साथ ही अनुष्ठित

---

१ शाखाच्छेदनवत्सापाकरणादय इत्यर्थः'

(सारविवेचिनी पृष्ठ ९९)

की जानी चाहिये, उसके बाद आग्नेय याग की अवदान, अभिघारण एवं हविरासादन आदि क्रियाओं का अनुष्ठान किया जाना चाहिये। इसके बाद आग्नेय याग एवं तत्पश्चात् सान्नाय्य याग का अनुष्ठान करना चाहिये, अर्थात् प्रवृत्तिक्रम को प्रमाण मानने पर अंग एवं प्रधान क्रियाओं का क्रम इस प्रकार होगा—

१—(क शाखाच्छेदन, वत्सापाकरण एवं दोहन आदि (सान्नाय्य की अङ्ग क्रियायें)।

(ख) अवदान अभिघारण एवं हविरासादन आदि (सान्नाय्य की अङ्ग क्रियायें)।

२— अवदान, अभिघारण एवं हविरासादन आदि (आग्नेययाग की अङ्ग क्रियायें)।

३— आग्नेय याग।

४— सान्नाय्य याग।

यहाँ हम देखते हैं कि सान्नाय्य की अंग क्रियाओं के अनुष्ठान (संख्या–१) एवं सान्नाय्य याग (संख्या—४) के बीच में आग्नेय याग की अङ्ग क्रियाओं (संख्या—२) एवं आग्नेय याग (संख्या—३) इन दो का व्यवधान पड़ता है, किन्तु आग्नेय याग की अङ्ग क्रियाओं (संख्या—२) एवं आग्नेय याग (संख्या —३) में बिल्कुल व्यवधान नहीं है। इस प्रकार प्रवृत्तिक्रम को प्रमाण मान कर अनुष्ठान करने पर यहाँ व्यवधान तुल्य नहीं होता है। मुख्यक्रम को प्रमाण मानने पर यह दोष नहीं होता।

मुक्यक्रम को प्रमाण मानने पर आग्नेय याग, की अवदान आदि अंग क्रियायों का अनुष्ठान पूर्व होगा और सान्नाय्य याग की अवदान आदि अंग क्रियाओं का अनुष्ठान उसके पश्चात्। अन्य क्रियाओं के अनुष्ठान समान होंगे। मुख्यक्रम को प्रमाण मानने पर अनुष्ठान की स्थिति इस प्रकार की होगी—

१—शाखाच्छेदन, वत्सापाकरण, दोहन आदि (सान्नाय्य याग की अंगक्रियायें)

२—अवदान, अभिघारण, हविरासादन आदि (आग्नेययाग की अंगक्रियायें)

३—अवदान, अभिघारण, हविरासादन आदि (सान्नाय्य याग की अंगक्रियायें)

४—आग्नेय याग

५—सान्नाय्य याग

यहाँ हम देखते हैं कि आग्नेय याग की अंगक्रियाओं (संख्या—२) एवं आग्नेय याग (संख्या—४) के बीच में केवल एक—सान्नाय्य याग की अंगक्रियाओं (संख्या—३) का व्यवधान है और सान्नाय्य याग की अंगक्रियाओं (संख्या—३) और सान्नाय्य याग (संख्या—५) के बीच में केवल एक—'आग्नेय याग' (संख्या—४) का व्यवधान है। इस प्रकार दोनों यागों के अंगों की अपने अपने प्रधान यागों से बराबर दूरी है। शाखाच्छेदन आदि अगक्रियाओं (संख्या—१) का प्रयोजनवशात् प्रत्येक स्थिति में सर्वप्रथम अनुष्ठान किया जायेगा[1]। यही कारण है कि मुख्यक्रम प्रधानक्रम से बलवान् होता है।

प्रसङ्ग—अब प्रवृत्तिक्रम का लक्षण अवसरप्राप्त है—

(५७—प्रवृत्तिक्रमलक्षणम्)

सहप्रयुज्यमानेषु प्रधानेषु संनिपातिनामङ्गानामावृत्त्यानुष्ठाने कर्तव्ये द्वितीयादिपदार्थानां प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमाद् यः क्रमः स प्रवृत्तिक्रमः। यथा प्राजापत्यपश्वङ्गेषु। प्राजापत्या हि 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति' इति वाक्येन तृतीयानिर्देशात् सेतिकर्तव्य-

---

१—'अत्रेदं बोध्यम्—दर्शपूर्णमासयोरादावाग्नेययागस्यानुष्ठान ततः सान्नाय्ययागस्य सान्नाय्यधर्माश्च केचिद्वत्सापाकरणदोहनादयः पूर्वमेवानुष्ठीयन्ते तत्र यदि प्रवृत्तिक्रममाश्रित्य सान्नाय्यधर्मा अवदानाभिघारणहविरासादनादयोऽपि सर्वे पूर्वमेवानुष्ठीयेरन् तत आग्नेयधर्मा अवदानादयस्तदनुष्ठानं च ततः सान्नाय्ययागानुष्ठानं तदा सान्नाय्यधर्माणां सर्वेषां स्वप्रधानेन सह द्वाभ्या-

ताका एककालत्वेन विहिताः। अतस्तेषां तदङ्गानां चोपाकरण-नियोजनप्रभृतीनां साहित्यं सम्पाद्यम्। तच्च प्राजापत्यपशूनां सम्प्रतिपन्नदेवताकत्वेन युगपदनुष्ठानादुपपद्यते । तदङ्गानां चोपाकरणादीनां युगपदनुष्ठानमशक्यम् । अतस्तेषां साहित्यमव्यवहितानुष्ठानात् संपाद्यम्। तच्चैकस्योपाकरणं विधायापरस्योपाकरणं विधेयम्। एवं नियोजनादिकमपि। तथा च प्राजापत्येषु कस्माच्चित् पशोरारभ्य एकं सर्वत्रानुष्ठाय द्वितीयादिपदार्थस्तेनैव क्रमेणानुष्ठेयः स प्रवृत्तिक्रमः। सोऽयं श्रुत्यादिभ्यो दुर्बलः।

तदेवं संक्षेपतो निरूपितः षड्विधक्रमनिरूपणेन प्रयोगविधिः।

अर्थ—यदि प्रधान क्रियाओं का अनुष्ठान साथ-साथ करना हो और 'सन्निपत्योपकारक' संज्ञक अंगभूत क्रियाओं का आवृत्ति से अनुष्ठान करना हो तो प्रथम अनुष्ठित क्रिया के क्रम से द्वितीय आदि क्रियाओं का जो क्रम गृहीत होता है उसे प्रवृत्तिक्रम कहते हैं। उदाहरण के लिये 'प्राजापत्य' संज्ञक पशुयागों की अंगक्रियाओं के क्रम का निश्चय प्रवृत्तिक्रम द्वारा ही होता है। वह इस प्रकार है—'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति' एक विधिवाक्य है। इस वाक्य का अर्थ है—'वैश्वदेवी नामक क्रिया का अनुष्ठान करने के पश्चात् प्राजापत्य पशुओं की क्रियाओं का अनुष्ठान करे'। यहाँ 'प्राजापत्यैः'

माग्नेयधर्मतदनुष्ठानाभ्यां विप्रकर्षः स्यात् यदा तु सान्नाय्यधर्माणां केषाञ्चिद्वत्सापाकरणादीनां पूर्वमनुष्ठानेऽप्यन्ये सर्वेऽवदानादयस्तद्धर्मा मुख्यक्रममाश्रित्याग्नेयधर्मानुष्ठानानन्तरमनुष्ठीयन्ते तदा सर्वेषामाग्नेयधर्मसान्नाय्यधर्माणामेकैकेन विजातीयेन व्यवधानं भवति आग्नेयधर्माणां स्वप्रधानेन सह सान्नाय्यधर्मैर्व्यवधानात्सान्नाय्यधर्माणां च स्वप्रधानेन सहाग्नेयानुष्ठानेन व्यवधानादिति न विप्रकर्षः तस्मान्मुख्यक्रमः प्रवृत्तिक्रमाद् बलवानिति।'

(कौमुदी—पृष्ठ १३६–३७)

इस तृतीयान्त पद से यह ज्ञात होता है कि 'प्राजापत्य' पशुयागों का अनुष्ठान एक काल में ही होना चाहिये, अतएव प्राजापत्य' पशुयाग एवं उनकी अङ्ग-भूत 'उपाकरण[1]', 'नियोजन' आदि क्रियाओं का अनुष्ठान साथ-साथ होना चाहिये। अनुष्ठान का साथ-साथ होना (अनुष्ठानसाहित्य) तभी संभव है जब समानदेवताक पशुक्रियाओं का अनुष्ठान एक ही काल में हो। 'प्राजापत्य' पशुक्रियाओं की उपाकरण–नियोजन आदि अंगक्रियाओं का युगपद् अनुष्ठान संभव नहीं है, अतएव अव्यवहितरूपेण एक के बाद दूसरी अंग क्रिया के अनुष्ठान के द्वारा साहित्य का संपादन करना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि एक पशु का उपाकरण करके दूसरे का उपाकरण करे। इसी प्रकार नियोजन आदि अंगक्रियाओं के विषय में भी समझना चाहिये। स्पष्ट अर्थ यह है कि किसी पशु में एक क्रिया के अनुष्ठान को प्रारंभ करके सभी पशुओं में उस क्रिया का अनुष्ठान करे और दूसरी तीसरी इसी प्रकार सभी अनुष्ठेय क्रियायें भी उसी प्रकार क्रमशः सभी पशुओं में अनुष्ठित करे, इसी को प्रवृत्तिक्रम कहते हैं। प्रवृत्तिक्रम श्रुति आदि सभी प्रमाणों से दुर्बल होता है।

इस प्रकार ६ तरह के क्रमों के निरूपण के साथ प्रयोगविधि का संक्षेप में विवेचन हुआ।

अर्थबोधिनी – कभी-कभी प्रधान क्रियाओं का अनुष्ठान एकसाथ होता है। उदाहरण के लिये वाजपेय याग में प्रजापति देवता को १७ पशुओं की वसा का प्रदान एक साथ ही किया जाता है। प्रधान क्रियाओं के साथ-साथ अनुष्ठान होने वाले स्थल में जब प्रधान क्रियाओं की अगभूत सन्निपत्योपकारक क्रियाओं का आवृत्ति के साथ-साथ अनुष्ठान करना होता है तब यदि प्रथम अनुष्ठित क्रिया के क्रम से द्वितीय आदि क्रिया के क्रम का निश्चय हो तो उसे प्रवृत्ति क्रम कहते हैं (सह प्रयुज्यमानेषु प्रधानेषु सन्निपातिनामङ्गानामावृत्या-

---

१—देखिये विभाग संख्या–४४ की 'अर्थबोधिनी'।

नुष्ठाने कर्तव्ये हि द्वितीयादिपदार्थानां प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमाद्यः क्रमः स प्रवृत्तिक्रमः) ।

वाजपेय याग में प्राजापत्य यागों का विधान है। प्रजापति देवता के लिए १७ पशुओं का आलभन किया जाता है सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् आलभेत्) । प्राजापत्य मुख्य याग हैं। पशुओं का 'उपाकरण', 'नियोजन' आदि क्रियायें सन्निपत्योपकारक हैं। प्राजापत्य मुख्य याग एवं सन्निपत्योपकारकरूप क्रियाओं का अनुष्ठान एक ही साथ होना चाहिये। यह बात 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति' इस विधि से ज्ञात होती है। यहाँ 'वैश्वदेवी' नामक क्रिया क पश्चात् सभी प्राजापत्य पशुओं की क्रियाओं का विधान किया गया है, अतएव इनके अनुष्ठान का एक ही काल प्रतीत होता है। 'उपाकरण' 'नियोजन' आदि क्रियायें एक ही काल में अनुष्ठित नहीं हो सकती हैं। १७ पशु हैं एवं अनेक क्रियायें हैं सभी क्रियाओं का अनुष्ठान प्रत्येक पशु में करना है। अतएव यहाँ 'साहित्य' शब्द का अभिप्राय 'एक काल में अनुष्ठान' न होकर 'अव्यवहित-रूप से अनुष्ठान' होगा।

प्रवृत्तिक्रम के द्वारा 'अव्यवहितरूपेण अनुष्ठान' इस प्रकार होगा—पहिले किसी एक पशु का उपाकरण करे (प्रथमानुष्ठित पदार्थ)। फिर किसी दूसरे का उपाकरण करे। इसी प्रकार सभी १७ पशुओं का 'उपाकरण करे (प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमात्) । सभी पशुओं का 'उपाकरण' हो चुकने पर पशुओं का नियोजन' करना होगा। 'नियोजन' सर्वप्रथम उसी पशु का किया जायेगा जिसका सर्वप्रथम उपाकरण किया गया था, उसके बाद उस पशु का नियोजन किया जायेगा जिसका उपाकरण दूसरे स्थान पर किया गया था। इसी प्रकार यथासंख्य सभी पशुओं का नियोजन किया जायेगा।

इस प्रकार संख्या के अनुसार क्रमशः पशुओं की उपाकरण नियोजन आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करने पर सभी पशुओं की भिन्न-भिन्न क्रियाओं में समान व्यवधान रहेगा। इसके विपरीत पशुओं में किसी क्रम से नियोजन आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करने पर परस्पर असमान व्यवधान होगा। असमान व्यवधान प्रयोग-विधि की दृष्टि में अनुचित है।

इस तृतीयान्त पद से यह ज्ञात होता है कि 'प्राजापत्य' पशुयागों का अनुष्ठान एक काल में ही होना चाहिये, अतएव प्राजापत्य' पशुयाग एवं उनकी अङ्ग-भूत 'उपाकरण[1]', 'नियोजन' आदि क्रियाओं का अनुष्ठान साथ-साथ होना चाहिये। अनुष्ठान का साथ-साथ होना (अनुष्ठानसाहित्य) तभी संभव है जब समानदेवताक पशुक्रियाओं का अनुष्ठान एक ही काल में हो। 'प्राजापत्य' पशुक्रियाओं की उपाकरण–नियोजन आदि अंगक्रियाओं का युगपद् अनुष्ठान संभव नहीं है, अतएव अव्यवहितरूपेण एक के बाद दूसरी अंग क्रिया के अनुष्ठान के द्वारा साहित्य का संपादन करना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि एक पशु का उपाकरण करके दूसरे का उपाकरण करे। इसी प्रकार नियोजन आदि अंगक्रियाओं के विषय में भी समझना चाहिये। स्पष्ट अर्थ यह है कि किसी पशु में एक क्रिया के अनुष्ठान को प्रारंभ करके सभी पशुओं में उस क्रिया का अनुष्ठान करे और दूसरी तीसरी इसी प्रकार सभी अनुष्ठेय क्रियायें भी उसी प्रकार क्रमशः सभी पशुओं में अनुष्ठित करे, इसी को प्रवृत्तिक्रम कहते हैं। प्रवृत्तिक्रम श्रुति आदि सभी प्रमाणों से दुर्बल होता है।

इस प्रकार ६ तरह के क्रमों के निरूपण के साथ प्रयोगविधि का संक्षेप में विवेचन हुआ।

अर्थबोधिनी – कभी-कभी प्रधान क्रियाओं का अनुष्ठान एकसाथ होता है। उदाहरण के लिये वाजपेय याग में प्रजापति देवता को १७ पशुओं की वसा का प्रदान एक साथ ही किया जाता है। प्रधान क्रियाओं के साथ-साथ अनुष्ठान होने वाले स्थल में जब प्रधान क्रियाओं की अगभूत सन्निपत्योपकारक क्रियाओं का आवृत्ति के साथ-साथ अनुष्ठान करना होता है तब यदि प्रथम अनुष्ठित क्रिया के क्रम से द्वितीय आदि क्रिया के क्रम का निश्चय हो तो उसे प्रवृत्ति क्रम कहते हैं (सह प्रयुज्यमानेषु प्रधानेषु सन्निपातिनामङ्गानामावृत्या-

---

१—देखिये विभाग संख्या–४४ की 'अर्थबोधिनी'।

नुष्ठाने कर्तव्ये हि द्वितीयादिपदार्थानां प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमाद्यः क्रमः स प्रवृत्तिक्रमः) ।

वाजपेय याग में प्राजापत्य यागों का विधान है । प्रजापति देवता के लिए १७ पशुओं का आलभन किया जाता है सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् आलभेत्) । प्राजापत्य मुख्य याग हैं । पशुओं का 'उपाकरण', 'नियोजन' आदि क्रियायें सन्निपत्योपकारक हैं । प्राजापत्य मुख्य याग एवं सन्निपत्योपकारकरूप क्रियाओं का अनुष्ठान एक ही साथ होना चाहिये । यह बात 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति' इस विधि से ज्ञात होती है । यहाँ 'वैश्वदेवी' नामक क्रिया के पश्चात् सभी प्राजापत्य पशुओं की क्रियाओं का विधान किया गया है, अतएव इनके अनुष्ठान का एक ही काल प्रतीत होता है । 'उपाकरण' 'नियोजन' आदि क्रियायें एक ही काल में अनुष्ठित नहीं हो सकती हैं । १७ पशु हैं एवं अनेक क्रियायें हैं सभी क्रियाओं का अनुष्ठान प्रत्येक पशु में करना है । अतएव यहाँ 'साहित्य' शब्द का अभिप्राय 'एक काल में अनुष्ठान' न होकर 'अव्यवहित-रूप से अनुष्ठान' होगा ।

प्रवृत्तिक्रम के द्वारा 'अव्यवहितरूपेण अनुष्ठान' इस प्रकार होगा—पहिले किसी एक पशु का उपाकरण करे (प्रथमानुष्ठित पदार्थ) । फिर किसी दूसरे का उपाकरण करे। इसी प्रकार सभी १७ पशुओं का 'उपाकरण करे (प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमात्) । सभी पशुओं का 'उपाकरण' हो चुकने पर पशुओं का नियोजन' करना होगा । 'नियोजन' सर्वप्रथम उसी पशु का किया जायेगा जिसका सर्वप्रथम उपाकरण किया गया था, उसके बाद उस पशु का नियोजन किया जायेगा जिसका उपाकरण दूसरे स्थान पर किया गया था । इसी प्रकार यथासंख्य सभी पशुओं का नियोजन किया जायेगा ।

इस प्रकार सख्या के अनुसार क्रमशः पशुओं की उपाकरण नियोजन आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करने पर सभी पशुओं की भिन्न-भिन्न क्रियाओं में समान व्यवधान रहेगा । इसके विपरीत पशुओं में किसी क्रम से नियोजन आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करने पर परस्पर असमान व्यवधान होगा । असमान व्यवधान प्रयोग-विधि की दृष्टि में अनुचित है ।

इस प्रकार प्रवृत्तिक्रम के विवेचन के साथ ही प्रयोगविधि का विवेचन समाप्त होता है।

प्रसङ्ग—अब अधिकारविधि का निरूपण किया जा रहा है—

(५८—अधिकारविधिलक्षणम्)

कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। कर्मजन्यफलस्वाम्यं कर्मजन्यफलभोक्तृत्वम्। स च 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिरूपः। स्वर्गमुद्दिश्य यागं विदधतानेन स्वर्गकामस्य यागजन्यफलभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते। 'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्' इत्यादिनाऽग्निदाहादौ निमित्ते कर्म विदधता निमित्तवतः कर्मजन्यपापक्षयरूपफलस्वाम्यं प्रतिपाद्यते। एवं 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादिना शुचिविहितकालजीविनः संध्योपासनजन्यप्रत्यवायपरिहाररूपफलस्वाम्यं बोध्यते।

अर्थ—अधिकार विधि के द्वारा यह ज्ञात होता है कि याग आदि कर्म के फल का स्वामी (अधिकारी) कौन व्यक्ति होता है। 'कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधकः' इस लक्षणगतपद के अन्दर 'कर्मजन्यफलस्वाम्य' शब्द का अर्थ 'कर्मजन्यफलभोक्तृता' है। अभिप्राय यह है कि 'स्वाम्य' शब्द का अर्थ 'भोक्ता होना' है। 'यजेत स्वर्गकामः' यह वाक्य अधिकारविधि का एक उदाहरण है। इस विधि के द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि स्वर्गेच्छु व्यक्ति ही यागानुष्ठान से उत्पन्न स्वर्गोपभोग–रूप फल का भोक्ता हो सकता है, इसी प्रकार 'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्' भी एक अधिकारविधि है। इसका अर्थ इस प्रकार है—'अग्न्याधान किये हुये जिस पुरुष का घर अग्नि से जल गया हो वह पुरुष शान्त हुई अग्नि के लिए आठ कपालों में बने हुये पुरोडाश का निर्वाप करे'। इस विधि वाक्य से यह बोध होता है कि उक्त प्रकार से पुरोडाशनिर्वाप से उत्पन्न होने वाला

पापक्षय-रूप फल उसी पुरुष को मिल सकता है जो अग्न्याधान कर चुका हो और साथ ही जिसका घर भी जल चुका हो। इसी प्रकार 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' अर्थात् 'प्रतिदिन सन्ध्योपासन करे' भी अधिकारविधि का एक उदाहरण है। सन्ध्योपासन का फल 'कर्तव्याननुष्ठान-रूप दोष का विनाश' (प्रत्यवायपरिहार) माना जाता है। उक्त फल का अधिकारी वही द्विज हो सकता है जो पवित्रतापूर्वक जीवनयापन करे।

अर्थबोधिनी—अधिकारविधि अधिकार का विधान करती है। 'अधिकार' का अर्थ है 'स्वाम्य' अर्थात् स्वामी होना (स्वामिता) इसीलिए अधिकार विधि को '.........स्वाम्यबोधक' कहा गया है। यहाँ 'स्वाम्य' पद से अभिप्राय उन फलों के स्वामी होने से है जो याग आदि के अनुष्ठान से उत्पन्न होते हैं (कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः)।

प्रत्येक याग के अनुष्ठानस्थल में जहाँ प्रत्येक विषय का विधान रहता है वहाँ इस विषय का भी विधान रहता है कि अमुक याग का अनुष्ठान अमुक विशेषणों से युक्त व्यक्ति ही कर सकता है। प्रत्येक याग के अनुष्ठाता की विशेषतायें-क्षमताएँ निर्धारित रहती हैं। यदि वे विशेषतायें किसी पुरुष में नहीं होती हैं तो वह याग के सम्पादन करने का अधिकारी नहीं है। यदि वह हठात् याग का अनुष्ठान करता है तो उसे उस याग से उत्पन्न होने वाला फल नहीं प्राप्त होता है अर्थात् वह व्यक्ति यागजन्यफल का भोक्ता नहीं हो सकता (कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। कर्मजन्यफलस्वाम्यं कर्मजन्यफलभोक्तृत्वम्।)

'यजेत स्वर्गकामः' एक अधिकारविधि है। इस विधि के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि स्वर्गकामी व्यक्ति ही यागफल का भोक्ता हो सकता है, तदितर नहीं। हम जानते हैं कि कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) नित्य, (२) नैमित्तिक एवं (३) काम्य। 'यजेत स्वर्गकामः' में जिस कर्म का निर्देश है वह काम्य है। नैमित्तिक कर्म में अधिकार विधि का उदाहरण है—'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं

निर्वपेत्' । इस विधि के द्वारा अग्नि देवता के लिए पुरोडाश के निर्वाप का विधान किया गया है । किन्तु निर्वाप का अधिकार उसी व्यक्ति को होगा जो अग्न्याधान कर चुका हो और उसके घर को अग्नि ने जला दिया हो अर्थात् प्रकृतस्थल में गृहदाह निमित्त कारण है। 'आहिताग्नित्व' भी अधिकारी का विशेषण है । दाहक अग्नि घर जलाकर जब शान्त होने लगती है. (क्षामवत्) तभी उसके लिए आठ कपालों में संस्कृत पुरोडाश का निर्वाप किया जाता है । घर का जल जाना पुरुष के पाप का सूचक है । पुरोडाश का निर्वाप करने से पाप नष्ट हो जाता है अर्थात् जिसका घर जल गया हो ऐसा निर्वाप करने वाला व्यक्ति निर्वापजन्य पापक्षयरूपफल का स्वामी होता है (निमित्तवतः कर्मजन्यपापक्षयरूपफल-स्वाम्यम्), जिसका घर नहीं जला है अथवा जिसने अग्न्याधान नहीं किया है उसे निर्वाप का फल नहीं मिल सकता ।

नित्य कर्म में अधिकारविधि का उदाहरण है—'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' द्विजातियों के लिए 'सन्ध्या' कर्म नित्य कर्तव्य होता है, जो द्विज सन्ध्योपासन नहीं करता उसे प्रत्यवाय होता है । प्रत्यवाय उस दोष को कहते हैं जो कर्तव्य (नित्य) कर्म के न करने से उत्पन्न होता है। किन्तु सन्ध्योपासन के अनुष्ठान का फल उन्हीं द्विजों को मिलता है जो पवित्र (शुचि) हों तथा शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करते हुये जीवनयापन करते हैं (विहित-कालजीवी), अन्यथा नहीं । यद्यपि 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इस विधि में 'शुचिविहितकालजीवित्वम्' जैसा अधिकार सुना नहीं जाता है फिर भी उसे आक्षिप्त समझना चाहिये ।

प्रसंग—अब अधिकारविधिगत अधिकारी एवं अधिकार के स्वरूप पर प्रकाश डाला जा रहा है—

(५९—पुरुषविशेषणरूपस्याधिकारस्य बहुत्र श्रुतत्वम्)

तच्च फलस्वाम्यं तस्यैव योऽधिकारविशिष्टः। अधिकारश्च स एव यद् विधिवाक्येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते । यथा काम्ये

कर्मणि फलकामना, नैमित्तिके कर्मणि निमित्तनिश्चयः, नित्ये संध्योपासनादौ शुचिविहितकालजीवित्वम् । अतएव 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इत्यनेन विधिवाक्येन स्वाराज्य मुद्दिश्य विदधतापि न स्वाराज्यमात्रकामस्य तत्फलभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते, किंतु राज्ञः सतः स्वाराज्यकामस्यैव, राजत्वस्याप्यधिकारिविशेषणत्वेन श्रवणात् ।

अर्थ—उक्त प्रकार से फल का स्वामी वही व्यक्ति होता है जो अधिकार से विशिष्ट हो और अधिकार उसी को कहते हैं जो विधि वाक्यों में कर्ता व्यक्ति के विशेषण रूप में सुना जाता है जैसे काम्य कर्म (यथा–'यजेत स्वर्गकामः') में फलकामना, नैमित्तिक कर्म (यस्याहिताग्ने............' इत्यादि) में निमित्त का निश्चय, नित्यकर्म (यथा 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' आदि) में 'शुचिविहितकालजीवित्व' कर्ता व्यक्ति का विशेषण है। इसीलिए 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' (अर्थ–स्वाराज्य की प्राप्ति का इच्छुक क्षत्रिय राजसूय याग का अनुष्ठान करे) इस विधि वाक्य में पुरुष के (१) राजत्व (क्षत्रियत्व) एवं (२) स्वाराज्यकामना ये दो विशेषण होने के कारण राजसूय याग का वही अनुष्ठाता व्यक्ति यागफल का भोक्ता हो सकता है जो स्वाराज्य का इच्छुक होने के साथ-साथ क्षत्रिय भी हो क्योंकि प्रकृत विधिवाक्य में 'राजत्व' (क्षत्रिय होना) को भी अधिकारी पुरुष के विशेषण रूप में सुना गया है।

अर्थबोधिनी—जो व्यक्ति अधिकारविशिष्ट होता है वही कर्मानुष्ठान करने पर उस कर्म के फल का भोक्ता होता है (तच्च फलस्वाम्यं तस्यैव योऽधिकारविशिष्टः) । अभिप्राय यह है कि अधिकारी व्यक्ति ही कर्मफलभोक्ता होता है। अधिकारी पुरुष के विशेषण को ही अधिकार कहते हैं (अधिकारश्च स एव यद्विधिवाक्येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते)। 'यजेत स्वर्गकामः' स्थल में प्रासंगिक याग काम्य कर्म है, अतएव स्वर्गकामना अर्थात्

फलकामना 'अधिकार' है। जिस पुरुष में फलकामना है वह अधिकारी है। 'स्वर्गकाम:' अधिकारी व्यक्ति है और 'स्वर्गकामना' अधिकार है जो कि पुरुष का विशेषण है इसी प्रकार नैमित्तिक कर्म में निमित्त का निश्चय अधिकार होता है 'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् सोऽग्नयेक्षामवतेऽष्टाकपाल निवर्पेत्' इस नैमित्तिककर्मसम्बन्धी अधिकारविधि में 'अग्न्याधान' एवं 'गृहदाह' अधिकार है और संध्योपासन आदि नित्यकर्म में 'शुचिविहितकालजीवित्व' अधिकार है।[1] जो पुरुष 'शुचि एवं विहितकालजीवी' होता है वह सन्ध्योपासन आदि नित्य क्रियाओं के फल का भोक्ता होता है।

अधिकारविधि में व्यक्ति के जितने विशेषण होते हैं वे सभी सम्मिलित रूप में अधिकारी पुरुष में होने चाहिए, एक भी विशेषण की कमी होन पर व्यक्ति कर्मजन्यफल का भोक्ता नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' यह एक विधि है। यहाँ पुरुष के दो विशेषण हैं–(१) 'राजा' (क्षत्रिय[2]) एवं (२) 'स्वाराज्यकाम:'। अतएव राजसूय याग का अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति को क्षत्रिय भी होना चाहिये और 'स्वाराज्य काम' भी। केवल 'स्वाराज्यकाम' व्यक्ति राजसूय कर्म के फल का भोक्ता नहीं हो सकता, उसे क्षत्रिय भी होना आवश्यक है।

१—देखिये विभाग संख्या — ५८

२ — यहाँ 'राजा' शब्द का अर्थ 'क्षत्रिय' है—'अत्र राजपदं क्षत्रियमात्रवाचकम्। एवञ्च नेतरयोरत्र प्राप्ति:।

(सारविवेचिनी–पृष्ठ १०३)

एवं

'अत्र हि राजशब्देन क्षत्रिय एवोच्यते न तु राजसम्बन्धमात्रेण तदन्योऽपि, तेन क्षत्रियस्यैव राजसूयेऽधिकारो न तु तदन्यस्य ब्राह्मणादेरित्यन्यत्र विस्तर इति भाव:'।

(कौमुदी पृष्ठ—१४३)

प्रसङ्ग—जिन विधिवाक्यों में जहाँ कहीं ऐसे विशेषण अश्रुत होते हैं जिनकी अपेक्षा होती है वहाँ उनका आक्षेप हो जाता है।

(६०—क्वचिच्चाधिकारस्य पुरुषविशेषणत्वेनाश्रुतत्वम्)

क्वचित्तु पुरुषविशेषणत्वेनाश्रुतमप्यधिकारिविशेषणम्। यथा ध्ययनविधिसिद्धा विद्या। क्रतुविधीनामर्थज्ञानापेक्षणीयत्वेनाध्ययनविधिसिद्धार्थज्ञानवन्तं प्रत्येव प्रवृत्तेः। एवमग्निसाध्यकर्मसु आधानसिद्धाग्निमत्ता। अग्निसाध्यकर्मणामग्न्यपेक्षत्वेन तद्विधीनामाधानसिद्धाग्निमन्तं प्रत्येव प्रवृत्तेः। एवं सामर्थ्यमपि 'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी' इति न्यायात् समर्थं प्रत्येव विधिप्रवृत्तेः। तदेवं निरूपितो विधिः।

अर्थ-कहीं कहीं पुरुष के विशेषण—रूप में न सुना गया पदार्थ भी पुरुष का विशेषण होता है, जैसे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि से प्राप्त विद्या भी पुरुष का विशेषण मानी जाती है, यद्यपि विधिवाक्यों में 'विद्या' साक्षात् पुरुष के विशेषण रूप में सुनी नहीं जाती। इसका कारण यह है कि याग-विधायक विधिवाक्यों की प्रवृत्ति केवल उन्हीं पुरुषों के प्रति हो सकती है जिन्होंने अध्ययनविधि के अनुसार विद्या की प्राप्ति कर ली है। भला विधिवाक्यों का अर्थ न जानने वाला व्यक्ति यागानुष्ठान में प्रवृत्त ही कैसे हो सकता है? इसी प्रकार अग्निसापेक्ष क्रियाओं का अनुष्ठाता पुरुष वही हो सकता है जिसने नियमपूर्वक अग्न्याधान कर लिया हो क्योंकि अग्निसापेक्ष क्रियाओं से सम्बन्धित विधिवाक्यों की प्रवृत्ति उन्हीं पुरुषों के प्रति होती है जो अग्नि का आधान कर चुके हों। अग्न्याधानरहित व्यक्ति तत्तत् अग्निसापेक्ष कर्मों के फल के अधिकारी नहीं हो सकते, भले ही वे व्यक्ति तत्तत् क्रियाओं का अनुष्ठान करें। इसी प्रकार तत्तत् क्रियाओं के सम्पादन की 'सामर्थ्य' (क्षमता) भी तत्तत्विधानस्थल में पुरुष का विशेषण समझी जानी चाहिये क्योंकि 'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी' इस न्याय से यह विदित होता है कि आख्यात जब अर्थ का बोध करते हैं तब (पुरुषगत) सामर्थ्य

(कर्मानुष्ठानक्षमता) भी अर्थबोध में सहायक होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि समर्थ पुरुष के प्रति विधियों की प्रवृत्ति होती है।

अर्थबोधिनी—पिछले विभाग में ऐसे अधिकारों का विवेचन किया गया है जो अधिकारविधि में पुरुष के विशेषण रूप में सुने जाते हैं जैसे—'यजेत स्वर्गकामः' में 'स्वर्गकामना'। इसी प्रकार 'अग्निदाह' एवं 'राजत्व' 'स्वाराज्यकामना' आदि। किन्तु इस विभाग में उन अधिकारों का विवेचन किया गया है जो विधिवाक्य में अधिकारी पुरुष के विशेषण रूप में नहीं सुने जाते हैं फिर भी अधिकारी पुरुष के विशेषण रूप में उनका आक्षेप होता है अर्थात् अधिकारी होने के लिए उनकी अपेक्षा मानी जाती है (पुरुषविशेषणत्वेनाश्रुतमप्यधिकारिविशेषणम्) उदाहरण के लिए यागविधायक विधियों में 'अध्ययनविधि द्वारा सिद्धविद्या' को अधिकारी पुरुष का विशेषण माना जाता है, यद्यपि वहाँ इसका साक्षात् श्रवण नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि क्रतु (याग) का अनुष्ठान करने का अधिकार उसी व्यक्ति को है जो 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधि के अनुसार वेदों का अध्ययन करके वेदों के अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर चुका हो (अध्ययनविधिसिद्धा विद्या)। यागविधायक विधियों के द्वारा कर्म के अनुष्ठान करने में वेदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा होती है। (क्रतुविधीनामर्थज्ञानापेक्षणीयत्वेन), इसलिये अध्ययनविधि के द्वारा जिसे वेदार्थ का ज्ञान हुआ रहता है उसी पुरुष के प्रति क्रतुविधियों की प्रवृत्ति होती है (अध्ययनविधिसिद्धार्थज्ञानवन्तं प्रत्येव क्रतुविधीनाम् प्रवृत्तेः) अर्थात् क्रतुविधियाँ ऐसे पुरुषों के लिये ही क्रतु (याग) का विधान करती हैं जिन्होंने अध्ययनविधि के द्वारा वेदार्थज्ञान प्राप्त कर लिया हो। शूद्र उपनयन का अधिकारी नहीं होता है, अतएव वेदाध्ययन का भी अधिकारी नहीं होता। इसीलिये वह क्रतुविधि-विहित कर्मों का भी अधिकारी नहीं होता है।

इसी तरह जिन कर्मों का अनुष्ठान अग्निसापेक्ष होता है उनके अनुष्ठान करने का अधिकार उन्हीं पुरुषों को है जिन्होंने नियमपूर्वक अग्न्याधान कर लिया हो। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिये ही अग्न्याधान का विधान है,

अतएव जिन द्विजों ने नियमपूर्वक अग्न्याधान किया हो वे ही अग्निसाध्यकर्म के अनुष्ठान का फल प्राप्त कर सकते हैं। शूद्र किसी भी दशा में अग्नि द्वारा अनुष्ठेय कर्म का अधिकारी नहीं हो सकता। आशय यह है कि अग्निसाध्य कर्म में 'आधानसिद्ध अग्निमत्ता' पुरुष का विशेषण होती है। कारण, अग्नि द्वारा अनुष्ठेय कर्मों के अनुष्ठान में अग्नि की अपेक्षा होती है। (अग्निसाध्य-कर्मणामग्न्यपेक्षत्वेन), अतएव अग्निसाध्य कर्मों का विधान करने वाली विधियों (तद्विधीनाम्) की प्रवृत्ति ऐसे पुरुषों के प्रति ही होती है जो शास्त्र-निर्धारित अग्न्याधान के नियमों के अनुसार अग्नि का आधान कर चुके होते है (तद्विधीनामाधानसिद्धाग्निमन्तं प्रत्येव प्रवृत्तेः)।

इसी प्रकार विधिबोधित सभी क्रियाओं के अनुष्ठान करने की 'शक्ति' (सामर्थ्य) भी पुरुष का विशेषण होती है, यद्यपि विधिवाक्यों में पुरुष के विशेषणरूप में सामर्थ्य का श्रवण नहीं रहा करता है। उदाहरण के लिये अनुष्ठाता पुरुष की इन्द्रियाँ सशक्त होनी चाहिये, उनका कोई भी अङ्ग विकृत नहीं होना चाहिये, क्योंकि अन्धे, बहरे, लूले लँगड़े आदि व्यक्ति यागानुष्ठान के लिये समर्थ नहीं हैं। अन्धा आज्यावेक्षण (आज्य को देखना) नहीं कर सकता, बहरा अध्वर्यु द्वारा उच्चारण किये गये मंत्र को नहीं सुन सकता, लूला प्रोक्षण (छिड़कना) आदि क्रियाओं का अनुष्ठान नहीं कर सकता और लँगड़ा 'अभिक्रमण' आदि में असमर्थ होता है अतएव सामर्थ्य भी पुरुष का विशेषण होता है। समर्थ व्यक्ति के प्रति ही विधियाँ भी प्रवृत्त होती हैं। असमर्थ व्यक्ति याग का अनुष्ठान अविकल रूप में नहीं कर सकता, अतएव वह याग-फल का भागी न होने के कारण अधिकारी नहीं माना जा सकता।

'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी' यह एक न्याय-सिद्धान्त है। 'आख्यात' पद अर्थ के वाचक होते हैं। अर्थ का अभिधान करने वाले आख्यातों की सहकारिणी शक्ति (सामर्थ्य) होती है। 'यजेत' पद का अर्थ

याग करना चाहिये' होता है, किन्तु वस्तुतः इसका पूरा अर्थ होता है—'याग करने में समर्थ पुरुष को याग करना चाहिये'। इसी प्रकार 'देखे' का अर्थ "देखने में 'समर्थ' पुरुष देखे" होता है। इस प्रकार आख्यात के अर्थबोध में शक्ति भी सहायता करती है।

इस प्रकार विधि का विवेचन पूर्ण हुआ।

(विधिप्रकरण समाप्त)

(ग) मंत्रप्रकरणम्

प्रसंग—अब मंत्र का विवेचन किया जा रहा है—

(६१—मंत्रविचारः)

प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः । तेषां च तादृशार्थस्मारकत्वेनैवार्थवत्त्वम् । न तु तदुच्चारणमदृष्टार्थम्, संभवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । न च दृष्टस्यार्थस्मरणस्य प्रकारान्तरेणापि संभवान्मन्त्राम्नानं व्यर्थमिति वाच्यम् । मन्त्रैरेव स्मर्तव्यमिति नियमविध्याश्रयणात् ।

अर्थ—मंत्र अनुष्ठान में समवेत द्रव्य, देवता, क्रिया आदि पदार्थों का स्मरण कराते हैं। इस प्रकार से पदार्थों का स्मरण कराने में ही मंत्रों की सार्थकता है । मंत्रोच्चारण का अदृष्ट फल सर्वत्र नहीं मानना चाहिये, क्योंकि जब (स्मरण-रूप) दृष्ट फल संभव हो तो अदृष्ठ फल की कल्पना करना उचित नहीं। और यह कहना कि 'अर्थस्मरणरूप दृष्ट प्रयोजन की सिद्धि तो अन्य प्रमाणों से भी हो सकती है, फिर मंत्रोच्चारण व्यर्थ ही है, भी उचित नहीं है । कारण, 'मंत्रैरेव स्मर्तव्यम्' यह नियमविधि आश्रयणीय है ।

अर्थबोधिनी—यागानुष्ठान अनेक पदार्थों द्वारा सम्पन्न होता है। ये पदार्थ (अर्थ) द्रव्य, देवता, क्रिया आदिरूप से अनेक प्रकार के होते हैं। याग के अनुष्ठान (प्रयोग) काल में मंत्रों का भी पाठ किया जाता है। प्रश्न है कि मंत्रों का पाठ क्यों किया जाता है ? सिद्धान्त पक्ष का मत है कि मंत्रों के पाठ से उन पदार्थों का स्मरण किया जाता है जिनका उपयोग अनुष्ठान-काल में किया जाता है । अर्थात् मन्त्र अनुष्ठान (प्रयोग) में समवेत (सम्बद्ध) पदार्थों (क्रिया एवं क्रियाभिन्न) के स्मारक होते हैं (प्रयोग-

समवेतार्थस्मारका मंत्राः) । मन्त्रों की सार्थकता (अर्थवत्त्वम्) प्रयोगसमवेत अर्थों के स्मरण कराने में ही है ।

पूर्वपक्षी मंत्रोच्चारण को अदृष्टार्थक मानने का आग्रह कर सकता वह कह सकता है कि अनुष्ठानकाल में विहित मंत्रों के यथास्थान पाठ से अदृष्ट उत्पन्न होता है, मत्र-पाठ का कुछ भी दृष्ट प्रयोजन नहीं । मंत्र प्रयोगसमवेत अर्थ के स्मारक नहीं माने जाने चाहिए । सिद्धान्ती पूर्वपक्षी के उक्त कथन का खण्डन करता है । यदि दृष्ट फल की संभावना हो तो अदृष्ट फल की कल्पना कहीं भी करनी उचित नहीं है । जब कि मंत्रोच्चारण का स्मरणात्मक दृष्ट प्रयोजन (फल) माना जा सकता है तब उसे मन्त्रोच्चारण का फल न मानकर उसका फल अदृष्ट अर्थात् पुण्योत्पत्ति नहीं माना जा सकता ।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि प्रयोगसमवेत अर्थों का स्मरण किसी दूसरे उपाय जैसे ब्राह्मण वाक्यों के द्वारा भी किया जा सकता है फिर क्यों न मन्त्रोच्चारण को अदृष्टार्थक मान लिया जाये, तो इस आक्षेप का खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह सकता है कि उक्त युक्ति के आधार पर प्रयोगसमवेत अर्थों के स्मरण कराने के सम्बन्ध में 'मंत्रैरेव स्मर्तव्यम्' इस प्रकार नियमविधि आश्रयणीय है, अतः प्रयोगसमवेत अर्थों का स्मरण अनिवार्यतः मंत्रों द्वारा ही किया जाना चाहिये । 'मंत्रैरेव स्मर्तव्यम्' इस नियम विधि का आश्रय लेने पर इसे प्रमाण मानने पर मंत्रों के उच्चारण को अदृष्टार्थक नहीं मान सकते । यदि मंत्रों द्वारा प्रयोगसमवेत अर्थों का स्मरण न किया जायेगा तो उक्त नियमविधि का उल्लङ्घन हो जायेगा एवं तदनुसार वहाँ यागजन्य अपूर्व निष्पन्न न हो सकेगा—नियमापूर्व की उत्पत्ति न हो सकेगी । सारांश यह कि नियमापूर्व की उत्पत्ति न होने से यागानुष्ठान खण्डित समझा जायेगा और अनुष्ठाता को यागजन्यफल की प्राप्ति न हो सकेगी । इसी बात को सारविवेचिनीकार ने संक्षेप में इस प्रकार कहा है—'एवञ्च नियमविधिबलात् नियमादृष्टं किञ्चिदुत्पद्यत इत्यङ्गीक्रियते'[1] ।

१—सारविवेचिनी पृष्ठ—११०

प्रसंग—नियमविधि के स्वरूप का विवेचन—

(६२—नियमविधिविचारः)

नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः। यथाहुः—

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते॥' इति।

अस्यार्थः—प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिरपूर्वविधिः, यथा 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिः। स्वर्गार्थकयागस्य प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्यानेन विधानात्।

पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः। यथा 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यादिः। कथमस्य पक्षेऽप्राप्तप्रापकत्वमिति चेत्, इत्थम्—अनेन ह्यवघातस्य वैतुष्यार्थत्वं न प्रतिपाद्यतेऽन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्, किन्तु नियमः। स चाप्राप्तांशपूरणम्। वैतुष्यस्य नानोपायसाध्यत्वाद् यदा अवघातं परित्यज्य उपायान्तरं ग्रहीतुमारभते, तदा अवघातस्याप्राप्तत्वेन तद्विधानात्मकमप्राप्तांशपूरणमेवानेन विधिना क्रियते। अतश्च नियमविधावप्राप्तांशपूरणात्मको नियम एव वाक्यार्थः। पक्षेऽप्राप्तावघातस्य विधानमिति यावत्।

अर्थ—विविध साधनों से सिद्ध होने वाली क्रिया के अनुष्ठान में अनभिप्रेत साधन की प्राप्ति होने लगने पर अनभिप्रेत साधन की प्राप्ति कराने वाली विधि को नियमविधि कहा जाता है। कुमारिलभट्ट ने तन्त्रवार्तिक (१।२।३४) के अन्तर्गत 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इस श्लोक में नियमविधि एवं अन्य दो विधियों का लक्षण किया है। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—'अत्यन्त अप्राप्त पदार्थ का विधान करने वाली विधि को अपूर्व विधि, पदार्थ की पाक्षिक अप्राप्ति होने पर तद्विधायक वाक्य को नियम विधि और एक अर्थ तथा इतर

अर्थ दोनों की प्राप्ति होने पर निवृत्ति का बोध कराने वाली विधि को परिसंख्या विधि कहा जाता है। उक्त श्लोक का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार है– अन्य प्रमाणों से जिस पदार्थ का विधान नहीं हुआ रहता है उस पदार्थ का विधान करने वाली विधि को अपूर्वविधि कहते हैं. जैसे 'यजेत स्वर्गकाम:' यह अपूर्वविधि है। कारण, जिस याग का विधान अन्य किसी प्रमाण से नहीं होता है, ऐसे स्वर्गफलक याग का विधान यह विधि करती है।

पक्ष में अप्राप्त पदार्थ की प्रापक विधि को नियम विधि कहते हैं, यथा 'व्रीहीनवहन्ति' (धान कूटे जायें) यह नियम विधि है। यह विधि अवघात का विधान इसलिये नहीं करती कि धान की भूसी दूर हो जाये, क्योंकि अवघात से भूसी दूर होती है और अवघात के अभाव में नहीं दूर होती, इस प्रकार लोकसिद्ध अन्वय एवं व्यतिरेक से ही इस विषय का ज्ञान हो जाता है। यह विधि नियम का प्रतिपादन करती है। अप्राप्त अंश की प्राप्ति को ही नियम कहा जाता है। तुषविमोक अनेक उपायों से सिद्ध हो सकता है, अतएव जब अवघात को छोड़कर अन्य किसी उपाय को ग्रहण किया जाने लगता है, तब ऐसी स्थिति में यह विधि अप्राप्त–अवघात का विधान करके अप्राप्त अंश की पूर्ति कराती है। सारांश यह है कि नियमविधि के द्वारा अप्राप्त अंश की पूर्ति'–रूप नियम का ही बोध कराया जाता है। यहाँ पर पक्ष में अप्राप्त–अवघात का प्रापण ही नियम है।

अर्थबोधिनी— विभाग सख्या ६१ में 'मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्' इस नियमविधि के आश्रय का उल्लेख किया गया है, अतएव नियम विधि का स्वरूप क्या है? इस प्रकार नियमविधि के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा होती है। प्रकृत विभाग में नियम विधि के स्वरूप पर विचार किया गया है। नियम विधि का लक्षण देकर लक्षण की पुष्टि के लिये तन्त्रवार्तिक का एक श्लोक उद्धृत किया गया है। श्लोक विधि का एक नवीन विभाजन प्रस्तुत करता है। यहाँ विधि के तीन प्रभेद माने गये हैं–(१) अपूर्व 'विधि' (२) 'नियम' विधि एवं (३) 'परिसंख्या' विधि। श्लोक के अभिप्राय को स्पष्ट करते समय ग्रन्थकार ने

लक्षण एवं उदाहरणों द्वारा तीनों विधियों के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। परिसंख्या विधि के स्वरूप का निरूपण अग्रिम विभागों में किया गया है।

तंत्रवार्तिक (१।२।३४) में कुमारिल भट्ट ने उपर्युक्त तीनों विधियों का लक्षण इस प्रकार किया है—

'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते॥'

यहाँ सर्व प्रथम विधि का लक्षण दिया गया है। यहां 'विधि' शब्द अपूर्वविधि' का वाचक है। कुमारिल के अनुसार अपूर्व विधि का लक्षण है—'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ'। 'अत्यन्तम् अप्राप्तौ विधिः' का अर्थ है—'विधेयार्थस्य केनापि प्रमाणेन अज्ञातत्वे सति तस्य विधायको वाक्यो विधिः' अर्थात् जिस पदार्थ का ज्ञान किसी भी प्रमाण से नहीं होता है, उस पदार्थ का विधान करने वाली विधि को 'विधि' अर्थात् 'अपूर्वविधि' कहते हैं। 'अत्यन्तमप्राप्ति' का अर्थ है—किसी अन्य प्रमाण से बिल्कुल ज्ञान न होना'। 'यजेत स्वर्गकामः' इस विधिवाक्य से ज्ञात होता है कि 'यागानुष्ठान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है', किन्तु 'स्वर्गसाधनभूत याग का ज्ञान' एतद्वाक्यातिरिक्त प्रत्यक्षादि किसी अन्य प्रमाण से नहीं होता है। इस प्रकार विधेय—याग 'अत्यन्तमप्राप्त' है। अत्यन्तमप्राप्त' याग का विधान 'यजेत स्वर्गकामः' विधि करती है, अतएव 'यजेत स्वर्गकामः' वाक्य को अपूर्वविधि माना जाता है।

कुमारिल के 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इस अपूर्वविधिलक्षण की व्याख्या लौगाक्षिभास्कर ने इन शब्दों में किया है—'प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिरपूर्वविधिः'। 'याग स्वर्गप्राप्ति का साधन है' इसमें प्रमाण' है—'यजेत स्वर्गकामः' यह वाक्य। इस प्रकार 'यजेत स्वर्गकामः' प्रमाण है। 'यजेत स्वर्गकामः' वाक्य के अतिरिक्त प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द आदि प्रमाणान्तर हैं। 'अप्राप्त' शब्द का अर्थ है 'अज्ञात एवं 'प्रापक' शब्द का अर्थ है 'ज्ञापक'। विधेयार्थ-याग स्वर्गार्थक (स्वर्गरूप प्रयोजन वाला) है जिसका विधान अन्य किसी प्रमाण

से न होकर केवल 'यजेत स्वर्गकामः' वाक्य से होता है, अतएव यह वाक्य विधि या अपूर्वविधि होता है। विभाग संख्या—१९ और २० में जिसे उत्पत्तिविधि कहा गया है उसी को यहाँ विधि या अपूर्वविधि कहा गया है।

कुमारिल की उक्त कारिका में 'नियमः पाक्षिके सति' अंश नियमविधि का परिचय देता है। 'नियमः' यह पद लक्ष्य है और 'पाक्षिके सति' अंश लक्षण। 'पाक्षिके सति' का अर्थ है 'विधेय की पाक्षिक अप्राप्ति होने पर'। अभिप्राय यह है कि विधेयार्थ की पाक्षिक अप्राप्ति होने पर अप्राप्त विधेयांश की प्रापक विधि 'नियमविधि' कहलाती है। 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' के अप्राप्ति (शब्दार्थ) के साथ 'पाक्षिके' इसके अर्थ का अन्वय विवक्षित है। तब 'पाक्षिके सति' का अर्थ विधेयार्थस्य पक्षे अप्राप्तौ सत्याम्' हुआ। इसके अनुसार पक्ष में अप्राप्त अर्थ के प्रापक विधि वाक्य को नियमविधि कहा जाता है। इसीलिए लौगाक्षिभास्कर ने 'पाक्षिके सति' का व्याख्यान इस प्रकार किया है—'पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः'। इसी व्याख्या का विस्तार उदाहरण सहित किया गया है जिससे लौगाक्षिभास्कर के नियमविधिलक्षण 'नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः' का भी स्पष्टीकरण हो जाता है।

बहुत सी ऐसी क्रियायें होती हैं जिनका सम्पादन अनेक साधनों द्वारा सम्भव होता है, इस प्रकार की क्रिया को 'नानासाधनसाध्य' कहा जा सकता है। कभी-कभी प्रासङ्गिक क्रिया के सम्पादन हेतु अनभिप्रेत साधन की प्राप्ति होती या होने लगती है (एकसाधनप्राप्तौ) अभिप्रेत की नहीं। ऐसी स्थिति में अभिप्रेत अप्राप्त साधन की प्राप्ति जिस वाक्य के द्वारा कराई जाती जाती है उसे नियम विधि कहा जाता है (अप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः)। उदाहरण के लिये व्रीहितुषविमोक (धान से भूसी हटाना) एक क्रिया है जिसका अनुष्ठान (१) नखविदलन (नाखूनों से छीलना) से हो सकता है, (२) अश्मकुट्टन (पत्थर से कूटना) से हो सकता है, (३) अवहनन (मूसल से कूटना) से हो सकता है। इसी प्रकार

अन्य साधनों से भी तुषविमोक हो सकता है[1]। इस प्रकार तुषविमोक के अनेक साधनों द्वारा सम्पाद्य होने पर जब तुषविमोक में (अवघात के अतिरिक्त) नखविदलन आदि किसी भी साधन की प्राप्ति होने लगती है तब अवघात की अप्राप्ति हो उठती है अतः उस अप्राप्त अविघात को प्राप्त कराने के लिए नियमविधि की प्रवृत्ति होती है। नियमविधि—(व्रीहीनवहन्ति) यहाँ पर अप्राप्त अवघात का विधान करती है। ध्यान रहे प्रकृत स्थल में अनभिप्रेत एक साधन की प्राप्ति हो रही थी जिसे बाधकर अभिप्रेत अप्राप्त साधन-अवघात का विधान किया गया है। अवघात द्वारा ही वैतुष्य (तुषविमोक) होने पर अपूर्व की उत्पत्ति मानी जाती है नखविदलन द्वारा होने पर नहीं, इसीलिए अवघात का नियमन किया गया है। आशय यह है कि अवघात का प्रयोजन नियमापूर्व की उत्पत्ति है, तुषविमोकमात्र नहीं। अवघात होने पर तुषविमोक होता है (अन्वय) एवं अवघात के अभाव में तुषविमोक नहीं होता (व्यतिरेक)। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक द्वारा तुषविमोक की सिद्ध्यसिद्धि लोकतः प्राप्त है—सर्वविदित है, अतएव अवघात का विधान तुषविमोक के लिये नहीं है, अपितु जब उपायान्तर का ग्रहण होने लगता है और इस प्रकार अवघात की वैकल्पिक पक्ष में प्राप्ति नहीं होती देखी जाती है तब अवघात का विधान 'व्रीहीनवहन्ति' इस नियमविधि द्वारा किया जाता है। इस प्रकार अप्राप्त अवघात का विधान करके अप्राप्त अंश की पूर्ति की गई। इसी अप्राप्तांशपूरण को नियम कहा जाता है (किन्तु नियमः। स चाप्राप्तांशपूरणम्)।

नियमविधिस्थल में अप्राप्ति की प्राप्ति कराई जाती है। यदि विधेय की प्राप्ति हो ही रही हो तो यहाँ नियमविधि की प्रवृत्ति नहीं होगी। यदि

१—'वितुषीभावरूपं प्रयोजनं हि अवहननेन नखविदलनेन अश्मकुट्टनादिना वेत्यनेकैरुपायैः साधयितुं शक्यते'।

(सारविवेचिनी, पृष्ठ—११३)

अवघात प्राप्त ही हो रहा हो तो एक तो अवघात का विधान ही नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसकी प्राप्ति हो ही रही है और प्राप्त का विधान करने पर पुनरुक्ति दोष हो जायेगा। इस प्रकार ऐसे स्थलों पर नियमविधि की प्रवृति नहीं हो सकती। इसलिए नियमविधि स्थल में (१) अनभिप्रेत साधन की प्राप्ति होने लगती है (२) अभिप्रेत साधन (अंश) की अप्राप्ति हो उठती है और (३) अप्राप्त अंश का विधान (पूर्ति) किया जाता है। नियम-विधिस्थल में तीनों विशेषतायें समुदित रूप में रहती हैं।

प्रसंग—अब परिसंख्याविधि का निरूपण किया जा रहा है—

(६३—परिसंख्याविधिलक्षणम्)

उभयोश्च युगपत्प्राप्ताावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्या-विधिः। यथा—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इति। इदं हि वाक्यं न पञ्चनखभक्षणपरं, तस्य रागतः प्राप्तत्वात्। नापि नियमपरं, पञ्चनखापञ्चनखभक्षणस्य युगपत्प्राप्तेः पक्षेऽप्राप्त्यभावात्। अत इदमपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमिति भवति परिसंख्याविधिः।

अर्थ—दोनों पदार्थों की एक ही काल में प्राप्ति होने पर दोनों में से एक पदार्थ की निवृत्ति का बोध कराने वाली विधि को परिसंख्या विधि कहा जाता है। उदाहरण के लिये 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' ऐसा ही एक विधि-वाक्य है। इस वाक्य का अर्थ हैं—'पञ्जे वाले पाँच जीव भक्ष्य हैं'। यह वाक्य पाँच पञ्चनख जीवों के भक्षण का विधान नहीं करता है क्योंकि पञ्च-नखभक्षण पुरुष को स्वभावतः राग से ही प्राप्त है, उक्त विधिवाक्य अप्राप्तांश की पूर्तिरूप नियम का भी विधान नहीं करता। कारण, यहाँ एक पक्ष में पञ्चनखभक्षण की अप्राप्ति नहीं होती है जिसकी प्राप्ति कराने के कारण उक्त वाक्य को नियमविधि माना जाये। पक्ष में अप्राप्ति इसलिए नहीं हैं कि

१—पाठान्तर—'पञ्चपञ्चनखापञ्चनखभक्षणस्य'

२—पाठान्तर—'इदमपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमिति'

जीव चाहे पञ्चनख हों अथवा अपञ्चनख सभी सर्वदा पुरुष को भक्ष्यरूप में स्वाभाविक राग से प्राप्त हैं। अतएव 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' यह वाक्य 'पञ्च पञ्चनख से अतिरिक्त' जीवों के भक्षण की निवृत्ति का परक है। इसी को परिसंख्याविधि कहते हैं।

अर्थबोधिनी — 'परि' उपसर्ग का अर्थ 'वर्जन' और 'संख्या' शब्द का अर्थ 'बुद्धि' होता है, अतएव 'परिसंख्या' शब्द का अर्थ 'वर्जनबुद्धि' हुआ। 'वर्जनबुद्धि' को उत्पन्न करने वाली विधि को 'परिसंख्याविधि' कहा जाता है [1]।

परिसंख्याविधि का सर्वाधिक प्रचलित उदाहरण 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' है। प्रकृत उदाहरण वाल्मीकिरामायण के किष्किन्धाकाण्ड के एक श्लोक का अंश है। सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः ॥[2]

वालि रामचन्द्र से कहते हैं कि—'हे राम ! खरगोश, साही, गोह[1], गैंडा और कछुआ ये पाँच पञ्चनख (जीव) ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के द्वारा भक्ष्य हैं।

जैसा कि अभी बताया जा चुका है परिसंख्या का अर्थ 'वर्जनबुद्धि' होता है तभी तो 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' यह परिसंख्या विधि भी वर्जन-बुद्धि उत्पन्न करती है। उक्त विधि के द्वारा शशक आदि पाँच पञ्चनखों के

१—" 'परिसंख्या वर्जनबुद्धिः' तज्जनको विधिः परिसंख्याविधि-रित्यर्थः।" (सारविवेचिनी, पृष्ठ—११४)

२—यह श्लोक रामेश्वरकृत कौमुदी (पृष्ठ—१५३) से उद्धृत किया गया है, किन्तु सारविवेचिनी के अनुसार श्लोक का रूप यह होना चाहिये :—

'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव !
शल्यकः श्वाविधो गोधा शशः कूर्मश्च पञ्चमः ॥'

(देखिये सारविवेचिनी, पृष्ठ—११४)

भक्षण का विधान नहीं है अपितु यह विधि उक्त पाँच पञ्चनखों के अतिरिक्त जीवों के भक्षण से पुरुष को निवृत्त करती है। किंतु निवृत्त करने के कारण 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य को निषेधवाक्य नहीं मान लेना चाहिये। क्योंकि सबसे बड़ी विशेषता यह है कि निषेधस्थल में 'नञ्' का अनिवार्यतः प्रयोग होता है किन्तु परिसंख्यास्थल में 'नञ्' का प्रयोग नहीं होता है। परिसंख्या की विधिरूपेण प्रवृत्ति होती है इसीलिये परिसंख्या को विधि कहा जाता है भले ही उसका अर्थ निवृत्ति में पर्यवसित होता हो।

'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' को अपूर्वविधि अर्थात् उत्पत्तिविधि नहीं माना जा सकता। कारण, अपूर्वविधिस्थल में विधेय अत्यन्त अप्राप्त है। किंतु प्रकृतस्थल में पञ्चनखभक्षण रागतः प्राप्त है। आशय यह है कि क्षुधा की तृप्ति करने की इच्छा सभी पुरुषों के लिए स्वाभाविक है। जिस पदार्थ को प्राप्त करने की स्वभावतः इच्छा होती है उसे 'स्वभावतः प्राप्त' या 'रागतः प्राप्त' कहते हैं, क्षुधा का निवारण मांसभक्षण से भी होता है, अतएव क्षुधित व्यक्ति के लिए प्रत्येक जीव का भक्षण रागतः प्राप्त है, वे जीव चाहे पञ्चनख (पाँव नाखूनों वाले अर्थात् पंजे वाले) हों अथवा अपञ्चनख (जिनके पाँच नाखून नहीं होते जैसे घोड़ा, गाय आदि)। पञ्चनख जीवों के अन्तर्गत ही शशक आदि पञ्च पञ्चनख जीव भी होते हैं। इस प्रकार 'पञ्चपञ्चनखभक्षण' की प्राप्ति हो जाती है। फिर 'पञ्चपञ्चनखभक्षण' को अत्यन्त अप्राप्त कैसे माना जा सकता है जिसका विधान मानकर 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' को अपूर्व विधि माना जाये। 'इदं वाक्यं न पञ्चनखभक्षणपर तस्य रागतः प्राप्तत्वात्' वाक्य द्वारा ग्रन्थकार ने 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य को अपूर्वविधि मान लेने का खण्डन किया है।

'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य को नियमविधि भी नहीं माना जा सकता (नापि नियमपरम्)। जैसा कि अभी बतलाया जा चुका हैं पञ्चनख-

---

१—वैसे शब्दकोश में 'गोधा' का अर्थ घड़ियाल' और 'गोधिका' का अर्थ 'गोह' किया गया है।

भक्षण और अपञ्चनखभक्षण इन दोनों की एक साथ प्राप्ति होने के कारण (पञ्चनखापञ्चनखभक्षणस्य युगपत्प्राप्तेः) पक्ष में पञ्चपञ्चनखभक्षण की अप्राप्ति नहीं होती (पक्षेऽप्राप्त्यभावात्) फिर 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' को नियमविधि कैसे मान लिया जाये ? नियमविधि होने के लिए आवश्यक है कि वाक्य पक्ष में अप्राप्त पदार्थ का विधायक हो, जैसा कि नियमविधि का लक्षण है—'पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः'[1] ।

इसलिए 'पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः' वह विधि शशक आदि पांच पञ्चनखों के अतिरिक्त जीवों के भक्षण की निवृत्ति की बोधक होती है । इस प्रकार निवृत्तिबोधक अर्थात् वर्जनबुद्धिजनक होने के कारण ही प्रकृत वाक्य को परिसंख्याविधि कहा जाता है । जिन जीवों के भक्षण की निवृत्ति अभिप्रेत है, वे दो श्रेणियों में इस प्रकार विभक्त किये जा सकते हैं—

(१) अपञ्चनख–जिन जीवों के पञ्चनख अर्थात् पंजे नहीं होते ।

(२) खरगोश, साही, गोह, गैंडा और कछुआ इन पाँच पञ्चनखों के अतिरिक्त अन्य सभी पञ्चनख जीव ।

प्रकृत स्थल में 'पञ्चपञ्चनखभक्षण' एवं तदतिरिक्त 'अपञ्चपञ्चनखभक्षण' इन दो की एक ही काल में प्राप्ति हो रही थी जिनमें से एक अपञ्चपञ्चनखभक्षण की व्यावृत्ति की गई है (उभयोश्च युगपत्प्राप्तादितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः) । अभिप्राय यह है कि परिसंख्या स्थल में नियमविधि की भांति पाक्षिक प्राप्ति नहीं होती अपितु दोनों पदार्थों की युगपत्–एक काल में ही प्राप्ति होती है । इन दोनों में से एक की निवृत्ति की जाती है ।

'इदं हि वाक्यं न पञ्चनखभक्षणपरम्' के स्थान पर 'इदं हि वाक्यं न पञ्चपञ्चनखभक्षणपरम्' होना चाहिए क्योंकि पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस परिसंख्याविधि में 'पञ्च' पद का भी प्रयोग किया गया है । इस स्थल

१—देखिये विभाग संख्या—६२

पर मीसांसान्यायप्रकाश में 'इदं हि वाक्यं न भक्षणविधिपरम्' यह पाठ प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'इदमपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरम्' पाठ भी अनेक पुस्तकों में प्राप्त होता है किंतु इस पाठ को शुद्ध नहीं माना जाता है क्योंकि अपञ्चपञ्चनखों के भक्षण की निवृत्ति होती है न कि केवल अपञ्चनखों के भक्षण की निवृत्ति होती है। अतएव यहाँ 'अपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरम्' पाठ समीचीन माना जाता है[1]। चिन्नस्वामिशास्त्री ने सूचित किया है कि मीमांसान्यायप्रकाश में भी इसी स्थल पर 'अपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरम्' पाठ अनेक पुस्तकों में प्राप्त हुआ है, किन्तु व्याख्या के कष्टसाध्य होने के कारण उन्होंने इस पाठ को छोड़ दिया तथा अन्य पुस्तकों में 'पञ्चातिरिक्त पञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरम्' इस पाठ को ग्रहण किया है[2]।

प्रसंग—अब परिसंख्या विधि के भेदों का निरूपण हो रहा है—

(६४—परिसंख्याया भेदद्वयम्)

सा च द्विविधा श्रौती लाक्षणिकी चेति। तत्र 'अत्र हि एव आवपन्ति' इति श्रौती परिसंख्या। एवकारेण पवमानातिरिक्तस्तोत्रव्यावृत्तेरभिधानात्। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इति तु लाक्षणिकी। इतरनिवृत्तिवाचकपदाभावात्। अत एवैषा त्रिदोषग्रस्ता।

१—देखिये अर्थसंग्रह (गजेन्द्रगदकरव्याख्या) पृष्ठ—४४

२—'अत्रापञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमित्येव पाठः उपलभ्यते मुद्रितपुस्तकेषु प्रायशः तथापि अपञ्चनखेत्यस्य पञ्चातिरिक्तपञ्चनखेत्येव व्याख्यातव्यतया क्लिष्टकल्पनापत्तेः पञ्चातिरिक्तपञ्चनखेत्येव पाठं मैसूरपुरे तैलाङ्गाक्षरेषु मुद्रितपुस्तके लिखितपुस्तकेषु चोपलब्धवद्भिरस्माभिः स एव पाठो मूले निवेशितः'।

(सारविवेचिनी, पृष्ठ—१४४)

अर्थ—परिसंख्याविधि के दो प्रभेद हैं—(१) श्रौती (२) लाक्षणिकी। श्रौती परिसंख्या विधि का उदाहरण 'अत्र हि एव आवपन्ति[1]' (अर्थ—यहीं पर आवाप-शब्द प्रक्षेपण करते हैं) है। प्रकृत उदाहरण में श्रुत 'एव' शब्द से अवमान के अतिरिक्त अन्य स्तोत्रों की निवृत्ति का बोध होता है, इसलिए इसे श्रौती परिसंख्या कहते हैं। लाक्षणिकी परिसंख्या विधि का उदाहरण पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' है, क्योंकि यहाँ निर्दिष्ट से अतिरिक्त की निवृत्ति का सूचक 'एव' जैसा कोई पद सुना नहीं जाता अपितु लक्षणा द्वारा उसकी कल्पना करनी पड़ती है, अतएव यह लाक्षणिकी परिसंख्या तीन दोषों से युक्त है।

अर्थबोधिनी—परिसंख्या के दो भेद होते हैं (१) श्रौती और (२) लाक्षणिकी। परिसंख्या द्वारा प्राप्त दो पदार्थों में से विधिश्रुत से इतर की व्यावृत्ति की जाती है। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' विधि में 'पञ्चपञ्चनखभक्षण' श्रुत है। विधिश्रुत से इतर हुआ—'अपञ्चपञ्चनखभक्षण'। इसी की व्यावृत्ति की जाती है। जिस परिसंख्या में इतरव्यावर्तक शब्द साक्षात् श्रुत होता है, उसे श्रौती परिसंख्या कहते हैं। यथा—'अत्र ह्येवावपन्ति' इस वाक्य में 'एव' शब्द इतरव्यावर्तक है अतएव यह वाक्य श्रौती परिसंख्या माना जाता है।

'अत्र ह्येवावपन्ति' वाक्य का अर्थ है—'यहीं पर आवाप होता है'। यहाँ आवाप का अर्थ है—सामों का प्रक्षेप[2]—अतिरिक्त

१—पाठान्तर 'अत्र ह्येवावयन्ति'। 'आवयन्ति' का अर्थ 'गायन्ति' (गाते हैं) होता है।

२—देखिये—'तत्र संख्यासम्पत्यर्थं स्थानान्तरादानीतानां साम्नां पवमानस्तोत्रेषु तदितरस्तोत्रेषु च समुच्चयेनावापः प्राप्तः'

तथा

'आवापः प्रक्षेपः'

(सारविवेचिनी, पृष्ठ—११५)

सामशब्दों का योग। पवमान क्रिया के प्रसङ्ग में कहा गया है कि— 'त्रीणि ह वै यज्ञस्योदराणि गायत्री बृहत्यनुष्टुप्, अत्र ह्येवावपन्ति, अत एवोद्वपन्ति'।[१] 'उद्वाप' शब्द का अर्थ 'उद्धार' अर्थात् 'निष्कासन' (निकाल देना) होता है।[२] उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सामों का आवाप एवं उद्वाप केवल पवमान के ही गायत्री, बृहती एवं अनुष्टुप् मात्र तीन छन्दों में होता है। इस 'अत्र ह्येवावपन्ति' का परिसंख्याबोधित अर्थ हुआ— '(गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्) एतत्त्रतयातिरिक्तेषु पवमानस्तोत्रसम्बन्धिषु छन्दस्सु पवमानातिरिक्तेषु स्तोत्रेषु वा न समावापः कार्य [३]'। सारांश यह कि आवाप पवमान के उक्त तीन छन्दों के अतिरिक्त अन्य स्थल पर नहीं करना चाहिये।

'अत्र ह्येवावपन्ति' पाठ प्राचीन प्रतियों एवं व्याख्याओं में मिलता है, चिन्नस्वामी ने अशुद्ध होने के कारण इस पाठ को अग्राह्य माना है।[४]

जिस परिसंख्या विधि में 'एव' आदि इतरव्यावर्तक शब्द साक्षात् श्रुत नहीं होता है अपितु लक्षणा द्वारा इतरव्यावर्तक शब्द की कल्पना की जाती है उसे 'लाक्षणिकी परिसंख्या' कहते हैं।[५] 'पञ्च पञ्चनखाभक्ष्या' वाक्य में

१—सारविवेचिनी, पृष्ठ ११५

२—'उद्वापः उद्धारः निष्कासनमिति यावत्'
(सारविवेचिनी, पृष्ठ—११५)

३—सारविवेचिनी, पृष्ठ—११५

४—'एवं च सति यदत्रार्थसंग्रहव्याख्यातृभिः शिवयोगिभिक्षुभिः 'अत्र ह्येवावपन्ति' इति स्वकपोलकल्पितं पाठमवलम्ब्य अवयन्तीति अवजानन्तीत्यर्थः गायन्तीति यावत् इति व्याख्यातम्, यदपि कैश्चित् एतद्ग्रन्थव्याख्याने पवमानसंज्ञकनानास्तोमलक्षणानि सामानि स्तोमाख्यमन्त्राणाम्, इत्यादिकमुक्तं तत्सर्वं सम्प्रदायागतशास्त्रीयपदार्थाज्ञानमूलकमित्युपेक्षितव्यम्।'
(सारविवेचिनी, पृष्ठ—११६)

५—'यत्र शक्तशब्दो नास्ति, निवृत्तिबोधनं तु लक्षणया सा लाक्षणिकीत्यर्थः'
(सारविवेचिनी, पृष्ठ—११५)

'एव' जैसे इतरव्यावर्तक पद का प्रयोग नहीं किया गया है। अपितु कल्प्य है इसलिये इस वाक्य को लाक्षक्षिकी परिसंख्या माना जाता है।

इतरव्यावर्तक शब्द की कल्पना की जाने के कारण लाक्षणिकी परिसंख्या में तीन दोष होते हैं जिनका विवेचन अन्तिम विभाग में किया जायेगा।

प्रसङ्ग—अब लाक्षणिकी परिसंख्या के तीन दोषों का निरूपण किया जा रहा है—

(६५–परिसंख्याया दोषत्रयम्)

दोषत्रयं च श्रुतहानिरश्रुतकल्पना प्राप्तबाधश्चेति। तदुक्तम्–

'श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थप्रकल्पनात्।

प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा॥' इति। श्रुतस्य पञ्चपञ्चनखभक्षणस्य हानात्, अश्रुताया अपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्तेः कल्पनात्, प्राप्तस्य चापञ्चपञ्चनखभक्षणस्य बाधनादिति। अस्मिंश्च दोषत्रये दोषद्वयं शब्दनिष्ठम्। प्राप्तबाधस्त्वर्थनिष्ठः। इति दिक्।

अर्थ—लाक्षणिकी परिसंख्या के ३ दोष ये हैं—(१) श्रुतहानि (२) अश्रुतकल्पना और (३) प्राप्तबाध। कहा भी गया कि 'परिसंख्या–(१) श्रुत अर्थ के परित्याग (२) अश्रुत अर्थ की कल्पना और (३) रागतः प्राप्त की बाधा से इस प्रकार–३ दोषों से युक्त होती है' 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस लाक्षणिकी परिसंख्या में उक्त ३ दोषों को इस प्रकार स्पष्टतः देखा जा सकता है–'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' का अर्थ 'अपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति' लेने पर विधिश्रुत 'पञ्चपञ्चनखभक्षण का परित्याग रूप प्रथम दोष आपन्न हुआ; विधि में 'अपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति' को नहीं सुना जाता है, तथापि यहाँ विधिवाक्यों के अर्थरूप में इसकी कल्पना की गई है, इस प्रकार उक्त कल्पना दूसरा दोष हुआ। पञ्चपञ्चनख जीवों एवं तदितर

जीवों का भक्षण रागतः प्राप्त हैं, फिर भी 'इतर जीवों के भक्षण की निवृत्ति' विधि द्वारा समझनी होती है, अतएव प्राप्तनिवृत्ति अर्थात् 'प्राप्तबाध' यह तीसरा दोष हुआ। उक्त तीनों दोषों में से प्रथम एवं द्वितीय दोनों दोष श्रवण-सम्बद्ध होने से शब्दगत माने जाते हैं एवं तीसरा दोष रागतः प्राप्त की निवृत्ति होने के कारण अर्थनिष्ठ माना जाता है, साक्षात् रूप से श्रवण-सम्बद्ध न होने के कारण शब्दनिष्ठ नहीं माना जाता।

अर्थबोधिनी—लाक्षणिकी परिसंख्या में इतरव्यावर्तक शब्द का प्रयोग नहीं होता है इसीलिए इसमें तीन दोष होते हैं। तीन दोष ये हैं–(१) श्रुतार्थपरित्याग, (२) अश्रुतार्थकल्पना एवं (३) प्राप्तबाध।

जैसा पूर्व बताया जा चुका है 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' वाक्य का अर्थ 'अपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति' समझा जाता है। किन्तु वाक्य में 'पञ्चनखभक्षण' साक्षात् श्रुत है ओर वाक्यार्थ होता है 'अपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति'। इस प्रकार यहाँ श्रुत अर्थ–'पञ्चपञ्चनखभक्षण' का परित्याग किये जाने के कारण श्रुतार्थपरित्याग' नामक दोष माना जाता है। वाक्य में अपञ्चपञ्च-नखभक्षणनिवृत्ति' शब्दशः उपात्त (श्रुत) नहीं है, फिर वाक्यार्थ में इसकी कल्पना किये जाने के कारण यहाँ 'श्रुतार्थकल्पना' नामक दोष माना जाता है। 'पञ्चनखभक्षण' एवं अपञ्चनखभक्षण' पुरुष को रागतः प्राप्त होता है, किंतु प्राप्तभक्षणैकदेशनिवृत्ति—इतरभक्षणनिवृत्ति होने के कारण यहाँ 'प्राप्तबाध' नामक दोष माना जाता जाता है। अभिप्राय यह है कि सभी जीवों का भक्षण रागप्राप्त है, फिर कुछ के अतिरिक्त (प्राप्तैकदेश) सभी पञ्चापञ्चनख जीवों के भक्षण की निवृत्ति 'प्राप्तबाध' दोष है।

उक्त तीनों दोषों में से 'श्रुतार्थपरित्याग' एवं 'अश्रुतार्थकल्पना' इन दोनों दोषों का सम्बन्ध शब्दात्मक वाक्य से है, अतएव ये दोनों दोष–शब्दनिष्ठ हैं। 'प्राप्तबाध' दोष का सम्बन्ध रागतः प्राप्त होने के कारण वाक्य से सम्बन्धित नहीं है अपितु इसका सम्बन्ध अर्थ से है। अतएव इसे 'अर्थनिष्ठ' कहते हैं।

इस प्रकार संक्षिप्त विवेचन द्वारा ग्रन्थकार ने पाठकों को प्रकृत विषय

के ज्ञान के सम्बन्ध में मार्गदर्शन किया है (इति दिक्), जिसके आधार पर पाठक स्वप्रयास द्वारा ग्रंथार्थ को विस्तार से समझ सकते हैं।

प्रसंग—६१ वें विभाग में ग्रंथकार मंत्र के स्वरूप की व्याख्या कर रहे थे। उस विभाग से लेकर यहाँ तक आनुषङ्गिक विषय--विधित्रय का विवेचन हुआ। अब ग्रंथकार पुनः अपने मूलविषय-मंत्रमीमांसा की ओर लौट आये--

(६६— मंत्रविशेषाणामुच्चारणस्यादृष्टार्थकत्वम्)

येषां तु प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वं न संभवति तदुच्चारण-स्यानन्यगत्या अदृष्टार्थकत्वं कल्प्यत इति नानर्थक्यमिति।

अर्थ—जो मंत्र अनुष्ठान में उपयुज्यमान पदार्थों के स्मारक नहीं हो सकते हैं, अगत्या यह मान लिया जाता है कि उन मंत्रों का उच्चारण अदृष्ट को उत्पन्न करने के लिए होता है। इसीलिये मंत्रोच्चारण व्यर्थ नहीं होता है।

अर्थबोधिनी—विभाग १६ में बताया जा चुका है कि अनुष्ठान में समवेत अर्थों का स्मरण कराना मंत्रों का प्रयोजन होता है। प्राप्त मंत्राक्षरों द्वारा वही अर्थ अभिहित होता है जिसका सम्बन्ध अनुष्ठान से होता है[1]।

किंतु कुछ मंत्र ऐसे भी होते हैं जो प्रयोगसमवेत अर्थ का स्मरण करा सकने में समर्थ नहीं होते हैं, जैसे 'कवचाय हुम्', 'अस्त्राय फट्', आदि

१—'एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणमृग-भिवदति'

(ऐतरेयब्राह्मण–१।५, पृष्ठ—२४)

मंत्र। फिर क्या इन मंत्रों के उच्चारण का कुछ भी प्रयोजन नहीं है[1] अतएव क्या ये मंत्र प्रयोजनहीन—व्यर्थ हैं ? उत्तर है–'नहीं'। जिन मंत्रों का अर्थस्मरण–रूप दृष्टप्रयोजन नहीं प्राप्त होता है उन 'कवचाय हुम्' आदि मंत्रों के उच्चारण से अदृष्ट उत्पन्न होता है, यह मानना चाहिये। क्योंकि ऐसे मंत्रों को अदृष्टार्थक मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। इस प्रकार किसी भी मंत्र का उच्चारण किसी भी स्थिति में व्यर्थ नहीं होता है।

(मन्त्र—प्रकरण समाप्त)

१—'हुम्फटादिमन्त्रोच्चारणस्येत्यर्थः'

(कौमुदी, पृष्ठ—१५४)

(घ) नामधेयप्रकरणम्

प्रसंग–वेद के ५ प्रभेदों[1] में से विधि एवं मन्त्र का विवेचन हो चुका। अब क्रमप्राप्त नामधेय का विवेचन किया जा रहा है—

(६७ – नामधेयलक्षणम्)

नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम्। तथाहि–उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यत्रोद्भिच्छब्दो यागनामधेयं, तेन च विधेयार्थपरिच्छेदः क्रियते। तथा हि अनेन वाक्येनाप्राप्तत्वात् फलोद्देश्येन यागो विधीयते। यागसामान्यस्याविधेयत्वात् यागविशेष एव विधीयते। तत्र 'कोऽसौ यागविशेषः' इत्यपेक्षायामुद्भिच्छब्दा-दुद्भिद्रूपो याग इति ज्ञायते। 'उद्भिदा यागेन पशुं भावयेत्' इत्यत्र सामानाधिकरण्येन नामधेयान्वयात्।

अर्थ–नामधेयों की यही सार्थकता है कि वे विधेय क्रिया के व्यावर्तक होते हैं अर्थात् नामधेयों से विधेय क्रियामात्र का बोध होता है। उदाहरण के लिये 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' एक विधिवाक्य है। यहाँ 'उद्भिद्' शब्द याग का नामधेय है। इसके द्वारा विधेय क्रिया व्यावृत्त होती है। इस कथन को इस प्रकार समझें—'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस वाक्य द्वारा पशुफलक ऐसे याग का विधान किया जाता है जिसका विधान किसी प्रमाण से नहीं हो पाया है। ऐसा निश्चय होने पर कि याग का विधान है यह समझना सरल है कि यागसामान्य अर्थात् जिस किसी याग का विधान नहीं हो सकता, किसी विशेष याग का ही विधान होना चाहिये। फिर 'वह कौन सा विशेष याग है ?' ऐसी आकांक्षा होने पर 'वह याग 'उद्भिद्'

---

१ देखिये विभागसंख्या–१२

संज्ञक है' इस प्रकार 'उद्भिद्' याग का नाम ठहरता है। 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' का मीमांसासम्मत अर्थबोध वाक्य इस प्रकार होगा–'उद्भिदा यागेन पशुं भावयेत्'। यहाँ हम देखते हैं कि 'उद्भिदा' और 'यागेन' पदों में सामानाधिकरण्य है, अतएव दोनों एक हैं। यह तभी संभव हो सकता है जब 'उद्भिद्' याग का नाम हो।

अर्थबोधिनी–'नामधेय' का संक्षिप्त रूप 'नाम' (संज्ञा) है। मीमांसादर्शन में 'नामधेय' एक पारिभाषिक शब्द है। 'नामधेय' शब्द का अर्थ किसी 'याग का नाम' समझा जाता है, अन्य अर्थ नहीं। उदाहरण के लिए 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस विधि में प्रयुक्त 'उद्भिद्' शब्द का अर्थ 'उद्भिद्' नामक एक यागविशेष समझा जाता है। यद्यपि 'उद्भिद्' शब्द के 'खनित्र[1] (कुदाली)' आदि भी अर्थ होते हैं, किन्तु वह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। इस प्रकार 'उद्भिद् शब्द यागनामधेय या नामधेय है।

नामधेय का प्रयोजन होता है विधेय अर्थ का परिच्छेद करना। विधेय अर्थ कोई क्रिया होती है, उस क्रिया का सजातीय एवं विजातीय अर्थों से भिन्न रूप में समझाना 'विधेयार्थपरिच्छेद' हुआ। उदाहरण के लिये 'उद्भिदा यजेत् पशुकामः' विधि में 'यजेत' पद से 'याग'–रूप अर्थ का विधान किया जाता है। याग के विधेयार्थ होने पर भी 'याग' अर्थात् यागसामान्य का–सभी यागों का विधान नहीं हो सकता[2]

१–'उद्भिद्यते ऊर्ध्वं विदीर्यते भूमिरनेनेति व्युत्पत्त्या भूमेरूर्ध्वविदारण-साधनं खनित्रादिः पूर्वपक्षेऽर्थो वेदितव्यः'।

(सारविवेचिनी, पृष्ठ–१२०)

२—'गामानय' वाक्य द्वारा गवानयन की आज्ञा दी जाती है किन्तु गो-सामान्य का आनयन संभव नहीं होता, अतएव गो–विशेष का ही आनयन होता है। इसी प्रकार 'यजेत' पद से यागसामान्य का विधान नहीं हो सकता, यागविशेष का ही विधान हो सकता है।

विधान तो यागविशेष-किसी एक याग का ही हो सकता है। कारण, यागानुष्ठान का विशेष फल-पशु है, अतएव साधनभूत याग भी विशेष ही होना चाहिये।[1] यह निश्चय होने पर कि यागविशेष का विधान किया गया है यह आकांक्षा होती है कि वह यागविशेष कौन सा है ? इस आकांक्षा का उपशमन 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' वाक्यगत 'उद्भिद्' शब्द द्वारा होता है। अर्थात् वह यागविशेष 'उद्भिद्' ही है। उद्भिदा यजेत पशुकामः' का मीमांसासम्मत अर्थबोधवाक्य इस प्रकार होता है—'उद्भिदा यागेन पशुं भावयेत्'। यहाँ 'उद्भिदा' एव 'यागेन' इन दोनों पदों में सामानाधिकरण्य है क्योंकि दोनों पदों के वचन, विभक्ति एवं लिङ्ग समान हैं। इस प्रकार 'उद्भिद्' याग का 'नामधेय' अर्थात् नाम है। सारांश यह कि 'उद्भिद्' यागविशेष की संज्ञा है।

प्रसंग—अब उन कारणों का उल्लेख किया जा रहा है जिनके आधार पर शब्दों को याग का नामधेय माना जाता है—

(६८—नामधेयत्वे निमित्तचतुष्टयम्)

नामधेयत्वं च निमित्तचतुष्टयात्—मत्वर्थलक्षणाभयात्, वाक्यभेदभयात्, तत्प्रख्यशास्त्रात्, तद्व्यपदेशात् चेति।

अर्थ—किसी शब्द को नामधेय अर्थात् याग का नाम मानने में चार निमित्त कारण होते हैं—(१) मत्वर्थलक्षणा के भय से अर्थात् मत्वर्थलक्षणा न माननी पड़ जाते इस भय से, (२) वाक्यभेद के भय से अर्थात् वाक्यभेद न हो जाये इस भय से, (३) तत्प्रख्यशास्त्र से अर्थात् अन्यगुणबोधक वाक्य के विद्यमान होने के कारण एवं (४) तद्व्यपदेश से अर्थात् गुण के द्वारा उपमान होने का उल्लेख होने से।

१—'साधनवैलक्षण्यमन्तरेण फलवैलक्षण्यानुपपत्तेर्नात्र यागसामान्यं विधीयते, ततश्च यागविशेष एव विधीयते'।

(कौमुदी, पृष्ठ—१५५)

अर्थबोधिनी–चारों निमित्तों का विस्तृत विवेचन क्रमशः अग्रिम विभागों में किया जायेगा।

प्रसंग–कहीं मत्वर्थलक्षणा दोष न हो जाये इस भय से किसी शब्द का अर्थ नामधेय–यागविशेष का नाम समझ लिया जाता है, इसी विषय का स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

(६९ – मत्वर्थलक्षणाभयान्नामधेयत्वम्)

तत्र 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यत्रोद्भिच्छब्दस्य यागनामधेयत्वं मत्वर्थलक्षणाभयात्। न तावदनेन वाक्येन फलं प्रति यागविधानम्, तं प्रति च गुणविधानं युज्यते, वाक्यभेदापत्तेः। उद्भिच्छब्दस्य गुणसमर्पकत्वे च यागस्याप्यप्राप्तत्वात् गुणविशिष्टकर्मविधानं वाच्यम्। 'उद्भिद्वता यागेन पशुं भावयेत इति विशिष्टविधौ च मत्वर्थलक्षणेत्युक्तमेव।

अर्थ–'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यहाँ मत्वर्थलक्षणा के भय से उद्भिद्' शब्द को याग का नामधेय माना जाता है। 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इसी एक वाक्य से फल (पशु) को उद्देश्य करके याग का विधान और याग को उद्देश्य करके गुण (उद्भिद्'=खनित्र) का विधान नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर वाक्यभेद हो जायेगा। यदि वाक्यभेद को दूर करने के लिये 'उद्भिद्' शब्द को गुणवाची मानकर प्रमाणान्तर से अप्राप्त याग का विधान किया जाये तो इस स्थल में गुणविशिष्टकर्मविधि माननी होगी। ऐसी स्थिति में 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' का अर्थबोधवाक्य 'उद्भिद्वता यागेन पशुं भावयेत्' होगा और इस प्रकार 'उद्भिद्वता' पद में मत्वर्थलक्षणा माननी पड़ गई जो कि दोष है, इस विषय का विवेचन विभाग संख्या–१५ में किया गया है। अतएव लक्षणा न माननी पड़े इसलिये 'उद्भिद्' शब्द को याग का नामधेय माना गया है।

अर्थबोधिनी—'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस विधिवाक्य में प्रयुक्त 'उद्भिद्' शब्द यागविशेष का नाम है। यागविशेष के नाम को ही 'नामधेय' अथवा 'याग-नामधेय' कहा ा ता है। यदि प्रकृत स्थल में 'उद्भिद्' शब्द को नामधेय न माना जाये तो मत्वर्थलक्षणा हो जाने का भय है। मत्वर्थलक्षणा एक दोष है[१] जिससे बचने के लिये 'उद्भिद्' शब्द याग का नामधेय मान लिया गया है।

'उद्भिद्' शब्द को नामधेय न मानने पर मत्वर्थलक्षणा की प्राप्ति इस प्रकार होती है-यदि 'उद्भिद्' शब्द को गुणवाचक माना जायेगा तो 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' को भी 'दध्ना जुहोति' की भाँति गुणविधि[२] मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में 'उद्भिद्' शब्द का अर्थ 'खनित्र' अर्थात् 'कुदाली' होगा। खनित्र से भूमि खोदी जाती है (उद्भिद्यते) इसीलिये खनित्र को 'उद्भिद्' कहा जाता है[३]।

'उद्भिदा यजेत पशुकामः' को गुणविधि भी नहीं माना जा सकता। कारण, गुणविधि वहीं मान्य हो सकती है जहाँ कर्म–याग की प्राप्ति (विधान) किसी अन्य वाक्य से पहिले से ही हुई रहती है, जैसे 'दध्ना जुहोति' गुणविधि है, क्योंकि यहाँ याग की प्राप्ति 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस वाक्य से पहिले ही हुई रहती है[४]। किन्तु 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस विधि के पूर्व कोई ऐसी विधि नहीं मिलती है जिसमें याग का विधान किया गया हो और उस याग को उद्देश्य करके 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस वाक्य से 'उद्भिद्'-रूप गुण का विधान किया जा सके।

१—देखिये विभाग संख्या—१५

२—देखिये विभाग संख्या–१४

३—'अस्मिन् पक्षे तु 'उद्भिद्यते भूमिरनेन' इति व्युत्पत्त्या खनित्रवाची असावुद्भिच्छब्दो भवेत्'

(कौमुदी पृष्ठ—१५७)

४—देखिये विभाग संख्या—१४

यदि 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' वाक्य से ही याग एवं गुण दोनों के दो विधान मानने का आग्रह किया जायेगा तो वाक्यभेद नामक दोष आपन्न होगा[1], क्योंकि इसी एक वाक्य से फल–पशु को उद्देश्य करके याग का विधान 'यागेन पशुं भावयेत्' इस रूप में मानना होगा और याग को उद्देश्य करके गुण का विधान' उद्भिदा (खनित्रेण) यागं भावयेत्' इस रूप में मानना होगा। इस प्रकार स्पष्ट दो विधायक वाक्य हो जाने के कारण वाक्यभेद नामक दोष की प्राप्ति होने लगती है। वाक्यभेद सर्वथा परित्याज्य है[2]।

वाक्यभेद से मुक्ति पाने के लिये पूर्वपक्षी को 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' को 'सोमेन यजेत'[3] की भाँति गुणविशिष्टकर्मविधि अर्थात् विशिष्टविधि कहना पड़ेगा (वाच्यम्)। यहाँ विशिष्ट विधि मानने का कारण यह है कि यहाँ 'उद्भिद्' शब्द को खनित्र-रूप गुण का वाचक (समर्पक) माना जाता है और कर्म–याग का भी विधान (प्राप्त) किसी अन्य वाक्य से नहीं हुआ है (यागस्य अपि अप्राप्तत्वात्)। इस प्रकार गुणविधित्व एवं वाक्यभेद दोनों को अस्वीकार करके भी खनित्ररूप गुण एवं याग दोनों का विधान मानने का आग्रह करने पर 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' को विशिष्टविधि मानना पड़ेगा। विशिष्टविधि का रूप होगा—'उद्भिद्वता यागेन पशुं भावयेत्'। यहाँ विधान याग का माना जायेगा, जिसका विशेषण 'उद्भिद्वत्' है। 'उद्भिद्वत्' में मत्वर्थलक्षणा है, ठीक वैसे जैसे 'सोमेन यजेत' इस विशिष्ट विधि के मीमांसासम्मत अर्थबोधवाक्य 'सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्' में होती है[4]।

१—देखिये विभाग संख्या – १६

२—'तथा च यागेन पशुं भावयेद्यागं च तादृशगुणेन भावयेदिति यागस्य गुणफलोभयसम्बन्धे विधीयमाने सत्यावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदो दुर्वार इति भावः'। (कौमुदी, पृष्ठ–१६०)

३—देखिये विभाग संख्या—१५

४—देखिये विभाग संख्या–१५

मत्वर्थलक्षणा पददोष है। इसी दोष से बचने के लिये 'उद्भिद्' शब्द को नामधेय मान लिया जाता है। तब 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' का मीमांसासम्मत वाक्यार्थबोध इस प्रकार होगा—'उद्भिदा यागेन पशुं भावयेत्'।

इस प्रकार मत्वर्थलक्षणाभय-रूप निमित्त से 'उद्भिद्' शब्द को नामधेय माना गया।

प्रसङ्ग—अब नामधेय मानने में दूसरे निमित्त वाक्यभेदभय का निरूपण किया जा रहा है—

(७०—वाक्यभेदभयान्नामधेयत्वम्)

'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यत्र चित्राशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं वाक्यभेदभयात्। तथा हि—न तावदत्र गुणविशिष्टयागविधानं संभवति। 'दधि मधु पयो घृतं धाना उदकं तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्' इत्यनेन गुणस्य विहितत्वात् तद्विशिष्टयागविध्यनुपपत्तेः। यागस्य फलसम्बन्धे गुणसम्बन्धे च विधीयमाने वाक्यभेदः। तस्माच्चित्राशब्दः कर्मनामधेयम्। तथा च 'चित्रायागेन पशुं भावयेत्' इति सामानाधिकरण्येनान्वयान्न वाक्यभेदः। प्रकृतेष्टेरनेकद्रव्यवत्त्वेन चित्राशब्दवाच्यत्वोपपत्तिः।

अर्थ—कहीं पर वाक्यभेद के भय से भी शब्द को याग का नामधेय मानते हैं। 'चित्रया यजेत पशुकामः' एक ऐसी ही विधि है। इसका अर्थ है—'पशु को प्राप्त करने की इच्छा वाले व्यक्ति को चित्रा से यागानुष्ठान करना चाहिये'। प्रकृतस्थल में 'चित्रा' शब्द को गुणवाचक मानकर गुणविशिष्ट याग का विधान नहीं माना जा सकता है, क्योंकि गुण की प्राप्ति तो 'दधि मधु पयो.........' आदि वाक्य से पहिले से ही हुई रहती है। पुनश्च यदि पशुरूप फल को उद्देश्य करके याग का विधान और याग को उद्देश्य करके गुण का विधान मान लेने का आग्रह किया जायेगा तो वाक्यभेद हो जायेगा।

अतएव वाक्यभेद से बचने के लिये 'चित्रा' शब्द को याग का नाम मान लिया गया है। तब 'चित्रया यजेत पशुकामः' विधि का अर्थबोधवाक्य इस प्रकार होगा–'चित्राख्यागेन पशुं भावयेत्'। यहाँ 'चित्रा' और याग में सामानाधिकरण्य है। ऐसी स्थिति में वाक्यभेद न होगा। चित्रा को एक विशेष याग का नाम माना जा सकता है, क्योंकि प्रकृत स्थल में 'दधि', 'मधु' आदि अनेक द्रव्यों (चित्र) का उपयोग होता है। अतएव याग को 'चित्रा' याग कहा जा सकता है।

अर्थबोधिनी–'चित्रया यजेत पशुकामः' वाक्य में 'चित्रा' शब्द याग का नामधेय माना जाता है, अन्यथा वाक्यभेद हो जाने का भय है। वाक्यभेद-भयात्)। वाक्यभेद वाक्यदोष है और विशिष्टविधि में होने वाली मत्वर्थ-लक्षणा पददोष है फिर यहाँ वाक्यभेद को छोड़कर विशिष्टविधि क्यों न मानी जाये ? 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' में भी वाक्यदोष (वाक्यभेद) को छोड़कर विशिष्ट विधि माननी पड़ी थी। पुनः विशिष्टविधि में मत्वर्थलक्षणा जैसे पद-दोष से मुक्ति पाने के लिये ही 'उद्भिद्' शब्द को यागनामधेय माना गया था, क्या वही स्थिति 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस स्थल में नहीं है ? उत्तर है–नहीं। कारण, 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस स्थल पर गुणविशिष्टविधि हो ही नहीं सकती (न तावदत्र गुणविशिष्टयागविधानं संभवति)। यह इसलिये कि गुणविशिष्टविधि वहीं होती है जहां गुण एवं कर्म (याग) दोनों ही अप्राप्त रहा करते हैं, जैसे 'सोमेन यजेत' इस वाक्य में[1], किन्तु यहाँ गुण की प्राप्ति 'दधि, मधु पयो घृतं धाना उदकं तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्' इस वाक्य से हो जाती है। यहाँ गुण के अन्तर्गत मिश्रितरूप में दधि आदि सभी द्रव्य गृहीत होते हैं। इस प्रकार गुण की प्राप्ति हो जाने पर 'चित्रया यजेत पशुकामः' को गुणविशिष्टकर्मविधि नहीं माना जा सकता (गुणस्य विहितत्वात्तद्विशिष्टयागविध्यनुपपत्तेः)।

फिर भी हठात् यदि कोई भी व्यक्ति 'चित्रया यजेत पशुकामः' वाक्य

१––देखिये विभाग संख्या––१५

द्वारा याग एवं गुण दोनों का विधान मानें तो वाक्यभेद होने लगता है। क्योंकि 'यागेन पशुं भावयेत्' (यागस्य फलसम्बन्धे विधीयमाने) एवं 'चित्रया' (गुणेन) यागं भावयेत्' (यागस्य गुणसम्बन्धे विधीयमाने च) इस प्रकार 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस एक वाक्य में ही स्पष्टतः दो विधायक वाक्य हो जाने पर वाक्य-भेद हो जाता है।

वाक्यभेद न होने पाये इसका एक ही उपाय है, और वह यह है कि 'चित्रा' शब्द को 'याग' का नाम मान लेना। तब 'चित्रया यजेत पशुकामः' का मीमांसासम्मत अर्थबोधवाक्य होगा—'चित्रायागेन पशुं भावयेत्'। यहाँ 'चित्रायागेन' पद में प्रयुक्त 'चित्रा' एवं 'याग' पदों में सामानधिकरण्य है, इस प्रकार 'चित्रा' शब्द के याग का नामधेय अर्थात् नाम हो जाने पर दो विधान नहीं हुये, इसलिये वाक्यभेद नहीं हुआ।

याग का 'चित्रा' नाम यथार्थ है, क्योंकि 'दधि' 'मधु' आदि अनेक द्रव्यों से सिद्ध होने वाली क्रिया (याग) को 'चित्रा' (अनेक द्रव्यों वाली) कहा जा सकता है (अनेकद्रव्यत्वेन चित्राशब्दवाच्यत्वोपपत्तिः)।

पूर्वपक्ष 'चित्रा' शब्द का अर्थ 'गुण' लेना चाहता है। उसके अनुसार 'चित्रा' शब्द का अर्थ अनेक वर्णों से युक्त स्त्री (मादा) 'पशु' होना चाहिये। किन्तु मीमांसक पूर्वपक्ष की इस मान्यता को समीचीन नहीं मानता, क्योंकि पशुगत 'चित्रत्व' (अनेकवर्णयुक्तत्व) एवं 'स्त्रीत्व' इन दो गुणों के द्वारा याग का विधान मानने पर वाक्यभेद हो जायेगा[1]। इसलिये वाक्यभेद से बचने के लिये 'चित्रा' शब्द को याग का नामधेय मान लेना चाहिये।

१—'तथा चाग्नीषोमीयं पशुमालभेतेति विहितं पशुयागमत्रवाक्ये यजेतेति पदेनानूद्य तत्र चित्रापदेन चित्रत्वस्त्रीत्वरूपौ गुणौ विधीयेते इति चेन्न। चित्रत्वेन स्त्रीत्वेन च तं भावयेदिति द्वयोर्गुणयोर्विधाने वाक्यभेदप्रसङ्गात्'।

(कौमुदी पृष्ठ—१६१)

प्रसङ्ग—किसी शब्द को याग का नामधेय मानने में तीसरा निमित्त 'तत्प्रख्यशास्त्र' है। अब उसी का निरूपण किया जा रहा है—

(७१—तत्प्रख्यशास्त्रान्नामधेयत्वम्)

'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यत्राग्निहोत्रशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तत्प्रख्यशास्त्रात्। तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्, अग्निहोत्रशब्दः कर्मनामधेयमिति यावत्।

नन्वयं गुणविधिरेव कुतो नेति चेत् न। यदि 'अग्नौ होत्रमस्मिन्' इति सप्तमीसमासमाश्रित्य होमाधारत्वेनाग्निरूपो गुणो विधेयस्तदा 'यदाहवनीये जुहोति' इत्यनेनैवाग्नेः प्राप्तत्वात्तद्विधानानर्थक्यम्। 'अग्नये होत्रमस्मिन्' इति चतुर्थीसमासमाश्रित्य अग्निदेवतारूपगुणोऽनेन विधीयत इति चेत्। न, तद्देवतायाः शास्त्रान्तरेण प्राप्तत्वात्।

अर्थ—'अग्निहोत्रं जुहोति' इस विधिवाक्य में प्रयुक्त 'अग्निहोत्र' शब्द 'तत्प्रख्यन्याय' से एक यागविशेष का नामधेय (नाम) है। 'तत्प्रख्यशास्त्रात्' पद की व्याख्या इस प्रकार है—'तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्' अर्थात् 'उस गुण के प्रख्यापक (प्राप्ति कराने वाले) शास्त्र के विद्यमान होने के कारण', इसी कारण से 'अग्निहोत्र' शब्द कर्म का नाम होता है।

यह कहना कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' को गुणविधि ही क्यों न मान लिया जाये' उचित नहीं। कारण, यदि 'अग्नौ होत्रमस्मिन्' इस प्रकार 'अग्निहोत्रम्' पद में सप्तमी तत्पुरुष समास मानकर होम के आधाररूप में अर्थात् गुण रूप में 'अग्नि' का विधान माना जाये तो 'यदाहवनीये जुहोति' वाक्य—जिसमें 'अग्नौ' यह सप्तम्यन्त पद प्राप्त होता है—ही व्यर्थ हो जायेगा। और यदि 'अग्निहोत्रम्' पद का विग्रह 'अग्नये होत्रमस्मिन्' इस प्रकार चतुर्थी

तत्पुरुष समास लेकर देवतारूप अग्निगुण का विधान मानने का प्रस्ताव रखा जाये वह भी उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ देवता की प्राप्ति तो दूसरे ही वाक्य से हो रही है ।

अर्थबोधिनी--किसी शब्द को नामधेय मानने में तीसरा निमित्त है-तत्प्रख्यशास्त्र' । अर्थात् जब गुण का विधान किसी दूसरे वाक्य से होता है तब विचार्यमाण विधिवाक्य में आपाततः गुणबोधक प्रतीत होने वाले शब्द को यागनामधेय माना जाता है। 'तत्प्रख्यशास्त्रात्' इस हेतुवाचक पद की व्याख्या ग्रन्थकार ने इस प्रकार की है—'तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्', अर्थात् गुणबोधक विधिवाक्य के विद्यमान होने के कारण ।

इस विषय को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझें--'अग्निहोत्रं जुहोति' एक विधिवाक्य है। पूर्वपक्षी की दृष्टि में 'अग्निहोत्रम्' पद से अभिप्राय अग्निरूप गुण होना चाहिये--अतएव उक्त विधिवाक्य अग्निरूप गुण का विधायक होने के कारण गुणविधि है; यहाँ गुण-रूप में अग्नि के दो रूपों की संभावनायें हैं--(१) अग्निहोत्रम् की व्याख्या 'अग्नौ होत्रम् अस्मिन्' होने पर होम के आधार रूप में अग्नि गुण होगा; (२) अग्निहोत्रम् पद की 'अग्नये होत्रम्' व्याख्या होने पर देवतारूप में अग्नि गुण होगा ।

मीमांसक 'अग्निहोत्रं जुहोति' को गुणविधि नहीं मानता, क्योंकि अग्निरूप गुण का विधान अन्यवेदवाक्यों (शास्त्रों) से इस प्रकार हो रहा है--(१) आधाररूप में अग्नि-गुण का विधायक वाक्य है-'यदाहवनीये जुहोति' और (२) देवतारूप में अग्नि-गुण का विधायक वाक्य 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' है। जब इन वाक्यों में अग्निरूप गुण का विधान किया गया है फिर भी 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य से अग्निरूप गुण का विधान मान लेने पर 'पुनरुक्ति' नामक दोष होगा जो सर्वथा त्याज्य है। अतएव तत्प्रख्यशास्त्र-रूप निमित्त के कारण 'अग्निहोत्र' शब्द को यागनामधेय मानना पड़ा ।

प्रसंग—देवतारूप अग्नि (गुण) का विधायक वाक्य कौन सा है ? इसका निर्णय प्रकृत स्थल में किया जा रहा है—

(७२—अग्निदेवताप्रापकशास्त्रान्तरविचारः)

किं तच्छास्त्रान्तरमिति चेत् । 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' इति केचित् । अपरे तु 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इति मंत्रवर्ण एवाग्निरूपदेवताप्रापकः ।

नन्वग्नेर्मान्त्रिवर्णिकत्वे प्रजापतिदेवतया बाधः स्यात्,मन्त्र वर्णस्य चतुर्थीतो दुर्बलत्वात्, यथाहुः—

'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः ।
देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम् ॥'

इति चेत्, न । 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' इत्यत्र न केवलं प्रजापतिविधानम्, किन्तु मन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतेः । एवं च न बाधः, केवलप्रजापतिविधानाभावात् । न चात्र समुच्चितोभयविधानमेव कथं नेति वाच्यम् । समुच्चितोभयविधानापेक्षयान्यतः प्राप्तमग्निमनद्य तत्समुच्चितप्रजापतिमात्रविधाने लाघवात् ।

एवं प्रयाजेषु समिदादिदेवतानां 'समिधः समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु' इत्यादिमन्त्रवर्णेभ्यः प्राप्तत्वात्, 'समिधो यजति' इत्यादिषु समिदादिशब्दास्तत्प्रख्यशास्त्रात् कर्मनामधेयम् ।

अर्थ—फिर प्रश्न होता है कि वह कौन सा अन्य वाक्य है जिससे अग्निरूप देवता की प्राप्ति होती है ? कुछ लोगों का कहना है कि अग्निदेवता का प्रापक वाक्य है 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' और दूसरे लोग 'अग्निज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' मंत्राक्षरों को ही अग्निदेवता का प्रापक मानते हैं ।

कोई कह सकता है कि-'चतुर्थी विभक्ति में प्रयुक्त प्रजापतिदेवता से मन्त्रवर्णविहित देवता का बाध हो जाता है। कारण, मंत्रवर्ण चतुर्थी से दुर्बल है इस विषय की पुष्टि में कुमारिल का'तद्धितेन'आदि श्लोक है,जिसका अर्थ इस प्रकार है-'देवता का विधान तद्धित,चतुर्थी और मंत्रवर्ण के द्वारा होताहै,उन तीनों में उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व से दुर्बल हैं'। वस्तुत: उक्त कथन समीचीन नहीं। कारण, 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' यहाँ केवल प्रजापति का ही विधान नहीं है, किन्तु 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इस मन्त्र से प्राप्त अग्नि का अनुवाद करके उस अनूदित अग्नि से युक्त प्रजापति का विधान है। इस प्रकार यहाँ अग्निदेवता का बाध नहीं होता है। कारण, यहाँ केवल प्रजापति का ही विधान नहीं है। यह भी कहना उचित नहीं कि यदग्नये' आदि द्वारा अग्नि एवं प्रजापति दोनों का सम्मिलित विधान क्यों न मान लिया जाये। यह इसलिये कि समुच्चित दोनों का विधान मानने से उचित यह होगा कि अन्यवाक्य से प्राप्त अग्नि का अनुवाद करके उस अनूदित अग्नि से युक्त प्रजापतिमात्र का विधान माना जाये। इससे लाघव होगा।

इसी तरह प्रयाजों में गुणरूप 'समिद्' आदि देवताओं की प्राप्ति 'समिधः समिधो' आदि मंत्रवर्णों से होने के कारण 'समिधो यजति' आदि वाक्यों में 'समिद्' आदि शब्द 'तत्प्रख्यशास्त्र' से कर्म के नामधेय (नाम) होते हैं।

अर्थबोधिनी—'अग्निहोत्रं जुहोति' विधि में 'अग्निहोत्र' शब्द एक याग का नाम है, न कि होम का आधार अथवा देवतारूप में अग्निरूप गुण का बोधक, इस तथ्य की ओर पिछले विभाग में संकेत किया जा चुका है। 'अग्निहोत्र' शब्द देवतारूप अग्नि (गुण) का प्रख्यापक इसलिये नहीं माना गया है कि देवतारूप अग्नि का प्रख्यापक अन्य वाक्य (शास्त्रान्तर) पाया जाता है। जब उसी शास्त्रान्तर से अग्निरूपदेवता की प्राप्ति हो जाती है तब 'अग्निहोत्रं जुहोति' विधि से भी उसी अग्निदेवता की प्राप्ति मानने पर पुनरुक्ति नामक दोष आपन्न होता है अथवा अग्निप्रख्यापक शास्त्रान्तर की अप्रामाणिकता-व्यर्थता सिद्ध होती है किन्तु फिर भी वाक्य की व्यर्थता मीमांसा दर्शन के लिये सर्वथा असह्य है।

अब जिज्ञासा होती है कि वह शास्त्रान्तर कौन सा है जिससे अग्निहोत्र

में अग्निरूप देवता की प्राप्ति होती है। इसके विषय में दो मत हैं—शाबर आदि कुछ मीमांसकों (केचित्) का मत है कि अग्निदेवता का प्रापक शास्त्रान्तर 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' है, किन्तु पार्थसारथि मिश्र आदि दूसरे मीमांसक (और अर्थसंग्रहकार भी) 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' मंत्र को अग्निदेवतारूप गुण का विधायक मानते हैं।

पूर्वपक्ष को एक और आपत्ति है, वह यह कि यदि अग्निहोत्र के लिये अग्निदेवता की प्राप्ति 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इस मंत्रवर्ण से मानी जायेगी तो 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' इस वाक्य के चतुर्थ्यन्त-'प्रजापतये' पद से बोध्य प्रजापति देवता से अग्निदेवता का बाध हो जायेगा। इस प्रकार अग्निहोत्र में एक ही देवता प्रजापति रह जायेगा, क्योंकि मंत्रवर्ण से प्राप्त देवता का चतुर्थी से प्राप्त देवता से बाध हो जाता है। यही बात कुमारिल ने निम्नलिखित कारिका में कही है—

'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मंत्रवर्णेन वा पुनः।
देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम्॥'

(तंत्रवार्तिक—२।२।२३)

उक्त कारिका का अर्थ यह हैं कि देवता का विधान तद्धितान्त एवं चतुर्थ्यन्त पद तथा मंत्र द्वारा होता है। इनमें बाद वाले अपने-अपने पूर्व वाले से दुर्बल हैं अर्थात् तद्धित से चतुर्थी दुर्बल है और चतुर्थी से मंत्रवर्ण।

सिद्धान्ती पूर्वपक्ष के उक्त कथन का खण्डन करता हैं। सिद्धान्त के अनुसार अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' मंत्र से अग्नि देवता का विधान किया जाता है और इस प्रकार विहित अग्नि देवता से युक्त (समुच्चित) प्रजापति देवता का विधान 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' वाक्य द्वारा किया जाता है। इस प्रकार 'यदग्नये' आदि के द्वारा प्रजापति का विधान तो होता ही है, साथ ही मंत्रवर्ण से प्राप्त अग्नि का भी अनुवाद होता है। अभिप्राय यह है कि अग्निदेवता के विधान का पूरा भार मंत्रवर्ण पर ही है 'यदग्नये'

आदि के द्वारा तो विहित अग्नि का पुनः उल्लेखमात्र होता है। या यों कहा जाये कि उसकी स्वीकृतिमात्र होती है। अनूदित अग्निदेवता से युक्त प्रजापति का विधान मानने पर इसलिये बाध नहीं होता कि चतुर्थीयुक्त 'यदग्नये च प्रजापतये च' इत्यादि वाक्य के द्वारा प्रजापति के विधान के साथ अग्नि देवता की भी स्वीकृति अनुदितरूप में होती है। जो जिसे स्वीकार करता है वह उसका विरोध भी कैसे कर सकता है ?

ध्यान रहे कि 'यदग्नये' आदि वाक्य से अग्नि एवं प्रजापति दोनों का निरपेक्ष विधान नहीं होता है। दोनों का विधान मानने पर (१) 'यदग्नये' आदि वाक्य पर दो देवताओं के विधान का भार पड़ेगा और (२) 'अग्नि-र्ज्योतिः' आदि मंत्र देवता का विधायक न होकर निरर्थक होने लगेगा। इससे यही मानने में लाघव है कि मंत्रवर्ण से अग्नि का विधान और 'यदग्नये' आदि वाक्य से प्रजापति का विधान माना जाये किन्तु यहां प्रजापतिमात्र का विधान न होकर उसके (प्रजापति के) साथ मंत्रवर्णविहित अग्नि भी देवता रूप में स्वीकृत रहता है।

इसी प्रकार 'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजति' आदि वाक्यों में 'समिद्' आदि शब्द याग के नाम (नामधेय) हैं क्योंकि गुण का विधान-(प्रख्यापन) करने वाले अन्य वाक्य (तत्प्रख्यशास्त्र) विद्यमान हैं, यथा—'समिधः समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु' आदि वाक्यों के 'समिद्' आदि शब्द गुण-समिधाओं (यज्ञकाष्ठ) के विधायक हैं।

प्रसंग—नामधेय होने में चतुर्थ निमित्त तद्व्यपदेश है उसी का विवेचन किया जा रहा है—

(७३—तद्व्यपदेशेन नामधेयत्वम्)

'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यत्र श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तद्व्यपदेशात्। तेन व्यपदेशादुपमानात्, तदन्यथानुपपत्तेरिति यावत्। तथा हि। यद्विधेयं तस्य स्तुतिर्भवति। यद्यत्र श्येनो

विधेयः स्यात्, तदार्थवादैस्तस्यैव स्तुतिः कार्या । अत्र 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्त एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते' इत्यनेनार्थवादेन श्येनः स्तोतुं न शक्यः श्येनोपमानेनार्थान्तरस्तुतेः क्रियमाणत्वात् । न च श्येनोपमानेन स एव स्तोतुं शक्यते, उपमानोपमेयभावस्य भिन्ननिष्ठत्वात् । यदा तु श्येनसंज्ञको यागो विधीयते तदार्थवादेन श्येनोपमानेन तस्य स्तुतिः कर्तुं शक्यत इति श्येनशब्दः कर्मनामधेयं तद्व्यपदेशादिति ।

अर्थ श्येनेनाभिचरन् यजेत' (अर्थ—शत्रुमारणक्रिया करते हुए श्येन का अनुष्ठान करना चाहिए) यहाँ तद्व्यपदेश-रूप निमित्त से 'श्येन' शब्द याग का नायधेय (नाम) माना जाता है। 'तद्व्यपदेशात्' पद की व्याख्या है—'तेन व्यपदेशात् उपमानात् तदन्यथानुपपत्तेरिति यावत्' अर्थात् 'उस गुण से उपमान होने का कथन होने से 'श्येन' शब्द को यागवाची माने विना उपमान होने की सिद्धि न होने के कारण'। इस विषय को स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है–जो अर्थ विधेय होता है उसकी अर्थवाद से स्तुति की जाती है। यदि 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' यहाँ श्येन नामक पक्षी का विधान होता तो अर्थवाद के द्वारा उसी श्येन पक्षी की ही स्तुति होनी चाहिए थी किन्तु 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते' इस अर्थवादवाक्य के द्वारा श्येन पक्षी की स्तुति, नहीं की जा सकती क्योंकि श्येन पक्षी के उपमान के द्वारा श्येनपक्षी से इतर अर्थ की ही स्तुति की जा सकती है अर्थात् श्येन की उपमा देकर उसी श्येन की ही तो स्तुति हो नहीं सकती। कारण, दो भिन्न-भिन्न पदार्थ ही उपमान एवं उपमेय हो सकते हैं। हाँ यदि 'श्येन' नामक याग को विहित माना जाये तब तो अर्थवाद द्वारा श्येनपक्षी की उपमा से उस याग की स्तुति बन सकती है। इस प्रकार 'तद्-व्यपदेश' नामक निमित्त से श्येन' शब्द याग का नामधेय ठहरता है।

अर्थबोधिनी—किसी शब्द को नामधेय मानने का अन्तिम कारण 'तद्-

व्यपदेश' है। ग्रन्थकार ने 'तद्व्यपदेशात्' की व्याख्या 'तेन व्यपदेशात्' किया है। 'व्यपदेशात्' पद का अर्थ 'उपमानात्' किया गया है। यहाँ 'तेन' पद का अर्थ 'गुणेन' है। इस प्रकार 'तद्व्यपदेशात्' पद का अर्थ 'उस गुण से उपमा होने के कारण' है। 'तद्व्यपदेशात् कर्मनामधेयत्वम्' का अर्थ होता है-- 'क्रिया का गुण से उपमा (साम्य) के श्रवण होने के कारण शब्दविशेष नामधेय होता है'। उदाहरण के लिए इस प्रकार समझिए—'श्येनेनाभिचरन् यजेत' एक विधिवाक्य है। इस वाक्य का अर्थ है कि 'अभिचार करते हुए श्येन का अनुष्ठान करना चाहिए'। ऐसी क्रिया जिसका अनुष्ठान करने से शत्रु की मृत्यु हो जाती है 'अभिचार' कही जाती है[1]। वैसे श्येन' शब्द का अर्थ बाज पक्षी' होता है किन्तु प्रकृत स्थल में यह एक यागविशेष का नामधेय (नाम) है। 'श्येन' शब्द को याग का नामधेय मानने का कारण यह है कि प्रकृत स्थल में 'श्येन' शब्द का अर्थ गुण बाज नहीं हो सकता क्योंकि एक अर्थवादवाक्य में श्येन (बाज) की उपमा (साम्यप्रदर्शन) द्वारा 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' में विहित 'श्येन' की प्रशंसा (स्तुति) की गई पाई जाती है। अर्थात् 'अर्थवादवाक्यगत 'श्येन' (बाज) शब्द के द्वारा विधि-वाक्यगत 'श्येन' शब्द को भी गुणवाचक (श्येन-बाज पक्षी का वाचक) मान लिया जायेगा तब श्येन से श्येन की स्तुति' का अर्थ 'स्वयं से स्वयं की स्तुति' होगा। किन्तु ऐसा कभी नहीं होता, क्योंकि जिसकी स्तुति की जा रही हो— उपमेय एवं जिसके द्वारा स्तुति की जा रही हो--उपमान भिन्न-भिन्न होते हैं। उपमान ही उपमेय नहीं हो सकता; उपमान एवं उपमेय भिन्न-भिन्न पदार्थ

१—'अभिपूर्वकचरधातोः वैरिमरणानुकूलो व्यापारोऽर्थः, तदुत्तरं श्रूय-माणः 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इति सूत्रेण बिहितः शतृप्रत्ययो हेत्वर्थकः, हेतुरत्र फलरूपो विवक्षितः, एवञ्च श्येनसंज्ञकेन यागेन अभिचाररूप फलं भावयेत्—इति विषयवाक्यार्थः ।'

(सारविवेचिनी पृष्ठ—१४५)

होते हैं। एक ही पदार्थ में उपमानत्व एवं उपमेयत्व दोनों धर्म नहीं रह सकते (उपमानोपमेयधर्मस्य भिन्ननिष्ठत्वात्)। इससे सिद्ध होता है कि अर्थवाद-वाक्यगत 'श्येन' शब्द गुणवाचक है और विधिवाक्यगत 'श्येन' शब्द गुणवाचक नहीं हो सकता। जब वह गुणवाचक नहीं है तो उसे अगत्या याग का नाम मान लेना होता है। यदि उसे याग का नाम न माना जायेगा तो विधि-वाक्यगत 'श्येन' एवं अर्थवादवाक्यगत' श्येन' में उपमानोपमेयभाव की उपपत्ति (सिद्धि) न हो सकेगी (तदन्यथानुपपत्तेः)।

'श्येनेनाभिचरन् यजेत्' इस विधि का अर्थवाद वाक्य इस प्रकार है—'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते'। अर्थवाद-वाक्य में 'यथा' एवं 'एवम्' दोनों शब्दों द्वारा उपमान का प्रदर्शन किया गया है। यदि हठवशात् 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस विधि वाक्य में 'श्येन' पद का अर्थ गुण अर्थात् बाज पक्षी ले लिया जाये तो अर्थवादवाक्य का अर्थ इस प्रकार होगा—'जैसे बाज झपट कर (शिकार को) पकड़ लेता हैं वैसे यह (बाज) द्वेष करने वाले शत्रु को झपट कर पकड़ लेता है। किन्तु जैसा पहिले बतलाया जा चुका है उपमान और उपमेय एक ही पदार्थ (बाज पक्षी) नहीं हो सकता। हाँ, यदि 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' विधिवाक्य में 'श्येन' संज्ञक याग का विधान माना जाये, गुण का नहीं, तो अर्थवादवाक्यगत 'श्येन' के उपमान से उक्त याग की प्रशंसा हो सकती है (यदा तु श्येनसंज्ञको यागो विधीयते तदार्थवादेन श्येनोपमानेन तस्य स्तुतिः कर्तुं शक्यते)। और इस प्रकार 'तद्व्यपदेश' निमित्त से 'श्येन' एक याग का नामधेय सिद्ध होता है।

प्रसंग—जिन चार निमित्तों से कोई शब्द याग का नामधेय होता है उनका विवेचन अभी तक किया जा चुका है। कुछ लोगों ने नामधेय होने में एक पाँचवें निमित्त को भी माना है। इस निमित्त को 'उत्पत्तिगुणबलीयस्त्व' कहते हैं। सिद्धान्त इसे अतिरिक्त निमित्त नहीं मानता, इसी विषय का विवेचन किया जा रहा है—

(७४–नामधेयत्वे उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वं न निमित्तन्तरम्)

उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वमपि पञ्चमं नामधेयमिति केचित्। यथा, 'वैश्वदेवेन यजेत' इत्यादौ। अत्रोत्पत्तिशिष्टाग्न्यादीनां बलीयस्त्वाद्वैश्वदेवशब्दस्य विश्वदेवदेवताभिधायकत्वं न संभवतीति कर्मनामधेयत्वम्।

वस्तुतस्तु तत्प्रख्यशास्त्रादेवास्य कर्मनामधेयत्वम्, प्रकृतयागे विश्वदेवरूपगुणसंप्रतिपन्नशास्त्रस्यार्थवादरूपस्यैव सत्त्वात्। 'यद् विश्वेदेवाः समयजन्त तद् वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्' इति

अर्थ—उत्पत्ति वाक्य द्वारा विहित गुण के अपेक्षाकृत अधिक बलवान् होने (उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व) को भी कुछ लोग नामधेय होने में पाँचवाँ निमित्त मानते हैं। उदाहरण के लिये 'वैश्वदेवेन यजेत' इस विधि में प्रयुक्त 'वैश्वदेव' शब्द याग का नामधेय है न कि देवतारूप गुण का वाचक, क्योंकि उत्पत्तिवाक्य में विहित अग्नि आदि देवता प्रबल हैं।

किन्तु सिद्धान्त मत यह है कि यहाँ भी तत्प्रख्यशास्त्र-रूप निमित्त से शब्द यागविशेष का नामधेय होता है, किसी पाँचवें निमित्त से नहीं। यहाँ विश्व-देव-रूप गुण का प्रख्यापक अर्थवादशास्त्र इस प्रकार पाया जाता है—'यद् विश्वेदेवाः समयजन्त तद् वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्'। इसलिये 'वैश्वदेवेन यजेत' में 'वैश्वदेव' शब्द याग का नामधेय मान लिया गया।

अर्थबोधिनी—कुछ लोग किसी शब्द को नामधेय मानने में 'उत्पत्तिशिष्ट-गुणबलीयस्त्व' को पाँचवाँ कारण मानते हैं। किन्तु सिद्धान्ती इस मत को स्वीकार नहीं करता। सिद्धान्ती 'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व' को 'तत्प्रख्यशास्त्र' में ही अन्तर्भूत करता है।

'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व' शब्द के अर्थ को समझ लेना आवश्यक होगा। 'उत्पत्ति' शब्द का अर्थ 'उत्पत्तिविधि', 'शिष्ट' का अर्थ 'उपदिष्ट' अर्थात्

विहित, 'गुण' का अर्थ 'द्रव्यदेवतादि अङ्ग' एवं 'बलीयस्त्व' का अर्थ 'बलवान्' होता है। इस प्रकार 'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व' शब्द का अर्थ हुआ— 'उत्पत्तिविधि में उपदिष्ट (देवता आदि) गुण का बलवान् होना'।

पूर्वपक्ष का अभिप्राय इस प्रकार है—उत्पत्ति विधि में जिस गुण का विधान किया जाता है वह गुण अन्यवाक्यविहित गुण से बलवान् होता है अतएव स्वीकार्य होता है। अन्य वाक्य में जिसे गुण समझा जाता है वह वस्तुतः गुण नहीं होता है क्योंकि गुण का विधान उत्पत्ति वाक्य में ही हो गया है इसलिये विधिवाक्यातिरिक्त वाक्य में जिस शब्द को गुणवाचक मानने का आग्रह किया जाता है वह गुणवाचन न होकर यागवाचक अर्थात् याग का नामधेय होता है। उदाहरण इस प्रकार समझिये—चातुर्मास्य याग के अंगभूत चार याग होते हैं-(१) वश्वदेव, (२) वरुणप्रघास, (३) साकमेध एवं (४) सुनासीरीय। (१) वैश्वदेव याग के अन्तर्गत ८ याग हैं जिनका विधायक उत्पत्तिवाक्य इस प्रकार है–'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति, सौम्यं चरु, सावित्रं द्वादशकपालं, सारस्वतं चरु, पौष्णं चरु, मारुतं सप्तकपालं, वैश्वदेवीमामिक्षां, द्यावापृथिव्यामेककपालम्'। इस उत्पत्तिवाक्य के, 'आग्नेयम्' 'सौम्यम्' आदि पदों द्वारा गुण—('अग्नि' 'सोम' आदि देवताओं) का विधान (उपदेश) किया गया है, इस प्रकार अग्नि आदि देवता 'उत्पत्तिशिष्टगुण' हुए। अग्नि आदि देवता उत्पत्तिशिष्टगुण होने के कारण बलवान् हैं इसलिये उत्पत्ति वाक्य के समीप पठित 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य में 'वैश्वदेव' पद देवतारूप गुण का वाचक नहीं हो सकता क्योंकि उत्पत्तिवाक्य के 'वैश्वदेवीमामिक्षाम्' पदों से वैश्वदेवदेवता–रूप गुण उपदिष्ट (शिष्ट) हो चुका है। इसलिये 'वैश्वदेवेन यजेत' यहाँ 'वैश्वदेव' यागविशेष का नामधेय है। 'वैश्यदेव' याग के अन्तर्गत उत्पत्तिवाक्यप्रतिपादित आठों याग आते हैं।

सिद्धान्ती पूर्वपक्ष के उक्त कथन का खण्डन करता है। सिद्धान्ती के अनुसार यहाँ 'तत्प्रख्यशास्त्र' रूप निमित्त से ही 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य में

प्रयुक्त 'वैश्वदेव' शब्द यागविशेष का नामधेय (नाम) है, अतः 'उत्पत्तिशिष्ट-गुणवलीयस्त्व' को पृथक् निमित्त मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य में प्रयुक्त वैश्वदेव' पद याग का नामधेय इसलिये है कि विश्वेदेवदेवता-रूप गुण का प्रख्यापक शास्त्र विद्यमान ही है[1]। सिद्धान्ती 'यद्‌विश्वेदेवाः समयजन्त तद्‌वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्' इस वाक्य को विश्वदेव-देवता का विधायक मानता है।

इस प्रकार नामधेयप्रकरण समाप्त हुआ।

(नामधेय—प्रकरण समाप्त)

१—'............तत्प्रख्यशास्त्रात्। तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्'

(विभाग संख्या—७१)

(ङ—निषेधप्रकरणम्)

प्रसंग—वेद के विधि, मन्त्र एवं नामधेय इन तीन प्रभेदों के विवेचन के उपरान्त क्रमप्राप्त 'निषेध' का विवेचन प्रारम्भ किया जा रहा है—

(७५—निषेधलक्षणम्)

पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः। निषेधवाक्यानामनर्थहेतु-क्रियानिवृत्तिजनकत्वेनैवार्थवत्त्वात्। तथाहि—यथा विधिः प्रवर्तनां प्रतिपादयन् स्वप्रवर्तकत्वनिर्वाहार्थं विधेयस्य यागादेरिष्टसाधन-त्वमाक्षिपन् पुरुषं तत्र प्रवर्तयति, तथा 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादिनिषेधोऽपि निवर्तनां प्रतिपादयन् स्वनिवर्तकत्वनिर्वाहार्थं निषेध्यस्य कलञ्जभक्षणस्य परानिष्टसाधनत्वमाक्षिपन् पुरुषं ततो निवर्तयति।

अर्थ—जो वाक्य पुरुष को किसी क्रिया के करने से निवृत्त कराता है उसे निषेध कहते हैं। अनर्थकारी क्रियाओं के प्रति पुरुष में निवर्तना उत्पन्न करना ही निषेध-वाक्यों का प्रयोजन है। जिस प्रकार विधिवाक्य प्रवृत्ति का प्रति-पादन करता हुआ अपनी प्रवृत्तिजनकता को चरितार्थ करने के लिये विधेयभूत याग आदि की इष्टसाधनता का आक्षेप करता हुआ पुरुष को उस (याग) में प्रवृत्त कराता है, उसी प्रकार 'न कलञ्जं भक्षयेत्' (विषाक्त बाण से मारे गये पशुपक्षी का मांस नहीं खाना चाहिये) यह निषेधवाक्य भी निवृत्ति का प्रतिपादन करता हुआ अपनी निवृत्तिजनकता का निर्वाह करने के लिये निषेध्यभूतकलञ्चभक्षण के 'घोर अनिष्ट के साधन होने' का आक्षेप करता हुआ पुरुष को उस (कलञ्जभक्षण) से निवृत्त कराता है।

अर्थबोधिनी—जो वाक्य किसी पुरुष को किसी क्रिया को करने से दूर

रखता है उसे निषेध कहा जाता है। निषेधवाक्यों का एक ही प्रयोजन (अर्थवत्त्व) है और वह यह कि निषेधवाक्य पुरुष में निवर्तना (विमुखता अर्थात् दूर हटने का भाव) को उत्पन्न करे ताकि पुरुष अनिष्ट की साधनभूत क्रियाओं के अनुष्ठान से दूर रह सकें। निषेधवाक्य विधिवाक्यों के ठीक विपरीत-विरोधी होते हैं। विधिवाक्य पुरुष को इष्ट फल की साधनभूत क्रियाओं के अनुष्ठान में प्रवृत्त कराते हैं, जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह विधि स्वर्गफलक अग्निहोत्र याग का विधान करती हुई पुरुष को उस याग के अनुष्ठान में प्रवृत्त कराती हैं। निषेधवाक्य अनिष्टफल की साधनभूत क्रियाओं से पुरुष को निवृत्त कराते हैं। उदाहरण के लिये 'न कलञ्जं भक्षयेत्' एक निषेधवाक्य है। यह वाक्य पुरुष को कलञ्जभक्षणरूप क्रिया से निवृत्त कराता है क्योंकि कलञ्जभक्षण क्रिया घोर अनिष्ट-नरक की जन्मदात्री है। विषाक्त वाण से मारे गये पशुपक्षियों के विषैले मांस को कलञ्ज कहा जाता है।

प्रसंग—निषेधवाक्यों के द्वारा निवर्तना का प्रतिपादन जिस प्रकार होता है उसका विवेचन किया जा रहा है—

(७६—नञर्थेन शब्दभावनाया अन्वयः)

ननु निषेधवाक्यस्य कथं निवर्तनाप्रतिपादकत्वमिति चेत्। उच्यते। न तावदत्र धात्वर्थस्य नञर्थेनान्वयः अव्यवधानेऽपि तस्य प्रत्ययार्थभावनोपसर्जनत्वेनोपस्थितेः। नह्यन्योपसर्जनत्वेनोपस्थित-मन्यत्रान्वेति। अन्यथा 'राजपुरुषमानय' इत्यादावपि राज्ञः क्रिया-न्वयापत्तेः। (अतः प्रत्ययार्थस्यैवयानञर्थेनान्वयः। तत्रापि नाख्यात-त्वांशवाच्यार्थभावनायाः, तस्या लिङंशवाच्यप्रवर्तनोपसर्जनत्वेनोप-स्थितेः, किन्तु लिङंशवाच्यशब्दभावनायाः, तस्याः सर्वापेक्षया प्रधानत्वात्।

अर्थ—यदि यह कहा जाये कि निषेधवाक्य निवर्तना का प्रतिपादन किस प्रकार करते हैं? तो उत्तर रूप में यह कहा जाता है-'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस निषेधस्थल में 'धातु के अर्थ' का अन्वय 'नञ् के अर्थ के साथ नहीं होता है। यद्यपि धात्वर्थ नञर्थ के समीप अव्यवहितरूपेण स्थित है फिर भी यतः धात्वर्थ 'त' प्रत्यय के वाच्य-भावना के प्रति उपसर्जन (गौण)-रूप में स्थित

है, अतः धात्वर्थ का नञर्थ के साथ अन्वय नहीं होता है। कारण, अन्य के प्रति उपसर्जन–रूप में विद्यमान अर्थ दूसरे के साथ अन्वित नहीं होता है, नहीं तो 'राजपुरुषमानय' यहाँ राजा का भी क्रिया से अन्वय होने की आपत्ति उठ खड़ी होगी। अतः यह निश्चय होता है कि प्रत्यय के अर्थ अर्थात् भावना का ही नञर्थ से अन्वय होता है, वह भी 'आख्यातत्व अंश के वाच्य–आर्थी भावना का अन्वय नहीं होता है क्योंकि आर्थीभावन तो 'लिङ्' अंश के वाच्य–शाब्दी भावना के प्रति उपसर्जनरूप में अर्थात् गौणरूप में स्थित होती है। अतः लिङंशवाच्य–शाब्दीभावना का ही नञर्थ से अन्वय होता है। कारण, शाब्दी भावना ही धात्वर्थ एवं आर्थी भावना आदि सबकी अपेक्षा प्रधान है।

अर्थबोधिनी—प्रश्न यह है कि 'न कलञ्जं भक्षयेत् आदि वाक्य निवर्तना का विधान किस प्रकार करते हैं। पूर्वपक्षी कह सकता हैं कि 'भक्षयेत्' पद प्रवर्तना का विधान करता है और 'न भक्षयेत्' वाक्य से 'भक्षणाभावः कर्तव्यः' अर्थ का बोध हो सकता है। यह इसलिये कि 'नञ्' (न) का अर्थ 'अभाव' होता है, नञर्थ से ,भक्ष्' धातु के अर्थ का अन्वय होने पर 'भक्षणाभावः' अर्थ का बोध होगा और 'त' प्रत्यय प्रवर्तनाबोधक होता है।

पूर्वपक्ष का मत समीचीन नहीं है क्योंकि यहाँ 'नञ्' का अर्थ 'अभाव' नहीं है, इसका विवेचन अग्रिम विभाग में किया जायेगा। पुनश्च नञर्थ से धातु (भक्ष्) के अर्थ का अन्वय नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि 'भक्ष्'धातु का अर्थ 'त' प्रत्यय के आख्यातत्वांशवाच्य आर्थीभावना का साधन होने के कारण आर्थीभावना के प्रति उपसर्जनभूत हैं। किसी के प्रति उपसर्जनभूत पदार्थ अन्य किसी से अन्वित नहीं होता है। जैसे राजपुरुषमानय' यहाँ 'आनय' पद का अन्वय 'राजा' से न होगा क्योंकि 'राजा' पुरुष के प्रति उपसर्जनभूत है। इसीलिये 'राजपुरुषमानय' कहने पर आनयन 'पुरुष' का होता है, राजा का नही। इस प्रकार यह निश्चय हो जाता है कि नञर्थ का अन्वय धात्वर्थ से न होगा। तब क्या नञर्थ का अन्वय 'भक्षयेत्' पदगत 'त' प्रत्यय के आख्यातात्वांशवाच्य आर्थी भावना से होता है? उत्तर है–नहीं।

कारण, आर्थी भावना लिङ्त्ववाच्य[1]—शब्दभावना का साधन होने से उसके प्रति उपसर्जन-रूप में स्थित है। इस विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि शाब्दी भावना ही धात्वर्थ एवं आर्थी भावना ही धात्वर्थ एवं आर्थी भावना से प्रधान है और इसलिए नञर्थ का अन्वय शाब्दी भावना से होना चाहिये।

यहाँ तक सिद्धान्ती ने यह निर्णय किया कि नञर्थ का अन्वय शाब्दी भावना से होना चाहिये किन्तु 'नञ्' (न) का अर्थ सर्वत्रअभाव ही नहीं होता है अपितु विरोधी भी होता है इस विषय का विवेचन अग्रिम विभाग में किया जायेगा।

प्रसंग—'नञ्' का अर्थ विरोध भी होता है, सर्वत्र अभाव ही नहीं। इसी का निरूपण इस विभाग में हो रहा है—

(७७—नञ् स्वभावनिरूपणम्)

नञश्चैष स्वभावो यत् स्वसमभिव्याहृतपदार्थविरोधिबोधकत्वम्। यथा 'घटो नास्ति' इत्यादौ 'अस्ति' इति शब्दसमभिव्याहृतो नञ् घटसत्त्वविरोधि घटासत्त्वं गमयति। तद्वदिह लिङ्-समभिव्याहृतो नञ् लिङर्थप्रवर्तनाविरोधिनीं निवर्तनामेव बोधयति विधिवाक्यश्रवणे 'अयं मां प्रवर्तयति' इति प्रवर्तनाप्रतीतिवत् निषेधवाक्यश्रवणे 'अयं मां निवर्तयति' इति निवृत्त्यनुकूल-व्यापाररूपनिवर्तनायाः प्रतीतेः। तस्मान्निषेधवाक्यस्थले निवर्तनैव वाक्यार्थः।

अर्थ—'नञ्' का यह स्वभाव है कि वह अपने साथ उच्चरित पदार्थ के विरोधी अर्थ का बोध कराता है। उदाहरण के लिए 'घटो नास्ति' इस वाक्य में 'अस्ति' शब्द के साथ उच्चरित 'नञ्' घट' के अस्तित्व के विरोधी 'घटास-

---

१—देखिये विभाग संख्या ६—११

त्व' अर्थ का बोध कराता है, इसी प्रकार–'न कलञ्जं भक्षयेत्' यहाँ 'लिङ्' के साथ उच्चरित नञ् 'लिङ्' के अर्थ–प्रवर्तना के विरोधी—निवर्तना का बोध कराता है। क्योंकि जैसे विधिवाक्य के सुनने पर 'यह मुझे प्रवृत्त करा रहा है' इस प्रकार प्रवर्तना की प्रतीति होती है उसी प्रकार निषेधवाक्य के सुनने पर 'निवृत्ति के अनुकूल व्यापाररूप' निवर्तना की प्रतीति होती है। इसलिए निषेधवाक्यस्थल में नञ् का अर्थ निवर्तना ही होता है।

अर्थबोधिनी—मीमांसा के अनुसार 'नञ्' का अर्थ 'अभाव' के अतिरिक्त विरोधी' भी होता है। उदाहरण के लिए 'घटो नास्ति' इस वाक्य में 'घटोऽस्ति' से 'घट के अस्तित्व' का बोध होता है और इसलिए 'घटो-नास्ति' का अर्थ 'घटास्तित्व का विरोधी' अर्थात् 'घटासत्त्व' समझा जाता है। 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस निषेधवाक्य में 'भक्षयेत्' पद विधि लिङ् में प्रयुक्त हुआ है। 'लिङ्' का अर्थ प्रवर्तना होता है, इस विषय का स्पष्टी-करण विभाग संख्या ८ में किया गया है। वहाँ इन पंक्तियों के अर्थ पर ध्यान देना चाहिए–'तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना। सा च लिङ्शेनोच्यते। लिङ्श्रवणेऽयं मां प्रवर्तयति मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापार-वानयमिति नियमेन प्रतीतेः'। इस प्रकार यह निश्चित हो जाने पर कि 'लिङ्' का अर्थ प्रवर्तना होता है और 'नञ्' का अर्थ 'समीप उच्चरित पदार्थ का विरोधी' होता है तो 'लिङ्' के साथ उच्चरित 'नञ्' का अर्थ 'प्रवर्तना का विरोधी' अर्थात् निवर्तना हुआ। 'यजेत स्वर्गकामः' जैसे विधिवाक्यों को सुनकर पुरुष को यह बोध होता है कि प्रस्तुत विधिवाक्य मुझे याग में प्रवृत्त कराता है। इसी प्रकार 'न कलञ्जं भक्षयेत्' जैसे निषेधवाक्य को सुनकर पुरुष को यह ज्ञान होता है कि वाक्य मुझे कलञ्ज-भक्षण से निवृत्त कराता है। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि निषेध-वाक्य 'निवर्तना' के प्रतिपादक होते हैं।

प्रसंग—कभी-कभी 'लिङ्' प्रत्यय के साथ 'नञ्' का अन्वय होने में बाधा होती है, इस बात को मीमांसक भी स्वीकार करता है। उक्त बाधस्थलों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

(७८—नञर्थेन प्रत्ययार्थस्यान्वये द्विविधं बाधकम्)

यदा तु प्रत्ययार्थस्य तत्रान्वये बाधकं तदा धात्वर्थस्यैव तत्रान्वयः। तच्च बाधकं द्विविधम्। 'तस्य व्रतम्' इत्युपक्रमो विकल्पप्रसक्तिश्च।

अर्थ—और जब प्रत्यय (लिङ्) के अर्थ का उस (नञ् के अर्थ) के साथ अन्वय (होने) में बाधक (उपस्थित) होता है तब धातु के अर्थ का (लिङर्थ से) अन्वय होता है। और वह (लिङर्थ से प्रत्ययार्थ के अन्वय होने में) बाधक दो प्रकार का है–'उसका व्रत' ('तस्य व्रतम्') यह उपक्रम (प्रारम्भ) एवं विकल्प की प्रसक्ति (आपत्ति)।

अर्थबोधिनी—दो प्रकार के ऐसे बाधक होते हैं जिनके उपस्थित होने पर नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं होता। ऐसी स्थिति में नञर्थ का अन्वय धात्वर्थ से होता है। दो प्रकार के बाधकों में प्रथम है—तस्य व्रतम्' का उपक्रम और द्वितीय है 'विकल्पप्रसक्तिः'। 'तस्य व्रतम्' का अर्थ है—ब्रह्मचारी के कर्तव्य। जहाँ कहीं ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का उपक्रम (प्रारम्भ) 'तस्य व्रतम्' पदों द्वारा किया गया है और बाद के वाक्य या वाक्यों में 'नञ्' का प्रयोग किया गया हो वहाँ लिङर्थ–प्रवर्तना–का अन्वय नञर्थ से नहीं होगा क्योंकि 'तस्य व्रतम्' के द्वारा कर्तव्य की सूचना दी गई है। कर्तव्यस्थल में प्रवर्तना होती है, विवर्तना नहीं। लिङर्थ से नञर्थ के अन्वय होने पर प्रवर्तना का बोध होगा, इसलिए ऐसे स्थलों पर धात्वर्थ का ही नञर्थ से अन्वय होता है।

विकल्प–प्रसक्ति स्थल में लिङर्थ का नञर्थ से अन्वय नहीं होता अपितु सुबन्त पद का, क्योंकि विकल्प की आपत्ति हो जाती है इसका विवेचन विभाग संख्या–८० में विस्तार से किया गया है।

प्रसंग—अब प्रथम बाधक का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

(७९—आद्यं बाधकम्)

तत्राद्यं 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इत्यादौ, 'तस्य व्रतम्' इत्युपक्रम्यैतद्वाक्यपाठात्। तथा चात्र पर्युदासाश्रयणम्। तथा हि—व्रतशब्दस्य कर्तव्यार्थे रूढत्वात् 'तस्य व्रतम्' इत्यत्र स्नातकस्य व्रतानां कर्तव्यत्वेनोपक्रमात्। किं तत् कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायां 'नेक्षेतोद्यन्तम्' इत्यादिना कर्तव्यार्थ एव प्रतिपादनीयः। अन्यथा पूर्वोत्तरवाक्ययोरेकवाक्यत्वं न स्यात्। तथा च नञर्थेन न प्रत्ययार्थान्वयः, कर्तव्यार्थानवबोधात्। विध्यर्थप्रवर्तनाविरोधिनिवर्तनाया एव तादृशनञा बोधनात्, तस्याश्च कर्तव्यार्थत्वाभावात्। तस्मात् 'नेक्षेत' इत्यत्र नञा धात्वर्थविरोध्यनीक्षणसंकल्प एव लक्षणया प्रतिपाद्यते, तस्य कर्तव्यत्वसंभवात्।

'आदित्यविषयकानीक्षणसंकल्पेन भावयेत्' इति वाक्यार्थः। तत्र भाव्याकाङ्क्षायाम् 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवति' इति वाक्यशेषावगतः पापक्षयो भाव्यतयान्वेति। एवं च पूर्वोत्तरयोरेकवाक्यत्वं निर्वहत्येव।

न च 'अत्र धात्वर्थविरोधिनः पदार्थान्तरस्यापि संभवात् कथमनीक्षणसंकल्पस्यैव भावनान्वयः इति वाच्यम्। तस्य कर्तव्यताभावेन प्रकृते भावनान्वयायोग्यत्वात्।

अर्थ—नञर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय होने में पहिला बाधक 'तस्य व्रतमित्युपक्रमः' है जिसका उदाहरण है—'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' अर्थात् 'उदित होते हुए सूर्य को न देखे'। 'तस्य व्रतम्' द्वारा प्रकरण का प्रारम्भ करके 'नेक्षेत' इत्यादि वाक्य का पाठ होने के कारण ही नञर्थ से क्रियार्थ का अन्वय नहीं होता है। इसीलिए यहाँ पर्युदास का आश्रय लिया गया है। इस विषय

स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—व्रत शब्द कर्तव्य अर्थ में रूढ है और 'तस्य व्रतम्' पदों द्वारा स्नातक के कर्तव्य के विधान का प्रारम्भ किया गया है। 'वह कौन सा कर्तव्य है।' ऐसी आकांक्षा होने पर 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इस वाक्य के द्वारा कर्तव्यार्थ का ही प्रतिपादन होना चाहिये। अन्यथा 'तस्य व्रतम्' और 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इन दोनों वाक्यों में एकवाक्यता न हो सकेगी। अतएव कर्तव्यार्थ का बोध न होने के कारण नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं होगा। नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय होने पर प्रवर्तना की विरोधिनी निवर्तना का ही ज्ञान होता है और निवर्तना में कर्तव्यता का अभाव रहता है, इसलिए 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इस स्थल में लक्षणा के द्वारा 'नञ्' का अर्थ धात्वर्थ का विरोधी–अनीक्षणसंकल्प लिया जाता है क्योंकि अनीक्षणसंकल्प कर्तव्य की कोटि में आता है अर्थात् न देखने का संकल्प किया जा सकता है।

तब 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इस वाक्य का 'सूर्य को न देखने के संकल्प के द्वारा भावना करे' यह अर्थ होता है। इस पर जब भाव्य (फल) की आकांक्षा होती है तब 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवति' (इतने से व्यक्ति पापमुक्त हो जाता है) इस अर्थवाद से ज्ञात 'पापक्षय' भाव्य के रूप अन्वित होता है। इस प्रकार पूर्व एवं उत्तर वाक्यों में एकवाक्यता का निर्वाह हो जाता है। यह भी कहना उचित नहीं कि 'धात्वर्थ का विरोधी और भी कोई पदार्थ (जैसे कपड़े से नेत्र बंद करना आदि) हो सकता है, फिर अनीक्षणसंकल्प को ही भावना से अन्वय होने योग्य क्यों माना जाये ? कारण, धात्वर्थ का विरोधी (कपड़े से नेत्र बंद करना आदि) और किसी पदार्थ में कर्तव्य नहीं हो सकता। इसीलिये प्रकृत स्थल में उसका भावना से अन्वय नहीं होता।

अर्थबोधिनी—विभाग संख्या ७८ में ग्रंथकार ने सूचित किया है, कि ऐसे स्थल दो प्रकार के होते हैं जहाँ नञर्थ से प्रत्ययार्थ के अन्वय में बाधा पहुँचती है। ऐसे स्थलों पर पर्युदास का आश्रय लिया जाता है। जब नञर्थ का अन्वय प्रत्ययार्थ से न होकर (१) धात्वर्थ अथवा (२) सुवन्त पद के अर्थ से हो उस स्थिति को पर्युदास कहते हैं। पहिले प्रकार के पर्युदास के स्वरूप का

स्पष्टीकरण इसी विभाग में किया गया है एवं द्वितीय प्रकार के पर्युदास का स्पष्टीकरण विभाग संख्या ८० में किया गया है।

नञर्थ से प्रत्ययार्थ के अन्वय होने में जहाँ बाधा उपस्थित होती है उन दो प्रकार के स्थलों में से पहिले प्रकार का स्थल वह है जहाँ कर्तव्य अर्थात् प्रवृत्तिबोधक शब्द 'व्रत' से किसी अनुष्ठान को प्रारम्भ करके परवर्ती वाक्यों में 'नञ्' का प्रयोग मिलता है। इस विभाग में इसी प्रथम प्रकार के बाधक के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है। ग्रन्थकार 'तत्राद्यम्' पदो द्वारा इसी प्रथम बाधक की ओर सङ्केत कर रहे हैं।

जहाँ कहीं कर्तव्यविषयों का विवेचन 'व्रत' (कर्तव्य) आदि शब्द का उल्लेख करके प्रारंभ किया जाता है[1] और उन्हीं कर्तव्यों के बोधक वाक्यों में 'नञ्' का प्रयोग किया जाता है वहाँ नञर्थ का अन्वय प्रत्ययार्थ से नहीं होता। उदाहरण के लिए 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'[2] (उदित होते हुए सूर्य को नहीं देखना चाहिये) इस वाक्य का अर्थ करते समय 'नञ्' (न) के अर्थ से (नेक्षेत्-गत) 'त' प्रत्यय के अर्थ का अन्वय नहीं किया जायेगा। कारण, नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' वाक्य का प्रयोग 'व्रत'[3] (कर्तव्य) के प्रसङ्ग में किया

१–'यत्रोपक्रमेऽनुष्ठेयपदार्थवाचको व्रतशब्दो दृश्यते'

(सारविवेचिनी पृष्ठ–१६०)

२–सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है–

'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥'

(मनुस्मृति–४।३७)

कुल्लूक भट्ट ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है–उद्यन्तमस्तं यन्तं च सूर्यबिम्बं सम्पूर्णं नेक्षेत्। उपसृष्टं ग्रहोपरक्तं वक्राद्युपसर्गयुक्तं वा, वारिस्थं जलप्रतिबिम्बितं, नभोमध्यगतं मध्यंदिनसमये।'

३–'अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः।
स्वर्ग्यायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥'

(मनुस्मृति–४।१३)

गया है। अभिप्राय यह है कि स्नातक[1] के व्रतों का प्रख्यापन करने के पूर्व कर्तव्यार्थ सूचक 'व्रत' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी बात को ग्रंथकार ने 'तस्यव्रतमित्युपक्रम:' (उस स्नातक का कर्तव्य कहकर प्रारंभ करना) इन शब्दों द्वारा कहा है। इससे यही सिद्ध होता है कि 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'

१—स्नातक तीन प्रकार के होते हैं-(१) विद्यास्नातक (२) व्रतस्नातक एवं (३) विद्याव्रतस्नातक। विद्यास्नातक उस स्नातक को कहते हैं जिसने स्वाध्याय की समाप्ति कर लिया हो किन्तु ब्रह्मचर्य की अवधि को पूरा न किया हो। व्रतस्नातक ऐसे स्नातक को कहते हैं जिसने ब्रह्मचर्य की अवधि तो पूरी कर ली हो किन्तु अध्येतव्य वेद का अध्ययन न समाप्त किया हो। विद्याव्रतस्नातक उस स्नातक को कहते हैं जिसने अध्येतव्य वेद का अध्ययन और ब्रह्मचर्य की अवधि दोनों को पूर्ण कर लिया हो—

'त्रय: स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति। समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं य: समावर्तते सविद्यास्नातक:। समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं य: समावर्तते स व्रतस्नातक:। उभयं समाप्य य: समावर्तते स विद्याव्रत-स्नातक इति।'

(पारस्करगृह्यसूत्र—२।५।३२-३५)

तथा

'समाप्य समाप्ति पठतोऽर्थतश्च अवसानं नीत्वा वेदवेदस्य मंत्रब्राह्मणात्मिकां एकां शाखां व्रतं च ब्रह्मचर्यं समाप्य य: समावर्त्तते स्नाति स ब्रह्मचारी विद्यास्नातको भवति एवं समाप्य व्रतं द्वादशवार्षिकादिकं ब्रह्मचर्यं असमाप्य असम्पूर्णमधीत्य वेदं एकां शाखां यो ब्रह्मचारी समावर्त्तते स्नानं करोति स व्रतस्नातको भवति उभयं वेदं सब्रह्मचर्यं समाप्य अंतं नीत्वा य: स्नाति स विद्याव्रतस्नातको भवति।'

(पारस्करगृह्य सूत्र—२।५।३३-३५ पर हरिहरभाष्य)

वाक्य कर्तव्य अर्थात् प्रवर्तना का बोध कराता है, निवर्तना का नहीं। आशय यह है कि जब प्रकृत स्थल में साक्षात् 'व्रत' शब्द का प्रयोग किया गया है और 'व्रत' शब्द का रूढ़ अर्थ कर्तव्य होता है तब 'किं कर्तव्यम्' अर्थात् क्या कर्तव्य है ? इस प्रकार स्नातक के कर्तव्यों की आकांक्षा होती है तब 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इत्यादि वाक्य कर्तव्यज्ञापक के रूप में ही अन्वित होना चाहिये। इस प्रकार 'व्रत' शब्द एवं 'नेक्षेत' आदि वाक्य दोनों कर्तव्यपरक समझे जाने के कारण दोनों वाक्यों में समन्वय हो जाता है। अन्यथा 'तस्य व्रतम्' एवं 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इन दोनों वाक्यों में समन्वय न होने के कारण एकवाक्यता न हो पाती और दोनों वाक्य एक ही विषय के प्रतिपादक न माने जाते।

यह सिद्ध हो जाने पर कि 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' द्वारा कर्तव्यार्थ-प्रवर्तना का ही बोध होता है, यह विचारणीय प्रश्न है कि प्रकृत वाक्य से प्रवर्तना का बोध किस प्रकार हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि वाक्यगत 'नञ्' (न) के अर्थ का अन्वय किसके साथ हो। जैसा कि विभाग संख्या ७६ में बतलाया गया है कि यदि नञर्थ का अन्वय प्रत्ययार्थ से किया जायेगा तो वाक्य से निवर्तना का बोध होगा, और निवर्तना विधि-बोध्य प्रवर्तना के ठीक विरुद्ध होती है (तथा च नञर्थेन न प्रत्ययार्थान्वयः कर्तव्यार्थानवबोधात्। विध्यर्थविरोधिनिवर्तनाया एव तादृशनञा बोधनात्)। इस प्रकार प्रकृत वाक्य से निवर्तना का बोध होने से वाक्य कर्तव्य-अर्थ का बोध नहीं करा सकेगा क्योंकि कर्तव्य अर्थ का बोध तो निवर्तना द्वारा न होकर प्रवर्तना द्वारा ही होता है। इस प्रकार नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय मानने पर निवर्तना का बोध होने लगेगा और निवर्तना 'व्रत' शब्दबोध्यकर्तव्यार्थ-प्रवर्तना के विरुद्ध होती है, इसलिए 'तस्य व्रतम्' एवं 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' दोनों वाक्यों में समन्वय अर्थात् एकवाक्यता नहीं हो सकेगी, जब कि दोनों में एकवाक्यता होनी चाहिये। यही कारण है कि यहाँ नञर्थ के साथ प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं होगा।

प्रश्न यह है कि फिर नञर्थ से किसका अन्वय होगा ? उत्तर यह है कि धात्वर्थ का अर्थात् नञर्थ से 'ईक्ष्' धातु के अर्थ का अन्वय विवक्षित है । 'नञ्' का अर्थ 'विरोधी' और 'ईक्ष्' धातु का अर्थ 'ईक्षण' अर्थात् 'दर्शन' है । तब 'नञर्थ' एवं धात्वर्थ का अन्वित अर्थ 'ईक्षणविरोधी' अर्थात् 'दर्शनविरोधी' हुआ । किन्तु अत्र ईक्षणविरोधी कौन सा पदार्थ लिया जाये, यह प्रश्न उपस्थित होता है । मीमांसक यहाँ पर लक्षणा द्वारा धात्वर्थविरोधी के रूप में 'अनीक्षणसंकल्प' को गृहीत हुआ मानेगा । कारण, धात्वर्थविरोधी पदार्थ ऐसा होना चाहिये जो कर्तव्य हो सके । संकल्प 'भावात्मक मानस कर्म' होता हैं । इस प्रकार 'अनीक्षणसंकल्प' कर्तव्य की कोटि में आ सकता है । 'अनीक्षणसंकल्प' के मानस कर्म होने पर 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' वाक्य का मीमांसासम्मत अर्थ इस प्रकार होता है–'आदित्यविषयकानीक्षणसंकल्पेन भावयेत्' । अर्थात् आदित्य को न देखने के संकल्प से सम्पन्न करे । इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृत अर्थबोधवाक्य विधि-रूप में—कर्तव्य-रूप में परिणत हो जाता है ।

उक्त वाक्य में 'भावयेत्' पद साकांक्ष है । यहाँ 'किं भावयेत्' इस प्रकार भाव्य (साध्य) की आकांक्षा होती है, जिसका उपशमन 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवति'[1] इस वाक्यशेष अर्थात् अर्थवाद वाक्य से होता है । इस अर्थवाद वाक्य का अर्थ है—'इतने (आदित्यविषयकानीक्षणसकल्प) से व्यक्ति (स्नातक) पाप से मुक्त हो जाता है ।' इस प्रकार 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' एवं 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवति' इन दोनों वाक्यों को मिलाकर एक पूर्ण वाक्य बन जाता है । यह इसलिए कि दोनों वाक्य परस्पर साकांक्ष हैं । प्रथम वाक्य साध्याकांक्ष हैऔर दूसरा साधनाकांक्ष साधन-आदित्यविषयकानीक्षणसंकल्प का

१—मनुस्मृति में फलबोधक वाक्य भिन्न है । वह इस प्रकार है :—

'अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित् ।
व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥'

(मनुस्मृति—४।२३०)

उल्लेख प्रथम में है और साध्य-पापमुक्ति का दूसरे में। इस सब विवेचन से यही सिद्ध होता है कि यहाँ धात्वर्थ विरोधी के रूप में 'अनीक्षणसंकल्प' ही लेना है न कि प्रवर्तनाविरोधी निवर्तना।

पूर्वपक्षी प्रश्न कर सकता है कि धात्वर्थ के विरोधी कर्तव्य संसार में अनेक पदार्थ हैं जैसे कपड़े से नेत्र बंद करना, फिर धात्वर्थविरोधी कर्तव्यरूप में 'अनीक्षणसंकल्प' को ही क्यों ग्रहण किया जाता है। इसका उत्तर यह है कि कपड़े आदि से नेत्र बंद करना शारीरिक क्रियामात्र है जब कि 'तस्य व्रतम्' द्वारा ऐसे कर्तव्यों का बोध होता है जो मानस कर्म हों। 'इद मया कर्तव्यम्, इदं न कर्तव्यम्, इत्येवंविधसंकल्पविशेषाद्व्रतम्[१]'। इस प्रकार अनीक्षणसंकल्प भावना के रूप में अन्वित होने के कारण अर्थात् भावनारूप होने में समर्थ होने के कारण यहां पर ग्रहण किया जाता है, 'कपड़े आदि से नेत्रों का बंद करना' आदि नहीं।

ध्यान रहे कि यहाँ (१) 'तस्य व्रतम्' (२) नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम् एवं (३) एतावता हैनसा वियुक्तो भवति' इन तीनों वाक्यों में एकवाक्यता मानी गई है अतएव इन तीनों वाक्यों का उल्लेख एक ही ग्रन्थ में मिलना चाहिए था। अतएव यह अन्वेषणीय विषय है कि यह तीनों वाक्य किस श्रुति से उद्धृत किये गये हैं ?

चिन्नस्वामी ने 'व्रत' शब्द को 'धर्म' का और उपक्रम' शब्द को 'उपसंहार' का उपलक्षण माना है। ऐसी स्थिति में यदि उपसंहार वाक्य में 'धर्म' का उल्लेख हो और उसके पूर्व धर्मपरकवाक्य में 'नञ्' का प्रयोग हो तो वहाँ भी पर्युदास का आश्रय लिया जायेगा एवं नञर्थ का अन्वर्थ धात्वर्थ के साथ होगा। उदाहरण इस प्रकार समझा जा सकता है। पहिले एक विधि वाक्य का उल्लेख इस प्रकार प्राप्त होता है– एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि' अर्थात् 'दोनों पक्षों की एकादशी में भोजन नहीं करना चाहिये'।

१—देखिये मनुस्मृति (४।१३) पर कुल्लूक भट्ट की टीका।

पुनश्च बाद में उक्त वाक्य के प्रसङ्ग में उपसंहार वाक्य इस प्रकार प्राप्त होता है—'वनस्थयतिधर्मोऽयम्'। यहाँ उपसंहार वाक्य में 'धर्म' शब्द का अर्थ कर्तव्य है। अतएव 'एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि' में भी कर्तव्य का प्रतिपादन होना चाहिये तभी दोनों वाक्यों में एकवाक्यता का निर्वाह होगा। यहाँ 'न भुञ्जीत' का अर्थ लक्षणा द्वारा 'अभोजनसङ्कल्पेन भावयेत्' होगा[1],

प्रसङ्ग—नञर्थ से प्रत्यार्थ के अन्वय होने में पहिला बाधक 'तस्य व्रत-मित्युपक्रमः' था जिसका विवेचन हो चुका है। अब द्वितीय बाधक 'विकल्प प्रसक्ति' के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है—

(८०—द्वितीयबाधकम्)

द्वितीयं 'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु' इत्यादौ। अत्र विकल्पप्रसक्तौ च पर्युदासाश्रयणात्। तथा हि। यद्यत्र वाक्ये नञर्थेन प्रत्ययार्थान्वयः स्यात्, तदा अनुयाजेषु 'ये यजामहे' इति मंत्रस्य प्रतिषेधः स्यात्, अनुयाजेषु ये यजामहं न कुर्यात् इति। स च प्राप्तिपूर्वक एव, प्राप्तस्यैव प्रतिषेधात्। प्राप्तिश्च 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इति शास्त्रादेव वाच्या। शास्त्र-प्राप्तस्य च प्रतिषेधे विकल्प एव, न तु बाधः। प्राप्तिमूलरागस्येव तन्मूलशास्त्रस्य शास्त्रान्तरेग बाधायोगात्।

अर्थ—'नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय' होने में दूसरा बाधक विकल्प प्रसक्ति (विकल्प की आपत्ति है। विकल्पप्रसक्ति का उदाहरण 'यजतिषु येयजामहं करोति नानुयाजेषु' यह वाक्य है (इसका अर्थ–यागों में 'येयजामह'

१—व्रतमित्युपलक्षणं धर्मादिपदस्यापि। उपक्रम इत्युपलक्षकमुपसंहा-रस्यापि। अत एव 'एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि। वनस्थयति-धर्मोऽयम्' इत्यत्राभोजनसंकल्पलक्षणा स्मर्तृभिरङ्गीकृता सङ्गच्छते'।

(सारविवेचिनी, पृष्ठ १६१)

मंत्र का पाठ करना चाहिये, अनुयाजों में नहीं)। यहाँ यदि नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय किया जाये तो विकल्प की आपत्ति होती है अतः प्रकृत-स्थल में नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं किया जाता, अपितु पर्युदास का आश्रय लेते हुये अनुयाज के साथ। इस विषय को इस प्रकार समझिये—यदि उक्त वाक्य में 'नञर्थ' का अन्वय 'प्रत्ययार्थ' से होगा तो 'अनुयाज' संज्ञक यागों में 'ये यजामहे' मंत्र का प्रतिषेध होने लगेगा अर्थात् अनुयाजों में 'ये यजामहे' मंत्र का पाठ नहीं करना चाहिए यह अर्थ होगा। अनुयाजों में उक्त मंत्र का प्रतिषेध तभी संभव है जब उसकी प्राप्ति पहिले से हुई रही हो, क्योंकि प्राप्त पदार्थ का ही तो प्रतिषेध हो सकता है। 'ये यजामहे' मंत्र की प्राप्ति 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस शास्त्रवचन से होती है। शास्त्र से प्राप्त (मंत्र आदि) पदार्थ का प्रतिषेध प्रतीत होने के स्थल में विकल्प ही माना जा सकता है न कि शास्त्रप्राप्त का निषेध (बाध)। जिसकी प्राप्ति का मूल राग होता है (जैसे कलञ्जभक्षण) उसका शास्त्र (यथा—'न कलञ्जं भक्षयेत्') द्वारा बाध हो जाता है किन्तु राग-प्राप्त पदार्थ की भाँति शास्त्रप्राप्त (जैसे—'ये यजामहे' मंत्र) पदार्थ का दूसरे शास्त्र (शास्त्रान्तर) से बाध हुआ नहीं माना जा सकता।

अर्थबोधिनी—विभाग संख्या ७८ में यह बताया गया है कि नञर्थ से प्रत्ययार्थ के अन्वय होने में दो प्रकार के बाधक होते हैं--(१) 'तस्य व्रत-मित्युपक्रम' एवं (२) 'विकल्पप्रसक्ति'। इनमें से पहिले प्रकार के बाध का विवेचन विभाग संख्या ७९ में अभी किया जा चुका है। प्रकृत विभाग में विकल्पप्रसक्ति' संज्ञक द्वितीय प्रकार के बाध के स्वरूप पर विवेचन किया जा रहा है।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (२४।१३।५) में 'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु' यह वाक्य प्राप्त होता है।श्रौत सूत्र में पठित होने के कारण इस वाक्य को 'शास्त्र' कहा जाता है। इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार है—"यागों में–'येयजामहे' संज्ञक मंत्र का पाठ करना चाहिए अनुयाजों में नहीं"।

वस्तुतः 'यजतिषु ये यजामहं करोति, नानुयाजेषु' इसमें दो वाक्य हैं । वे इस प्रकार हैं-(१) 'यजतिषु येयजामहं करोति' एवं (२) 'नानुयाजेषु'। पहिले वाक्य का अर्थ है—'यागों में 'येयजामह' मंत्र का पाठ करना चाहिये' और दूसरे वाक्य का अर्थ है—'अनुयाजसंज्ञक यागों में नहीं' । यहाँ हम देखते हैं कि दूसरा वाक्य-'नानुयाजेषु' स्वयं में पूर्ण नहीं है। इसे पूर्ण रूप प्राप्त होने में प्रथम वाक्य से सहायता लेनी पड़ती है अर्थात् परवाक्य पूर्व-वाक्याश्रित है। पूर्ववाक्य से सहायता प्राप्त करने पर परवाक्य का पूर्णरूप इस प्रकार होगा—'नानुयाजेषु येयजामहं करोति'। इसका अर्थ यह हुआ कि अनुयाजसंज्ञक यागों में 'ये यजामह' नामक मत्र का पाठ नही करना चाहिए ।

'अनुयाजेषु ये यजामह न करोति' इस वाक्य में नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं किया जा सकता। कारण, नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय होने पर निवर्तना का बोध होगा और निवर्तना से 'अनुयाजसंज्ञक यागों में 'येयजामह' मंत्र का पाठ नहीं करना चाहिए' यह मानना पड़ेगा। इस प्रकार 'येयजामह' मंत्र का निषेध होगा[1]। किसी पदार्थ का निषेध सदैव प्राप्तिपूर्वक होता है अर्थात् जिस किसी भी पदार्थ की प्राप्ति पहिले से हुई रहती है उसी का निषेध होता है। उदाहरण के लिए 'न कलञ्जं भक्षयेत्' वाक्य 'कलञ्ज-भक्षण' का निषेध कर रहा है क्योंकि 'कलञ्जभक्षण' की प्राप्ति राग द्वारा पहिले से हुई रहती है ।

यह स्पष्ट ही है कि 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' वाक्य को 'ये यजामह' मत्र की प्राप्ति 'यजतिषु ये यजामहं करोति' वाक्य से हुई है। दोनों वाक्यों में एकवाक्यता है ही। दोनों वाक्य 'शास्त्र' सज्ञा से अभिहित होते हैं क्योंकि वे शास्त्र श्रौत सूत्र में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय मानने पर 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस शास्त्र से

१—'प्रनिषेधः स विज्ञेयः क्रियया सह यत्र नञ्'

(मीमांसान्यायप्रकाश—पृष्ठ १६२-में उद्धृत)

प्राप्त 'ये यजामहे' मंत्र का 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' इस शास्त्र से निषेध होने लगता है।

'किन्तु शास्त्रप्राप्त पदार्थ का दूसरे शास्त्र से निषेध नहीं माना जा सकता। कारण, प्रकृत स्थल में परशास्त्र को स्वार्थबोधहेतु पूर्वशास्त्र की अपेक्षा होती है। इस प्रकार सापेक्ष होने के कारण परशास्त्र पूर्वशास्त्र-प्राप्त मंत्र का बाध कर सकने में असमर्थ है। हाँ, यदि दोनों शास्त्र परस्पर निरपेक्ष होते तो उन दोनों में बाध्यबाधकभाव सम्बन्ध हो सकता था[1]। इसके अतिरिक्त रागप्राप्त पदार्थ का शास्त्र द्वारा निषेध हो सकता हैं जैसे रागप्राप्त-'कलञ्जभक्षण' का बाध' न कलञ्जं भक्षयेत्' इस शास्त्र द्वारा हो जाता है। किन्तु रागप्राप्त पदार्थ का जैसे शास्त्र द्वारा बाध हो जाता है वैसे शास्त्रप्राप्त का दूसरे शास्त्र से बाध नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये 'कलञ्जभक्षण' की प्राप्ति रागमूलक है, इसीलिये उसका 'न कलञ्जं भक्षयेत्' से बाध हो जाता है। किन्तु इसी प्रकार जिस पदार्थ की प्राप्ति शास्त्रमूलक होती है ऐसे 'ये यजामहे' मंत्र का निषेध शास्त्रान्तर—'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' से नहीं हो सकता।

अब प्रश्न यह है कि प्रकृत स्थल में एक शास्त्र द्वारा प्राप्त पदार्थ का अपर शास्त्र द्वारा निषेध है; और निषेध अमान्य है, तब मान्य क्या होना चाहिये? उत्तर है—विकल्प। अर्थात् जब शास्त्रप्राप्त का शास्त्र द्वारा निषेध हो रहा हो तो विकल्प मान्य होता है, निषेध नहीं। विकल्प के मान्यतास्थल में पाक्षिक अप्रामाणिकता रहती है। अतएव जब विकल्प की प्राप्ति (प्रसक्ति) होने लगती है तब पर्युदास का आश्रय लिया जाता है। पर्युदास का आश्रय लेने पर 'नञर्थ' से 'धात्वर्थ' का अन्वय नहीं होता[2]। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि विकल्प की प्रसक्ति 'नञर्थ से 'प्रत्ययार्थ' के अन्वय होने में बाधक है।

१—'शास्त्रयोर्हि बाध्यबाधकभावो यत्र परस्परनिरपेक्षता'
(मीमांसान्यायप्रकाश, पृष्ठ—१६९)

२—'पर्युदासः स विज्ञेयः यत्रोत्तरपदेन नञ्'
(मीमांसान्यायप्रकाश में पृष्ठ १६१ पर उद्धृत)

प्रसंग—पूर्वपक्षी एक ऐसा दृष्टान्त उपस्थित करता है जिसमें शास्त्र-प्राप्त का अपरशास्त्र द्वारा निषेध पाया जाता है। इसी आधार पर वह प्रकृत स्थल में भी शास्त्रप्राप्त का शास्त्रान्तर से निषेध स्वीकार कराना चाहता है, इस विभाग में उसका खण्डन किया जा रहा है—

(८१—निरपेक्षयोः शास्त्रयोर्बाध्यबाधकभावः)

न च 'पदे जुहोति' इति विशेषशास्त्रेण 'आहवनीये जुहोति' इति शास्त्रस्येव 'नानुयाजेषु' इत्यनेन 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इत्यस्य बाधः स्यादिति वाच्यम। परस्परनिरपेक्षयोरेवशास्त्र-योर्बाध्यबाधकभावात् । पदशास्त्रस्य हि स्वार्थविधानार्थमाहवनीय-शास्त्रानपेक्षणान्निरपेक्षत्वम् । प्रकृते तु निषेधशास्त्रस्य निषेध्यप्रस-क्त्यर्थं 'यजतिषु ये यजामहम्' इत्यस्यापेक्षणान्न निरपेक्षत्वम् ।

अर्थ—और यह भी नहीं कहना चाहिये (इति न वाच्यम्) कि "जैसे 'पदे जुहोति' (गाय के सप्तम पद-चिह्न पर हवन करे) इस विशेष शास्त्र के द्वारा 'आहवनीये जुहोति' (आहवनीय' नामक अग्नि में हवन करे) इस सामान्य शास्त्र का बाध हो जाता है उसी तरह 'नानुयाजेषु' इस विशेष शास्त्र के द्वारा 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस सामान्यशास्त्र का बाध मान लिया जाना चाहिए।" कारण, परस्पर साकांक्ष न रहने वाले दो शास्त्रों में ही बाध्यबाधकभाव सम्बन्ध होता है। पदशास्त्र ('पदे जुहोति') को अपने अर्थ का विधान करने के लिये आहवनीयशास्त्र—'आहवनीये जुहोति' की अपेक्षा नहीं रहती है। किन्तु प्रकृतस्थल में निषेधशास्त्र ('नानुयाजेषु') को निषेध्य ('ये यजामहं' मंत्र) की प्राप्ति के लिये 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस शास्त्र की अपेक्षा रहती है। अतएव 'नानुयाजेषु' यह शास्त्र निरपेक्ष नहीं है। इसलिये प्रकृतस्थल में दोनों वाक्यों में बाध्यबाधकभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अर्थबोधिनी—पूर्वपक्षी ऐसे दो शास्त्रवाक्यों को दृष्टान्त रूप में

उपस्थित करता है जिनमें मीमांसक भी बाध्यबाधकभाव सम्बन्ध मानता है। ये दो वाक्य हैं—'आहवनीये जुहोति' एवं 'पदे जुहोति'। 'पदे जुहोति' वाक्य का अर्थ है–'गाय के सप्तम पदचिह्न पर हवन करे'। 'आहवनीये जुहोति' इस सामान्य शास्त्र का बाध 'पदे जुहोति' इस विशेषशास्त्र से माना जाता है। इस प्रकार 'पदे जुहोति' यह विशेषशास्त्र बाधक हुआ माना जाता है और 'आहवनीये जुहोति' यह सामान्यशास्त्र बाध्य। पूर्वपक्षी की युक्ति है कि इसी प्रकार 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस सामान्य शास्त्र का बाध 'नानुयाजेषु' इस विशेषशास्त्र से क्यों न मान लिया जाये अर्थात् 'यजतिषु ये यजामहं करोति' को बाध्य एवं 'नानुयाजेषु' को बाधक शास्त्र मान लिया जाये।

सिद्धान्ती पूर्वपक्षी की उक्त युक्ति का खण्डन करते हुये कहता है कि दो शास्त्रवाक्यों में से कोई एक दूसरे का बाध तभी कर सकता है जब दोनों निरपेक्ष हों; दोनों स्वतंत्ररूपेण अपने विधेय का विधान कर सकें। अभिप्राय यह है कि परस्पर निरपेक्ष शास्त्रवाक्यों में ही बाध्यबाधकभाव हो सकता है। यदि दो वाक्यों में से कोई एक वाक्य अपने अर्थबोध के हेतु दूसरे पर आश्रित रहता है तो उन दोनों वाक्यों में बाध्यबाधकभाव नहीं हो सकता है अर्थात् दोनों वाक्यों में से कोई एक दूसरे का बाध करने में समर्थ नहीं हो सकता।

पदशास्त्र अर्थात् 'पदे जुहोति' एवं आहवनीय शास्त्र अर्थात् 'आहवनीये जुहोति' दो सर्वथा स्वतंत्र निरपेक्ष शास्त्र हैं; अपने अर्थबोध में कोई भी एक वाक्य दूसरे पर आश्रित नहीं रहता है। इसलिये 'आहवनीये जुहोति' इस सामान्यशास्त्र का 'पदे जुहोति' इस विशेष शास्त्र द्वारा बाध हुआ मान लिया जाता है। किन्तु 'यजतिषु ये यजामहं करोति' एवं 'नानुयाजेषु' इन दोनों वाक्यों में एक–'नानुयाजेषु' यह निषेधशास्त्र अपने निषेध्य–ये यजामह' मंत्र की प्राप्ति के लिये 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस शास्त्र पर आश्रित रहता है, क्योंकि अप्राप्त का निषेध ही नहीं हो सकता और प्रकृत-

स्थल में—अनुयाज में 'ये यजामहे' मंत्र के पाठ की प्राप्ति 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इसी से होती है। फिर दोनों शास्त्र परस्पर निरपेक्ष कहाँ हुये। इसीलिये 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस शास्त्र का बाध 'नानुयाजे' अर्थात् 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' इस वाक्य से नहीं हुआ।

प्रसंग—शास्त्र द्वारा विहित पदार्थ का शास्त्र द्वारा प्रतिषेध होने लगने पर 'नञर्थ' से 'सुबन्त के अर्थ' का अन्वय होता है न कि 'प्रत्ययार्थ' का, इसी विषय का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है—

(८२—बाधायोगोपसंहार.)

तस्माच्छास्त्रविहितस्य शास्त्रान्तरेण प्रतिषेधे विकल्प एव। स च न युक्तः। विकल्पे शास्त्रस्य पाक्षिकाप्रामाण्यापातात्। न ह्यनुयाजेषु 'ये यजामहम्'इत्यस्यानुष्ठाने 'नानुयाजेषु' इत्यस्य प्रामाण्यं संभवति, व्रीहियागानुष्ठाने यवशास्त्रस्येव। द्विरदृष्टकल्पना च स्यात्, विधि प्रतिषेधयोरपि पुरुषार्थत्वात्। अतो नात्र प्रतिषेधस्याश्रयणम्, किन्तु नञोऽनुयाजसम्बन्धमाश्रित्य पर्युदासस्यैव। इत्थं चानुयाजव्यतिरिक्तेषु यजतिषु 'ये यजामहे' इति मन्त्रं कुर्यादिति वाक्यार्थ बोधः, नञोऽनुयाजव्यतिरिक्ते लाक्षणिकत्वात्। एवं च न विकल्पः। अत्र च वाक्ये 'ये यजामहे' इति न विधीयते, 'यजतिषु ये यजामहम्' इत्यनेनैव प्राप्तत्वात्' किन्तु सामान्यशास्त्रप्राप्त—ये यजामह इत्यस्यानुवादेन तस्यानुयाजव्यतिरिक्तविषयकत्वं विधीयते। यत् यजतिषु ये यजामहं करोति' तदनुयाजव्यतिरिक्तेष्विति।

अर्थ—अतएव जब एक शास्त्र के द्वारा विहित पदार्थ का दूसरे शास्त्र से प्रतिषेध (निषेध) होने लगता है तब वहाँ प्रतिषेध (निषेध) न मानकर विकल्प माना जाता है, किन्तु यहाँ विकल्प मानना भी समीचीन नहीं है। कारण, विकल्पस्थल में पाक्षिक अप्रामाण्य की आपत्ति होने लगती हैं इसे

इस प्रकार समझें–जब अनुयाजों में 'येयजामह' मंत्र का अनुष्ठान किया जायेगा तब 'नानुयाजेषु' यह वाक्य प्रमाण न हो सकेगा, इस प्रकार पाक्षिक (एक पक्ष में) अप्रामाण्य की आपत्ति होने लगती है, जैसे 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' इस विकल्पस्थल में जब 'व्रीहि' का अनुष्ठान किया जायेगा तब 'यवैर्वा यजेत'यह यवशास्त्र अप्रामाणिक होता है और यवानुष्ठान करने पर व्रीहिशास्त्र अप्रमाण होता है। इसके अतिरिक्त विकल्पस्थल में दो अदृष्टों की कल्पना करनी होती है, क्योंकि अनुष्ठानपक्ष में एक अदृष्ट मानना होता है और अननुष्ठानपक्ष में दूसरा अदृष्टा कारण,विधि एवं निषेध दोनो से ही पुरुषार्थ (अदृष्ट) उत्पन्न हुआ माना जाता है। अतएव यहाँ प्रतिषेध का आश्रय नहीं लिया जा सकता किंतु 'नञ्' का अनुयाज से सम्बन्ध मानकर पर्युदास का ही आश्रय लिया जायेगा।

तब (पर्युदास का आश्रय लेने पर) 'यजतिषु येयजामहं करोति नानुयाजेषु' इस वाक्य का अर्थ होगा—'अनुयाजव्यतिरिक्तेषु यजतिषु येयजामह इति मन्त्र कुर्यात्' (अर्थ–अनुयाज के अतिरिक्त सभी यागों में 'ये यजामह' मंत्र का पाठ करना चाहिये)। यहाँ पर लक्षणा द्वारा 'नञ्' शब्द का अर्थ 'अनुयाज के अतिरिक्त' लिया जाता है। इस प्रकार प्रकृत स्थल में विकल्प की आपत्ति नहीं होती। 'नानुयाजेषु' अथवा यों कहा जाय कि 'अनुयाजेषु येयजामह न करोति' इस वाक्य में 'येयजामह' मंत्र का विधान नहीं किया जाता है, क्योंकि 'ये यजामह' मंत्र की प्राप्ति तो 'यजतिषु येयजामहं करोति' इसी वाक्य से हो जाती है। 'अनुयाजेषु येयजामहं न करोति' इस वाक्य में 'येयजामह' मंत्र का तो अनुवाद मात्र होता है, न कि विधान। विधान होता है मंत्र की अनुयाजातिरिक्तस्थलता का अर्थात् यागों में जो 'ये यजामह' मंत्र का पाठ कर्तव्य है वह अनुयाज के अतिरिक्त यागों में ही कर्तव्य है। इस प्रकार यहाँ केवल उक्त मंत्र का पाठानुष्ठान अनुयाजातिरिक्त यागों में कर्तव्य रूप से विहित होता है।

अर्थबोधिनी—पिछले विभाग में यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि 'यजतिषु येयजामहं करोति' एवं 'नानुयाजेषु' अर्थात् 'अनुयाजेषु येयजामहं न

करोति' ये दोनों वाक्य परस्पर निरपेक्ष नहीं है अतएव इन दोनों में बाध्य-बाधकभाव नहीं है अर्थात् 'अनुयाजेषु येयजामहं न करोति' इस शास्त्र के द्वारा 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस शास्त्र का बाध नहीं होता।

जब शास्त्रों (शास्त्रवाक्यों) में से एक शास्त्र (शास्त्रवाक्य)अपने अर्थबोध के लिये दूसरे शास्त्र पर आश्रित होता है तब निषेधशास्त्र आश्रयशास्त्र का प्रतिषेध नहीं करता है। इसलिये तो ऐसे स्थलों पर प्रतिषेध नहीं माना जाता है अपितु विकल्प का आश्रय लिया जाता है किन्तु सर्वत्र विकल्प का भी आश्रय लेना समीचीन नहीं है। कारण, विकल्प मानने पर अनुष्ठेयपदार्थ-बोधकशास्त्र का पाक्षिक प्रामाण्य होता है। उदाहरण के लिये 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' इस वाक्यप्रयोगस्थल को लिया जा सकता है। यहाँ वैकल्पिक दो वाक्य इस प्रकार समझने चाहिये—(१) व्रीहिर्यजेत (२) यवैर्यजेत। यहाँ दोनों वाक्य परस्पर निरपेक्ष हैं। यदि बाध्यबाधकभाव माना जाये तो कौन किसका बाधक होगा इसका निर्णय न होने के कारण सुन्दोपसुन्दन्याय से दोनों परस्पर बाधित होने लगेंगे,किन्तु ऐसा होना उचित नहीं। इसलिये यहाँ विकल्प माना जाता है। विकल्प मानने पर अपने-अपने स्थान पर दोनों अनुष्ठित होने के कारण कथंचित् दोनों के प्रामाण्य की रक्षा हो पाती है परन्तु जब 'यवैर्यजेत' को प्रमाण मानकर 'यव' (जौ) द्वारा यागानुष्ठान किया जायेगा। उस पक्ष (स्थिति) में यवशास्त्र ('यवैर्यजेत') प्रमाण होगा किन्तु जब'व्रीहिभिर्यजेत'को प्रमाण मानकर 'व्रीहि' द्वारा यागानुष्ठान किया जायेगा तब इस पक्ष (स्थिति) में 'यव' शास्त्र अप्रमाण होगा। इस प्रकार एक पक्ष में यवशास्त्र अप्रमाण होगा। इस प्रकार एक पक्ष में यवशास्त्र ('यवैर्यजेत') का प्रामाण्य सिद्ध होता है और दूसरे पक्ष में अप्रामाण्य। अर्थात्'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' इस विकल्पस्थल में शास्त्र की पाक्षिक अप्रामाणिकता आपन्न होती है परन्तु अगत्या उसे सहन कर लिया जाता है क्योंकि वहाँ कोई ओर उपाय ही नहीं है।

'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस सामान्यशास्त्र से सामान्यरूपेण सभी यागों में 'ये यजामह' मंत्र के पाठ की प्राप्ति होती है। यागसामान्य के अन्तर्गत 'अनुयाज' संज्ञक याग भी हैं। अतएव 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस वाक्य को प्रमाण मानकर जब अनुयाजसंज्ञक यागों में 'ये यजामह' मंत्र का पाठ किया जायेगा तब इस पक्ष में 'नानुयाजेषु' यह वाक्य अप्रामाणिक होने लगेगा क्योंकि इस वाक्य के अनुसार अनुयाजों में 'ये यजामह' मंत्र का पाठ नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार 'नानुयाजेषु' को प्रमाण मानकर यदि अनुयाज में 'ये यजामह' मंत्र का पाठ नहीं किया जायेगा तो 'यजतिषु ये यजामहं करोति' यह शास्त्र अप्रमाण होने लगेगा क्योंकि वह सभी यागों में प्राप्त है अतः अनुयाज में भी 'ये यजामह' मंत्र के पाठ का विधान करता है। अतः इस अप्रामाण्यापत्ति के भय से विकल्प की स्वीकृति उचित नहीं मानी जा सकती। व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' इन स्थल के समान यहाँ विकल्पप्रसक्ति-रूप आपत्ति को सह्य नहीं माना जा सकता। कारण, यहाँ उपायान्तर से काम लिया जा सकता है। वह उपाय है–पर्युदास का आश्रयण।

विकल्पस्थल में एक दूसरा दोष यह है कि दो अदृष्टों की कल्पना करनी होती है जिससे गौरव दोष आपन्न होता है। दो अदृष्टों की कल्पना इस लिए करनी होती है कि शास्त्रप्राप्त—'ये यजामह' मंत्र के अनुष्ठान से एक प्रकार का अदृष्ट उत्पन्न हुआ माना जायेगा और शास्त्रप्राप्त –'ये यजा-मह' मंत्र के पाठाभाव से दूसरे प्रकार का अदृष्ट माना जायेगा। कारण, विधि एव प्रतिषेध दोनों पुरुषार्थ होते हैं–पुरुष के लिए होते हैं अर्थात् दोनों अदृष्टार्थक होते हैं।

सारांश यह है कि 'नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय' मानने पर अन्त में जब दोषद्वयगर्भित विकल्प आपन्न होता है तब विकल्प से मुक्ति पाने के लिए 'नञर्थ का प्रत्ययार्थ से 'अन्वय न करके सुबन्त 'अनुयाजेषु' के अर्थ से अन्वय किया जाता है। इसी को पर्युदास कहा जाता है।

वैसे 'नञ्' का अर्थ 'विरोधी' होता है, परन्तु जब 'नञर्थ से अनुयाजार्थ

का अन्वय' किया जाता है तब 'नञ्' शब्द का लक्षणा से 'तदतिरिक्त' अर्थ माना जाता है। ऐसी स्थिति में 'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु' वाक्य का अभिप्रेत अर्थ इस प्रकार होगा—'अनुयाजव्यतिरिक्तेषु यजतिषु ये यजामहं कुर्यात्' अर्थात् 'अनुयाज के अतिरिक्त अन्य सभी यागों में 'ये यजामह' मंत्र का पाठ करे'। इस प्रकार पर्युदास का आश्रय लेने पर विकल्प की प्रसक्ति भी नहीं होती और परस्पर बाध्यबाधकभाव भी नहीं होता। इसलिए उक्त शास्त्रों में से कोई अप्रामाणिक भी नहीं होता।

ध्यान रहे 'नानुयाजेषु' अर्थात् 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' इस वाक्य द्वारा 'ये यजामह' मंत्र का विधान नहीं किया जाता, मंत्र का विधान तो 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस वाक्य से किया जाता है। 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' इस वाक्य में 'ये यजामह' मंत्र का अनुवाद मात्र है, जहाँ-जहाँ मन्त्र का पाठ अपेक्षित है वहाँ-वहाँ के लिये ही उसका विधान होता है, अनुयाज के लिए नहीं अर्थात् प्रकृत वाक्य से मंत्र के 'अनुयाज के अतिरिक्त अन्य सभी यागों में' पाठ किये जाने का विधान है अथवा यों कहा जाये कि मंत्र के अनुयाजव्यतिरिक्तविषयकत्व का विधान है। उस मंत्र के पाठ में अनुयाजभिन्नयागस्थलीयत्व का विधान है। इससे यह बोध होता है कि मंत्र 'अनुयाजव्यतिरिक्तविषयक' है। अभिप्राय यह है कि 'यजतिषु ये यजामहं करोति' से जो यह विधान किया जाता है कि 'यागों में ये यजामह मंत्र का पाठ करे वह अनुयाज के अतिरिक्त (यागों) में'। यहाँ 'अनुयाज के अतिरिक्ति (याग) में' केवल इतने पदार्थ का विधान 'नानुयाजेषु' अर्थात् 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' इस वाक्य से होता है।

प्रसंग–अब 'पर्युदास उपसंहार से भिन्न होता है', इस विषय का निरूपण किया जा रहा हैं—

(८३—पर्युदासोपसंहारभेदनिरूपणम्)

नन्वेवं सामान्यशास्त्रप्राप्तस्य विशेषे संकोचनरूपादुपसंहारात् पर्युदासस्य भेदो न स्यादिति चेत्, न। उपसंहारो हि

तन्मात्रसंकोचार्थः । यथा—'पुरोडाशं चतुर्धा करोति' इति सामान्यप्राप्तचतुर्धाकरणम् 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' इति विशेषादाग्नेयपुरोडाशमात्रे संकोच्यते । पर्युदासस्तु तदन्यमात्र-संकोचार्थ इति ततो भेदः !

अर्थ—'सामान्यशास्त्र से प्राप्त पदार्थ का विशेष क्षेत्र में जो सकोच होता है उसे ही उपसंहार कहते हैं और पर्युदास भी, फिर दोनों में क्या अन्तर है ?' यह कथन उपयुक्त नहीं । कारण, उच्चरितमात्र में विहित पदार्थ के संकोच को उपसंहार कहा जाता है । उदाहरण के लिये 'पुरोडाशं चतुर्धा करोति' (पुरोडाश को चार भागों में विभक्त करना चाहिए) इस सामान्य शास्त्र के द्वारा 'पुरोडाश के चतुर्धाकरण' का विधान किया जाता है और आग्नेयं चतुर्धा करोति' (आग्नेय पुरोडाश को चार भागों में विभक्त करना चाहिए) इस विशेषशास्त्र के द्वारा चतुर्धाकरण का आग्नेय पुरोडाश मात्र में संकोच किया जाता है, इसीलिए यहाँ पर उपसंहार माना जाता है । किन्तु केवल 'शब्दनिर्दिष्ट' के अतिरिक्त विषय में होने वाले संकोच को पर्युदास कहते हैं । यही तो उपसंहार और पर्युदास में अन्तर है ।

अर्थबोधिनी– पिछले विभाग में पर्युदास का विवरण आ चुका है । यह शंका हो सकती है कि क्या पर्युदास और उपसंहार एक ही नहीं हैं ? क्योंकि सामान्य शास्त्र से प्राप्त पदार्थ का विशेष में संकोच ही उपसंहार होता है और पर्युदास भी । उदाहरण के लिए 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस सामान्यशास्त्र से प्राप्त 'यजामह' मंत्र का 'नानुयाजेषु' इस शास्त्र से अनुयाजव्यतिरिक्त यागों में सकोच हो जाता है, इसी को पर्युदास कहते हैं और उपसंहार स्थल में भी सामान्यशास्त्र से प्राप्त पदार्थ का विशेष में संकोच किया जाता है । इस प्रकार दोनों स्थलों में स्थानसंकोच होता है फिर दोनों में भेद नहीं माना जाना चाहिए, जैसा कि माना जाता है । इसका उत्तर इस प्रकार समझना चाहिए–पर्युदास और उपसंहार दोनों को एक नहीं समझना चाहिए, कारण, तन्मात्र संकोच को उपसंहार

कहते है अर्थात् विधेय पदार्थ के शब्द द्वारा निर्दिष्ट विषय मात्र में होने वाले संकोच को उपसंहार कहा जाता है। उपसंहार के स्वरूप का ज्ञान उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो जायेगा।

'पुरोडाशं चतुर्धा करोति' इस सामान्यशास्त्र के द्वारा पुरोडाश के चार भाग किये जाने (पुरोडाशचतुर्धाकरण) का विधान होता है, तब 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' इस विशेषशास्त्र के द्वारा पुरोडाशचतुर्धाकरण का संकोच 'आग्नेय' 'अग्नीषोमीय' एवं 'ऐन्द्राग्न' इन तीन प्रकार के पुरोडाशों में से केवल आग्नेय पुरोडाश में ही होता है। 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' वाक्य में 'आग्नेयम्' पद सुना जाता है और चतुर्धाकरणरूप विधेय पदार्थ का संकोच भी आग्नेयपुरोडाशमात्र में ही किया गया है, अर्थात् यहाँ पर संकोच श्रुत (आग्नेय) पुरोडाशमात्र के लिये ही विहित होता है। श्रुतार्थमात्र में होने वाले संकोच को ही ग्रन्थकार ने 'तन्मात्रसंकोचार्थ :" कहा है—

पर्युदास का स्वरूप इससे भिन्न है। पर्युदासस्थल में तन्मात्रसंकोच न होकर तदन्यमात्र में संकोच होता है अर्थात् पर्युदासस्थल में विधेय पदार्थ का संकोच निर्दिष्ट से इतर विषय में होता है। उदाहरण के लिये 'यजतिषु ये यजामहं करोति' वाक्य से 'ये यजामहे' मंत्र का विधान किया जाता है एव 'नानुयाजेषु वाक्य से अनुयाजेतरमात्र यागों में उस मंत्र का संकोच होता है। इस प्रकार यहाँ निर्दिष्ट तो 'अनुयाज' है किन्तु संकोच होता है अनुयाजेतरमात्र में। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि उपसंहार और पर्युदास दोनों भिन्न-भिन्न होते हैं।

सारांश यह है कि स्थानसंकोच पर्युदास और उपसंहार इन दोनों स्थलों में होता है सही परन्तु दोनों स्थलों में महान् पार्थक्य यह होता है कि उपसंहारस्थल में जहाँ विधान का स्थान कम होता है अर्थात् विधान-स्थान की संख्या कम होती है-निषेध स्थान की ही संख्या अधिक हो जाती है वहाँ पर्युदासस्थल में इसके विपरीत निषेधस्थान की संख्या कम होती है और विधानस्थान की संख्या अधिक होती है। 'आग्नेयं चतुर्धा करोति'

के द्वारा जबकि पुरोडाश का चतुर्धाकरण आग्नेयपुरोडाश का ही चतुर्धाकरण होकर रह जाता है तो अन्य सभी पुरोडाशसाध्य याग पुरोडाशगत चतुर्धाकरण से वंचित होते हैं। वे यागस्थलीय पुरोडाशचतुर्धाकृत नहीं होते हैं, केवल आग्नेयपुरोडाश का ही चतुर्धाकरण होता है। इसलिए विधेयचतुर्धाकरण का स्थान अविधेय चतुर्धाकरण स्थान से अल्प होने लगता है। और 'यजतिषु येयजामहं करोति नानुयाजेषु' यहाँ पर जब कि 'ये यजामहं' मंत्र का पाठ अनुयाजव्यरिक्त सभी यागों के लिए विहित होता है तो 'ये यजामहं' मंत्र का पाठ केवल अनुयाज में नहीं होता है, उस पाठ की अविधेयता केवल एक-अनुयाज मात्र स्थान के लिए होती है किन्तु विधेयता एक-अनुयाज को छोड़कर सभी यागों के लिए निर्धारित होती है। इसलिए 'ये यजामहं' मंत्र के पाठ के विधान का स्थान उक्त अनुयाजात्मक एकमात्र स्थान से कहीं अधिक निर्धारित होने लगता है। अभिप्राय यह है कि विधान का स्थान ही वहाँ अधिक होता है। इसलिये पर्युदास एवं उपसंहार में इस प्रकार महान् अन्तर पाया जाता है। अतः उक्त प्रश्न उचित नहीं हैं कि दोनों स्थलों में संकोच होने के कारण इन दोनों को अलग क्यों मान जाये।

प्रसंग—कहीं कहीं विकल्पप्रसक्ति होने पर भी निषेध मानना पड़ता है इसी विषय पर विचार किया जा रहा है।

(८४—कुत्रचिद्‌विकल्पप्रसक्तावपि प्रतिषेधाश्रयणम्)

कुत्रचिद्विकल्पप्रसक्तावप्यनन्यगत्या प्रतिषेधाश्रयणीयम। यथा 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति शास्त्रप्राप्तषोडशिग्रहणस्य निषेधाद् विकल्पप्रसक्तावपि न पर्युदासाश्रयणम्, असंभवात्। तथा हि। यद्यत्र षोडशिपदार्थेन नञर्थान्वयस्तदातिरात्रेषोडशिव्यतिरिक्तं गृह्णातीति वाक्यार्थबोधः स्यात्। स च न संभवति, 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति प्रत्यक्षविधिविरोधात्। यदि

चातिरात्रपदार्थेनान्वयस्तदातिरात्रव्यतिरिक्ते षोडशिनं गृह्णातीति वाक्यार्थबोधः स्यात्, सोऽपि न संभवति, तद्विधिविरोधात्। अतोऽत्रानन्यगत्या शास्त्रप्राप्तषोडशिग्रहणस्यैव निषेधः। न च विकल्पप्रसक्तिस्तस्याप्यपेक्षणीयत्वात्।

अर्थ—कहीं-कहीं पर विकल्पप्रसक्ति होने पर भी पर्युदास मानना असंभव हो जाता है अतएव कोई उपाय शेष न रह जाने पर निषेध स्वीकार कर लिया जाता है। उदाहरण के लिये 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' यह वाक्य है। इस वाक्य का अर्थ है—'अतिरात्र' नामक सोमयाग में 'षोडशी' नामक पात्र को नहीं ग्रहण करना चाहिए।' अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इस शास्त्र से विहित षोडशिग्रहण का निषेध 'नातिरात्रे षोडशिन गृह्णाति' इस शास्त्र से होने लगता है फिर भी यहाँ पर्युदास का आश्रय नहीं लिया जाता है। कारण, यहाँ पर्युदास का स्वीकार किया जाना सर्वथा असम्भव है। इस विषय का स्पष्टीकरण निम्नलिखित पंक्तियों में किया जा रहा है—

यदि प्रकृत स्थल में नञर्थ का अन्वय षोडशी' शब्द के अर्थ के साथ किया जायेगा तो 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' वाक्य का अर्थ होगा—'अतिरात्रे षोडशिव्यतिरिक्तं गृह्णाति' अर्थात् अतिरात्र में षोडशी के अतिरिक्त किसी का ग्रहण करे।' किन्तु ऐसा होना असंभव है, कारण, 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' विधि द्वारा अतिरात्र में 'षोडशिग्रहण' का विधान किया गया है, षोडशिव्यतिरिक्त का नहीं। यदि 'नञर्थ' का अन्वय 'अतिरात्र' पद के अर्थ के साथ किया जाये तो नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति का अर्थ होगा—'अतिरात्रव्यतिरिक्ते षोडशिनं गृह्णाति' अर्थात् 'अतिरात्र को छोड़कर अन्य यागों में षोडशी का ग्रहण करना चाहिये।' यह भी पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्यक्ष विधि का विरोधी है। इस प्रकार अन्य कोई उपाय न होने के कारण षोडशिग्रहण का ही निषेध माना जाता है। यह कहना कि यहाँ भी 'विकल्पप्रसक्ति' रूप दोष है, उचित नहीं। कारण, यहाँ का विकल्प इष्ट है—अनुकूल है।

अर्थबोधिनी—विभाग संख्या ७८ में यह बताया गया है कि 'नञर्थ' के 'प्रत्ययार्थ' के साथ अन्वय होने में दो प्रकार के बाधक होते हैं—(१) 'तस्य व्रतमित्युपक्रमः' (२) 'विकल्पप्रसक्तिः'। इनमें से प्रथम बाधक का विवेचन विभाग संख्या ७९ में किया गया है एवं द्वितीय 'विकल्पप्रसक्ति' का विवरण उसके बाद वाले विभागों में किया गया है।

नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय होने पर जहाँ विकल्प होने लगता है वहाँ नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं किया जाता है। इस विषय का विवेचन विभाग संख्या ८०, ८१ और ८२में मिलता है। विकल्प में दोष होते हैं, अतएव विकल्प से बचने के लिये नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं करना चाहिये। फिर नञर्थ का अन्वय किससे करना चाहिए ? उत्तर है-अभिप्रेत सुबन्त पद के साथ। अर्थात् ऐसी स्थिति में पर्युदास का आश्रय लिया जाता है।

किन्तु प्रकृत विभाग में ग्रंथकार एक उदाहरण देकर इस विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं कि किसी-किसी स्थल में पर्युदास की संभावना न होने पर विकल्प होता है और नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय भी होता है[1] वहाँ विकल्पप्रसक्ति को नञर्थ से प्रत्यायार्थ के अन्वय होने में बाधक नहीं माना जाता है। अर्थात् विकल्पप्रसक्ति होने पर भी ऐसे स्थलों में अगत्या निषेध स्वीकार किया जाता है। विकल्प वहाँ दोष रूप में न रहकर स्वीकार्यरूप में रहता है।

'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' एक निषेधवाक्य है। इसका अर्थ है— 'अतिरात्र नामक सोमयाग में षोडशी नामक सोमपात्र को नहीं ग्रहण करना चाहिए।' एक अन्य विधिवाक्य 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' द्वारा अतिरात्र संज्ञक सोमयाग में षोडशी नामक सोमपात्र के ग्रहण का विधान किया जाता है।

'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इस स्थल में नञर्थ का अन्वय 'प्रत्यार्थ' से होता है। इस प्रकार अतिरात्र में षोडशी के ग्रहण का निषेध होता है। अति-

१—'अतश्चात्र पर्युदासस्यानुपपत्तेर्निषेध एव स्वीक्रियते, विकल्पोऽपि स्वीक्रियते'
(मीमांसान्यायप्रकाश, पृष्ठ १७५)

रात्रे षोडशिन गृह्णाति' द्वारा अतिरात्र में षोडशी के ग्रहण का विधान भी होता है। इस अतिरात्र याग में षोडशी के ग्रहण का विधान होने के कारण विधि एवं अतिरात्र में षोडषी के ग्रहण का निषेध होने के कारण निषेध भी है। अतएव एक ही अतिरात्र में षोडशी का विधान एवं निषेध दोनों प्राप्त होने के कारण विकल्प की प्रसक्ति हुई। यद्यपि विकल्प का होना दोष है किन्तु यहाँ का विकल्प अपेक्षणीय है क्योंकि और कोई उपाय नहीं रहता है।

कारण, यदि विकल्पप्रसक्ति को दोष मानकर विकल्प से मुक्ति पाने के लिये पर्युदास का आश्रय लिया जायेगा तो 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' यहाँ 'नञर्थ' का अन्वय या तो 'षोडशी के अर्थ' के साथ करना होगा अथवा अतिरात्र के अर्थ' के साथ। यदि 'नञर्थ' का अन्वय 'षोडशी के अर्थ' के साथ होगा तो 'नातिरात्रे शोडशिनं गृह्णाति' का अर्थ 'अतिरात्रे षोडशिव्यतिरिक्तं गृह्णाति' (अतिरात्र में षोडशी के अतिरिक्त का ग्रहण करना चाहिए) होगा। किन्तु इस अर्थ का 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इस प्रत्यक्षविधिविहित अर्थ से विरोध हो जाता है, क्योंकि यह विधि अतिरात्र में षोडशी के ग्रहण का विधान करती है। एक शास्त्र से विहित पदार्थ का दूसरे शास्त्र द्वारा निषेध नहीं हो सकता इसी प्रकार यदि नञर्थ का अन्वय 'अतिरात्र' इस पदके अर्थ के साथ किया जायेगा तो 'नातिरात्रे षोडशिन गृह्णाति' वाक्य का अर्थ 'अतिरात्र-व्यतिरिक्ते षोडशिनं गृह्णाति' (अतिरात्र याग के अतिरिक्त अन्य यागों में षोडशी का ग्रहण करना चाहिये) होगा। किन्तु 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' यह प्रत्यक्ष विधि 'अतिरात्र' में षोडशी के ग्रहण का विधान करती है। इस प्रकार शास्त्रप्राप्त का अपरशास्त्र द्वारा निषेध होने लगता है। जैसा कि पूर्व निर्देश किया जा चुका है कि जहाँ एक शास्त्र से विहित पदार्थ का दूसरे शास्त्र से निषेध होने लगता है वहाँ निषेध न मानकर विकल्प माना जाता है[1]। यही कारण है कि प्रकृत स्थल में विकल्प मानना पड़ता है। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं रह जाता है (अनन्यगत्या)।

१—'तस्माच्छास्त्रविहितस्य शास्त्रान्तरेण प्रतिषेधे विकल्प एव' (विभागसंख्या—८२)

यद्यपि विकल्प होने में दोष हैं किन्तु प्रकृत स्थल में विकल्प दोष न होकर इष्ट (स्वीकार्य) है अर्थात् अभिप्रेत अपूर्व का जनक है। कारण, ऐसे स्थलों में विधि एवं निषेध द्वारा क्रमशः विहित एवं निषिद्ध दोनों पदार्थ अदृष्ट के उत्पादक माने जाते हैं। अग्रिम विभाग में इस विषय पर विचार किया जायेगा।

प्रसंग—विकल्पस्थलीय विधि एवं निषेध दोनों के द्वारा याग का सम्पादन होता है अर्थात् दोनों याग के उपकारक होते हैं, कोई एक भी अनिष्ट को नहीं उत्पन्न करता।

(८५—प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम्)

इयांस्तु विशेषो यद्विकल्पादेकप्रतिषेधे प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम्, विधिनिषेधोभयस्यापि क्रत्वर्थत्वात्। यत्र तु न विकल्पः, प्राप्तिश्च रागत एव, प्रतिषेधश्च पुरुषार्थः, तत्र प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वम्, यथा 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादौ कलञ्जभक्षणादेः। तत्र भक्षणनिषेधस्यैव पुरुषार्थत्वात्।

न च 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इत्यादौ शास्त्रप्राप्तदानहोमादीनां निषेधाद्विकल्पापत्तिरिति वाच्यम्। स्वतः पुरुषार्थभूतदानहोमादीनां निषेधस्य पुरुषार्थत्वाभावेऽपि निषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वात्, यथा क्रतौ स्वस्त्रीगमनादेः। तन्निषेधस्य क्रत्वर्थत्वेन तस्य क्रतुवैगुण्यसम्पादकत्वात्।

अर्थ—'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस निषेधस्थल से प्रकृत विकल्पात्मक निषेधस्थल में इतनी विशेषता रहती है कि यहाँ विकल्प से किसी पदार्थ (षोडशिग्रहण) का निषेध होने पर भी यदि निषेध्य पदार्थ (शोडषिग्रहण) का अनुष्ठान भी किया जाये तो उससे अनर्थ (अनिष्ट) की उत्पत्ति नहीं होती है। कारण, विधि एवं निषेध दोनों यज्ञ के उपकारक होते हैं। जहाँ पर

विकल्प नहीं होता (जैसे—'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस निषेधस्थल में), निषेध्य पदार्थ की प्राप्ति राग से होती है और निषेध्य पदार्थ (कलञ्ज-भक्षण) के निषेध से निवृत्तिशील पुरुष का हित होता है। वहाँ जिस पदार्थ का निषेध हो रहा हो वह (अनुष्ठित होने पर) अनर्थ का कारण होता है, जैसे 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि स्थल में 'कलञ्जभक्षण' आदि। कारण, वहाँ भक्षण के निषेध से ही पुरुषार्थ होता है।

यह कहना उचित नहीं कि "यतः शास्त्र द्वारा विहित दान होम आदि का निषेध 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' (दीक्षित व्यक्ति न दान करे न हवन करे) इत्यादि वाक्य के द्वारा किया जाता है, अतएव यहाँ भी विकल्प प्राप्ति माननी चाहिये"। कारण, यद्यपि अन्य स्थलों में दान होम आदि स्वयं पुरुषार्थ-रूप हैं एवं दान-होम आदि का निषेध पुरुषार्थहीन, किन्तु निषिद्ध पदार्थ (जैसे दान, होम) प्रकृतयागस्थल में अनर्थ का कारण होता है। उदाहरण के लिए स्वपत्नीगमन पुरुषार्थ-रूप है किन्तु याग में स्वपत्नी-गमन भी अनर्थजनक है, स्वपत्नीगमन के निषेध से याग का उपकार होता है किन्तु उससे (स्वपत्नीगमन से) याग में वैगुण्य (हीनत्व आजाता है।

अर्थबोधिनी—पिछले विभाग में यह बतलाया गया है कि 'अतिरात्रे षोडशिन गृह्णाति' एवं 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इन वाक्यों द्वारा क्रमशः अतिरात्र में षोडशी के ग्रहण का का विधान एवं षोडशी के ग्रहण का निषेध विकल्प से प्राप्त होता है। वहाँ विधि एवं निषेध वैकल्पिक हैं, इसलिए विधिपक्ष में प्रतिषिध्यमान 'षोडशी का ग्रहण' अनर्थ का कारण नहीं होता है, भले ही 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इस वाक्य के द्वारा 'षोडशी के ग्रहण का निषेध' किया जा रहा हो। कारण, ऐसे विकल्पस्थलों में विधि एवं निषेध दोनों के द्वारा याग की निष्पत्ति होती है। विधि-पक्ष में विधेय के अनुष्ठान द्वारा याग का उपकार होता है, उस काल में निषेध्य वाक्य द्वारा यागानुष्ठान में कोई हानि नहीं होती है। वह वाक्य याग में वैगुण्य नहीं उत्पन्न करता अर्थात् उस काल में निषेध वाक्य निष्क्रिय रहता है—विधि का विरोध नहीं करता। इसी प्रकार निषेधपक्ष में जब 'षोडशी के

ग्रहण' का निषेध किया जाता है तब अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' यह वाक्य निषेधवाक्य का विरोध नहीं करता है। प्रत्येक पक्ष दूसरे का विरोध न करता हुआ यागानुष्ठान का उपकारी होता हैं (विधिनिषेधोभयस्यापि क्रत्वर्थत्वात्)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इस निषेध-वाक्य के द्वारा प्रतिषिध्यमान-'षोडशी का ग्रहण' अनर्थ का कारण नहीं बनता है, किन्तु अन्य स्थलों में जैसे 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस स्थल में प्रतिषिध्यमान- 'कलञ्जभक्षण' अनर्थ (नरकप्राप्ति) का कारण माना जाता है अर्थात् विकल्पप्रतिषेधपक्ष की यह विशेषता है कि प्रतिषिध्यमान अनर्थ का कारण नहीं होता है (इयांस्तु विशेषो यद् विकल्पादेकप्रतिषेधऽपि प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम्)। 'कलञ्जभक्षण' की तरह 'अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण' अनर्थकारी नहीं है कि जिससे व्यक्ति की षोडशिग्रहण में प्रवृत्ति न हो[1]।

प्रतिषिध्यमान पदार्थ उस स्थल में अनर्थ का कारण होता है जहाँ पर निम्नलिखित सभी विशेषताएं पाई जाती हों—(१) विकल्प न होता हो, (२) पदार्थ की प्राप्ति राग से होती हो और (३) निषेध ही पुरुष के लिये इष्ट होता हो। इसका उदाहरण 'न कलञ्जं भक्षयेत्' यह निषेधस्थल है। यहाँ 'कलञ्जभक्षण वैकल्पिक नहीं है; यदि वैकल्पिक होता तो 'कलञ्जं भक्षयेत्' जैसी कोई विधि प्राप्त होती, किन्तु ऐसी कोई विधि नहीं मिलती। 'कलञ्जभक्षण' की प्राप्ति पुरुषराग द्वारा होती है अर्थात् रागवश होकर पुरुष कलञ्ज का भक्षण करना चाहता है। 'कलञ्जभक्षण' का

१—'यद्येव कलञ्जभक्षणनिषेधषोडशिग्रहणनिषेधयोस्साम्यं तर्हि अतिरात्राधिकरणकषोडशिग्रहणस्याप्यनर्थहेतुतापत्तौ कदाचिदपि तत्र पुरुषप्रवृत्तेरनुदयात् तद्विधिवैयर्थ्यापत्तिरित्यत आह एतावानिति'।

(सारविवेचिनी, पृष्ठ—१७५)

निषेध पुरुषार्थ माना जाता है, क्योंकि 'कलञ्जभक्षण' न करने से पुरुष नरकरूप अनिष्ट से बच जाता है। यही कारण है कि 'न कलञ्जंभक्षयेत्' इस स्थल में प्रतिषिध्यमान–'कलञ्जभक्षण' नरकरूप अनिष्ट का प्रापक माना जाता है[1]।

सोमयागप्रकरण में 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' (तैत्तिरीय संहिता २।३ एवं मैत्रायणी संहिता ३।६।५) यह विधि प्राप्त होती है। यह विधि सोमयाग में दीक्षाप्राप्त यजमान को याग में दान होम आदि करने से रोकती है[2]। दान होम आदि शास्त्रप्राप्त हैं अर्थात् शास्त्र में दान-होम आदि का विधान किया गया है। शास्त्रप्राप्त पदार्थ का शास्त्र द्वारा जब निषेध होने लगता है तब विकल्प माना जाता है[3], तो क्या क्रतु (याग) में दान, होम आदि का सम्पादन भी उसी तरह अनर्थ को उत्पन्न नहीं करता है जिस प्रकार 'नातिरात्रे षोडशिन गृह्णाति' वाक्य द्वारा 'षोडशी' के ग्रहण के निषेध' होने पर भी 'षोडशी का ग्रहण' अनर्थ नहीं उत्पन्न करता है[4] ?

यद्यपि दान-होम आदि का विधान शास्त्र द्वारा किया जाता है फिर भी मीमांसक याग में इनका विकल्प स्वीकार नहीं करता। कारण, 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इस निषेधवाक्य द्वारा प्रतिषिध्यमान–दान-होम क्रतु (याग) में अनर्थ उत्पन्न करते हैं—वैगुण्य उत्पन्न करते हैं एवं इनके निषेध

१—'नरकादिरूपानिष्टजनकत्वमित्यर्थः'

(सारविवेचिनी, पृष्ठ–१७६)

२—'सौमिकीं दीक्षां प्राप्तो यजमानः यावद्दीक्षाविमोकं पुरुषार्थदानानि क्रतुमध्यपतितानि न कुर्यात्, एवं पुरुषार्थहोमाग्निहोत्रादीन्नकुर्यादित्यर्थः'

(सारविवेचिनी, पृष्ठ–१७६)

३—'तस्माच्छास्त्रविहितस्य शास्त्रान्तरेण प्रतिषेधे विकल्प एव'

(विभाग संख्या—८२)

४—देखिये विभाग संख्या—८५

से ऋतु बिना किसी न्यूनता के सम्पन्न हो जाते हैं। वैसे शास्त्र द्वारा दान होम आदि का विधान किया जाता है अतएव वे अदृष्टजनक होते हैं, किन्तु ऋतु में उनका सम्पादन अनर्थकारी होता है। इस विषय को स्पष्टरूपेण एक दूसरे उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। स्वस्त्रीगमन पुरुषार्थ है, रागप्राप्त है, शास्त्रप्राप्त भी है फिर भी 'न स्त्रियमुपेयात्' यह दर्शपूर्णमास-प्रकरणपठित निणेधवाक्य ऋतु (याग) में स्वस्त्रीगमन का निषेध करता है। ऋतु में स्वस्त्रीगमन अनर्थ-वैगुण्य को उत्पन्न करता हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ऋतु में स्त्रीगमन के बारे में विकल्प नहीं माना जा सकता। इसी तरह ऋतु में दान होम आदि भी वैकल्पिक नहीं हैं।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि दान होम आदि पुरुषार्थ हैं जब कि दान होम आदि का निषेध-ऋत्वर्थ।

(निषेध—प्रकरण समाप्त)

(च) अर्थवादप्रकरणम्

प्रसङ्ग—विभाग संख्या १२ में वेद के ५ प्रभेद–(१) विधि, (२) मंत्र, (३) नामधेय, (४) निषेध एवं (५) अर्थवाद बतलाये गये हैं। इनमें से पूर्व चार प्रभेदों पर अभी तक विचार किया जा चुका है। अब अन्तिम प्रभेद–अर्थवाद का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

(८६—अर्थवादलक्षणम्)

प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः। तस्य च लक्षणया प्रयोजनवदर्थपर्यवसानम्। तथाहि-अर्थवादवाक्यं हि स्वार्थप्रतिपादने प्रयोजनाभावाद्विधेयनिषेध्ययोः प्राशस्त्यनिन्दितत्वे लक्षणया प्रतिपादयति। स्वार्थमात्रपरत्वे आनर्थक्यप्रसङ्गात्। आम्नायस्य हि क्रियार्थत्वात्। न चेष्टापत्तिः। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यध्ययनविधिना सकलवेदाध्ययनं कर्तव्यमिति बोधयता सर्ववेदस्य प्रयोजनवदर्थपर्यवसायित्वं सूचयतोपात्तत्वेनानर्थक्यानुपपत्तेः।

अर्थ—प्रशंसापरक अथवा निन्दापरक वाक्य को अर्थवाद कहते हैं। अर्थवाद को लक्षणा द्वारा धर्मपरक माना जाता है। धर्म प्रयोजनवान् पदार्थ होता है[1]। अभिप्राय यह है कि अर्थवाद वाक्य का अपने मुख्यार्थ में कोई प्रयोजन नहीं रहता है, अतएव अर्थवाद वाक्य लक्षणा द्वारा विधेय पदार्थ की प्रशंसा एवं निषेध्य पदार्थ की निन्दा का प्रतिपादन करता है। यदि अर्थवादवाक्य का अभिप्राय उसके अपने मुख्यार्थ में ही माना जायेगा तो अर्थवादवाक्य के व्यर्थ होने का प्रसङ्ग उठ खड़ा होगा। कारण, सम्पूर्ण वेद

१—'यागादिरेव धर्मः। तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति' (विभाग संख्या—४)

(अम्नाय) क्रियापरक होता है। अर्थवाद वाक्य के व्यर्थ होने की आपत्ति को इष्ट (इष्टापत्ति) नहीं माना जा सकता। कारण, स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययनविधि सूचित करती है कि (१) सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए (२) सम्पूर्ण वेद का अभिप्राय प्रयोजनवान् अर्थ–धर्म में ही है और (३) अर्थवाद भी वेदगत होने के कारण कियापरक-रूप में स्वीकृत (उपात्त) होता है, अतएव अर्थवाद व्यर्थ नहीं होता है।

अर्थबोधिनी—विधिवाक्य जिस पदार्थ का विधान करता है उसे विधेय कहा जाता है और निषेधवाक्य जिस पदार्थ का निषेध करता है उसे निषेध्य कहा जाता है। अर्थवाद वाक्य विधेय पदार्थ की प्रशंसा करता है और निषेध्य पदार्थ की निन्दा। अर्थवाद वाक्य का वाच्यार्थ विधेय की प्रशंसा अथवा निषेध्य की निन्दा नहीं होता, यह अर्थ तो लक्षणा द्वारा समझा जाता है।

अर्थवाद वाक्य का अपने वाच्यार्थ में प्रयोजन नहीं रहा करता है। उदाहरण के लिए 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा :[illegible] ता' (वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है) इस अर्थवाद वाक्य पर विचार किया जा रहा है। इस अर्थवाद का अभिप्राय 'वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है' इस अर्थ में नहीं होता क्योंकि अर्थवाद वाक्य वेद का एक भाग है[1], सम्पूर्ण वेद अर्थात् विधि, मंत्र-नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद वेद के इन पाँचों भागों का तात्पर्य धर्म में रहता है। ये सभी धर्म–यागादि क्रिया का प्रतिपादन करते हैं[2] (आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्)। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययनविधि भी विधान

१—'अपौरुषेयं वा क्यं वेदः। स च विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः'

(विभाग संख्या–१२)

२—वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्'

(विभाग संख्या–५)

करती है कि वेद का अध्ययन करना चाहिये अर्थात् वेद का अध्ययन सप्रयोजन है। वेद धर्म का प्रतिपादन करता है और धर्मानुष्ठान से इष्ट की प्राप्ति होती है यही वेद की प्रयोजनवत्ता है। अर्थवाद भी वेद के ही अन्तर्गत है। इस प्रकार अर्थवाद को भी धर्म–यागादि क्रिया का प्रतिपादक होना चाहिए, अतएव अर्थवाद वाक्य अभिधा द्वारा न तो स्वार्थपरक ही होता है और न क्रियापरक ही, किन्तु वहाँ लक्षणा द्वारा यह समझा जाता है कि अर्थवादवाक्य विधिविहित पदार्थ की प्रशंसा एवं निषेधवाक्य द्वारा निषिद्ध पदार्थ की निन्दा करते हैं। विहित एवं निषिद्ध क्रियायें होती हैं अथवा क्रियाओं के अङ्गभूत अन्य पदार्थ। इस प्रकार अर्थवाद वाक्य परंपरया क्रियापरक ही होते हैं अर्थात् धर्मपरक ही होते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि अर्थवादवाक्य विधि विहित एवं निषेध निषिद्ध पदार्थों की क्रमशः प्रशंसा एव निन्दा करते हैं ताकि श्रोता व्यक्ति विहित के सम्पादन से इष्ट की प्राप्ति कर सके एवं निषिद्ध से निवृत्त होकर अनिष्ट से बच सके। यही कारण है कि अर्थवाद वाक्य को निरर्थक नहीं माना जा सकता और इस प्रकार उसकी निरर्थकता की आपत्ति को इष्ट भी नहीं मान सकते।

प्रसङ्ग—अब ग्रंथकार अर्थवाद के प्रभेदों पर प्रकाश डाल रहे हैं—

(८७–अर्थवादस्य द्वैविध्यम्)

स द्विविधः, विधिशेषो निषेधशेषश्चेति। तत्र 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यादिविधिशेषस्य 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादेर्विधेयार्थप्राशस्त्यबोधकतयार्थवत्त्वम्। बर्हिषि रजतं न देयम्' इत्यादिनिषेधशेषस्य 'सोऽरोदीत्, यद् अरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इत्यादेर्निषेध्यस्य निन्दितत्वबोधकतयार्थवत्त्वम्।

न च प्राशस्त्यादिबोधस्य निष्प्रयोजनत्वेन नार्थवादस्यार्थवत्त्व-

मिति वाच्यम्। आलस्यादिवशादप्रवर्तमानस्य पुंसः प्रवृत्त्यादिजनकत्वेन तद्बोधस्योपयोगात्।

अर्थ—अर्थवाद के दो प्रभेद हैं—विधिशेष, (२) निषेधशेष। 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' यह एक विधिवाक्य है। इसका वाच्यार्थ है—ऐश्वर्यप्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति वायु देवता के लिये सफेद पशु का आलभन करे।' इस 'विधि का शेष' अर्थात् 'अर्थवाद' वाक्य है—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता।' इस अर्थवादवाक्य का वाच्यार्थ है—'वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है'। प्रकृत अर्थवादवाक्य की सार्थकता यह है कि वह उक्त विधि के द्वारा विहित क्रिया की प्रशंसा करता है। इसी प्रकार 'बर्हिषि रजतं न देयम्' (याग में चाँदी की दक्षिणा नहीं देनी चाहिए) इस निषेध वाक्य का शेष अर्थात् अर्थवादवाक्य है—'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (वह रोया और जो वह रोया वही तो रुद्र की रुद्रता है अर्थात् इसीलिए तो रुद्र को 'रुद्र'—'रोने वाला' कहा जाता है)। इस निषेधशेष अर्थवाद की यही सार्थकता है कि यह उक्त निषेधवाक्य द्वारा निषिद्ध पदार्थ की निन्दा का ज्ञान कराता है। यह कहना भी उचित नहीं कि 'प्रशंसा आदि का ज्ञान व्यर्थ होता है इसलिये अर्थवाद का कुछ भी प्रयोजन नहीं होता है।' कारण, आलस्य आदि के प्रभाव से जो व्यक्ति यागादि में प्रवृत्त नहीं होता है उसमें यागादि के प्रति प्रवृत्ति की उत्पत्ति विधेयार्थ की प्रशंसा के ज्ञान से होती है,इसीलिये अर्थवाद प्रयोजनहीन नहीं होते हैं। निषेध्य पदार्थ की निन्दा के ज्ञान से व्यक्ति में अनर्थमूलक क्रिया के प्रति निवृत्ति की उत्पत्ति होती है इसलिए भी अर्थवाद (निषेधशेष) प्रयोजनहीन नहीं होते हैं।

अर्थबोधिनी—प्रकृतस्थल में ग्रंथकार ने विशेष दृष्टिकोण से अर्थवाद के के दो प्रभेद (१) विधिशेष एवं (२) निषेधशेष बतलाया है। अगले विभाग में अर्थवाद के अन्य दृष्टिकोण से तीन प्रभेद बतलाये जायेंगे।

अर्थवाद के प्रथम प्रभेद का नाम विधिशेष है। इसे विधिशेष इसलिये

कहा जाता है कि यह विधेय की प्रशंसा द्वारा विधि वाक्य का पूरक होता है। विधि एवं अर्थवाद में एकवाक्यता होती है अर्थात् दोनों मिलकर एक पूर्णवाक्य होते हैं[1]। विधि के द्वारा विधेय का विधान होता है अतएव विधि मुख्य होती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अर्थवाद वाक्य विधिरूप मुख्य वाक्य का एक अवशिष्ट भाग ही है। इसलिये अर्थवाद को 'विधि का अवशिष्ट भाग' अर्थात् विधिशेष कहते हैं। इसी प्रकार निषेधवाक्य की पूर्णता के लिये भी अर्थवाद की अपेक्षा होती है इसलिए निषेधवाक्य द्वारा निषिद्ध पदार्थ की निन्दा करने वाले अर्थवाद को 'निषेधशेष' कहते हैं।

विधिशेष अर्थवाद का एक उदाहरण है—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' अर्थात् 'वायु सर्वाधिक शीघ्रगामी देवता है' यह वाक्य। इस अर्थवाद को 'वायव्यं-श्वेतमालभेत भूतिकामः' इस विधि का शेष (पूरक) वाक्य माना जाता है। 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूमिकामः' इस वाक्य का वाच्यार्थ यह है कि ऐश्वर्य को चाहने वाला व्यक्ति वायु देवता के लिये श्वेत पशु का आलभन करे' अर्थात् इस विधि के द्वारा वायु देवता के लिये 'श्वेतपशु के आलभन' का विधान किया जाता है। हो सकता है कि विधि को सुनने वाला व्यक्ति प्रमाद-वश उक्त विधेय के अनुष्ठान में प्रवृत्त न हो अतएव विधेय में प्रवृत्त कराने के लिये 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इस अर्थवाद वाक्य द्वारा विधेय की प्रशंसा की जाती है। वायुदेवता क्षेपिष्ठा है—शीघ्रगामी है अतएव वह विधेय के अनुष्ठाता व्यक्ति को भूति-ऐश्वर्य भी शीघ्र प्रदान करता है, इस प्रकार विधिशेष अर्थवाद से विधेय की प्रशंसा की जाती है। विधेय की प्रशसा द्वारा व्यक्ति को विधेयानुष्ठान में प्रवृत्त करना विधिशेष का प्रयोजन है। इस प्रकार विधिशेष अर्थवाद का प्रयोजन विधेय की प्रशंसा के ज्ञान द्वारा विधेय क्रिया में अधिकारी व्यक्ति को प्रवृत्त कराना है (विधिशेषस्य विधेयार्थप्राशस्त्यबोध-

---

१—'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः'

(जैमिनिसूत्र—१।२।७)

कतयार्थवत्त्वम्)। विधेय की प्रशंसा को सुनकर आलस्ययुक्त व्यक्ति भी विधेयभूत यागादि के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो जाता है अतएव विधेय के प्राशस्त्य का ज्ञान एवं ज्ञापन व्यर्थ नहीं होता है।

निषेधशेष संज्ञक अर्थवाद का प्रयोजन निषेध वाक्य द्वारा निषेध्य पदार्थ की निन्दा का बोध करना है (निषेधशेषस्य निषेध्यस्य निन्दितत्वबोधकतयार्थवत्त्वम्)।

यहाँ निषेधवाक्य का उदाहरण 'बर्हिषि रजतं न देयम्' है। इसका अर्थ यह है कि–'याग[1] में चाँदी (रजत) की दक्षिणा नहीं देनी चाहिये' निषेध्य –'रजतदान' की निन्दा इस 'निषेधशेष अर्थवाद से की जाती है—'सोऽरोदी-द्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्'। इस अर्थवाद के द्वारा यह ज्ञात होता है कि रोने से जो आँसू गिरे वही रजत है, इसलिये यदि रजतदान होगा तो घर में रोने का प्रसंग उठ खड़ होगा। इस प्रकार इस अर्थवाद से निषेध वाक्य द्वारा निषिद्ध–'रजतदान' की निन्दा होने पर निषेध एवं अर्थवाद वाक्यों में एक-वाक्यता स्थापित होती है।[2] यही कारण है कि प्रकृत अर्थवाद को विधिशेष कहते हैं।

'सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्य के अर्थ को ठीक तरह से समझने के लिये तैत्तिरीयसंहितागत एक कथा का उल्लेख कर देना अप्रासङ्गिक न

१–'बर्हिश्शब्देन तद्विशिष्टो यागो लक्ष्यते। बर्हिषि यागे रजतं दक्षिणात्वेन न देयमित्यर्थः'।

(सारविवेचिनी पृष्ठ १७७–७८)

२–" 'सोऽरोदीत्' इत्यत्रापि रजतस्य पतिताश्रुरूपत्वाद् रजतदाने गृहेऽपि रोदनप्रसङ्गाद् 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इति तन्निषेधेन विधेयेन अर्थवादस्य एकवाक्यत्वम्"

(ऋग्वेदभाष्यभूमिका—पृष्ठ १९)

होगा।[१] एक बार देवासुर संग्राम छिड़ा। देवताओं ने जब युद्ध के लिये प्रस्थान किया तब अपनी-अपनी बहुमूल्य वस्तुओं को अग्नि के पास न्यासरूप में यह सोचकर रख दिया कि यदि कदाचित् असुर विजयी हो जायें तो इन वस्तुओं से लोकयात्रा का निर्वाह हो सकेगा। किन्तु उन बहुमूल्य सुन्दर वस्तुओं को देखकर अग्नि को लोभ आ गया और वह उन सभी वस्तुओं को लेकर भाग निकला। असुरों पर विजय प्राप्त करके जब देवता लौटकर आते हैं तो क्या देखते हैं कि अग्नि सारी वस्तुओं को लिये भागा जा रहा है। देवताओं ने अग्नि का पीछा किया और उसे पकड़कर सारा सामान जबरदस्ती छीन लिया। उस सारी सामग्री के छिन जाने पर अग्नि को बड़ा आघात पहुँचा और वह रो पड़ा। रोते समय अग्नि (रुद्र) की आँखों से आँसू के दो बूंद टपके। वे ही घनीभूत होकर रजत के रूप में परिवर्तित हो गये।

निषेधशेष अर्थवाद से निषेध वाक्य द्वारा निषिध्यमान–रजतदान आदि पदार्थ की निन्दा का ज्ञान होता है। यह ज्ञान भी उपयोगी है क्योंकि ऐसा बोध होने पर व्यक्ति निषिध्यमान-रजतदानादि से निवृत्त होकर रजत–दानजन्य रोदनादि रूप अनिष्टप्रसङ्ग से बच जाता है।

प्रसंग—अब दूसरे दृष्टिकोण से अर्थवाद के अन्य प्रभेद किये जाते हैं—

१–'पुरा कदाचिद् देवासुराणां युद्धं प्रावर्तत। तत्र युद्धार्थं गच्छन्तो देवाः स्वीयमनर्घं रमणीयञ्च वस्तुजातमग्निसमीपेऽस्थापयन् यदि कदाचिदस्मानसुराः पराजयेयुः तदिदमस्माक लोकयात्रार्थं भविष्यतीति। दृष्ट्वा च तदतिसुन्दरममूल्यं च वस्तुजातं लोभाकृष्टचित्तोऽग्निः तद्गृहीत्वा पलायत। ते च देवा असुरान् जित्वा प्रतिनिवृत्ताः यदा पलायितमग्निमन्वागच्छन् तदा तमन्विष्य तत् सर्वमपि धन बलादाच्छिन्दन्। तादृशधनवियोगजं दुःखमसहमानोऽग्निररुदत्। त एव घनीभूता रजतत्वमापन्नाः'।

(सारविवेचिनी, पृष्ठ–१७८)

(८८—अर्थवादस्य त्रैविध्यम्)

स पुनस्त्रेधा । तदुक्तम्—

'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते ।

भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ॥ इति ।

अस्यार्थः—प्रमाणान्तरविरोधे सत्यर्थवादो गुणवादः, यथा 'आदित्यो यूपः' इत्यादिः । यूप आदित्याभेदस्य प्रत्यक्षबाधितत्वादादित्यवदुज्ज्वलत्वरूपगुणोऽनेन लक्षणया प्रतिपाद्यते । प्रमाणान्तरावगतार्थबोधकोऽर्थवादोऽनुवादः, यथा 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इति । अत्र हिमविरोधित्वस्याग्नौ प्रत्यक्षावगतत्वात् । प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोऽर्थवादो भूतार्थवादः, यथा 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' इत्यादि ।

अर्थ—अर्थवाद के तीन प्रभेद होते हैं-(१) गुणवाद, (२) अनुवाद एवं (४) भूतार्थवाद । इन तीनों का लक्षण निम्नलिखित श्लोक में इस प्रकार पाया जाता है—

'विरोधे गुणवादस्स्यादनुवादोऽवधारिते ।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ॥'

(अर्थ—अर्थवाद तीन प्रकार का होता है, अन्य प्रमाण से विरोध होने पर 'गुणवाद'. अन्यप्रमाण से ज्ञान होने पर 'अनुवाद' एवं प्रमाणान्तरविरोध ओर प्रमाणान्तरप्राप्ति इन दोनों के अभाव[1] होने पर भूतार्थवाद होता है ।) इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि जिस अर्थवाद का दूसरे प्रमाण से विरोध होता है उसे—(१) गुणवाद कहते हैं, जैसे 'आदित्यो यूपः' । प्रत्यक्ष प्रमाण के

१—'तयोर्हानं तद्धानं तस्मादिति विग्रहः । प्रमाणान्तरविरोधप्रमाणान्तरावधारणयोर्हानादित्यर्थः' ।

(कौमुदी—पृष्ठ १९४)

द्वारा 'आदित्य एवं यूप के एक होने' का बाध होता है, अतएव यहाँ लक्षण के द्वारा यूप आदित्य के समान उज्ज्वल है इस प्रकार उज्ज्वलत्व-रूप गुण का प्रतिपादन किया जाता है। (२) 'अनुवाद' उस अर्थवाद को कहते हैं जिसके अर्थ का ज्ञान अन्य प्रमाण से ही हुआ रहता है, यथा 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' (अग्नि सर्दी की दवा है) यह वाक्य। यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा पूर्व से ही यह सिद्ध हुआ रहता है कि अग्नि हिम का विरोधी है। (३) 'भूतार्थवाद' उस अर्थवाद को कहतेहैं जिसका दूसरे प्रमाण से विरोध भी न हो रहा हो और जिसके द्वारा प्रतिपादित अर्थ का वोध अन्य प्रमाण से भी संभव न हो, जैसे 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' (अर्थ–इन्द्र ने वृत्र को मारने के लिये वज्र उठा लिया) यह भूतार्थवाद का उदाहरण है।

अर्थबोधिनी—पिछले विभाग में अर्थवाद का जो विभाजन हुआ था उसका आधार अर्थवाद का विधि एवं निषेध से सम्बन्धख्यापन था। जो अर्थवाद, विधिविहित की प्रशंसा करता है उसे 'विधिशेष' एवं जो निषेध निषिध्य अर्थ की निन्दा का ख्यापन करता है उसे 'निषेधशेष' कहा जाता है। प्रकृत विभाग में अर्थवाद का जो विभाजन प्राप्त होता है उसका आधार यह है कि अर्थवाद के प्रतिपाद्य विषय की अन्य प्रमाणों से सिद्धि होती है या नहीं, यह है।

इस विभाग में अर्थवाद के तीन प्रभेद किये गये हैं—(१) गुणवाद, (२) अनुवाद एव (३) भूतार्थवाद। जिस अर्थवाद के अभिधेय अर्थ का अन्य किसी प्रमाण से विरोध उत्पन्न हो रहा हो और इस प्रकार अर्थवाद के मुख्यार्थ के बाध हो जाने के कारण गुणरूप लाक्षणिक अर्थ लिया जा रहा हो उस अर्थवाद को 'गुणवाद' कहा जाता है। इसलिए श्लोक में गुणवाद का लक्षण 'विरोधे गुणवादः स्यात्' किया गया है। 'गुणवाद' अर्थवाद' का उदाहरण 'आदित्यो यूपः' (तैत्तिरीय ब्राह्मण २।१।५।२) है। 'आदित्यो यूपः' का वाच्यार्थ यह है कि 'यूप अर्थात् यज्ञस्तम्भ आदित्य–सूर्य हैं', किन्तु सभी व्यक्ति जानते हैं कि यूप आदित्य नहीं हो सकता। इस प्रकार मुख्यार्थ का

बाध हो जाने पर 'आदित्यो यूपः' का अर्थ लक्षणा द्वारा 'यूप आदित्य के समान उज्ज्वल है' होता है। इस प्रकार लक्षणा द्वारा यहाँ उज्ज्वलत्वरूप 'गुण' विवक्षित है। इस रूप में गुण का 'कथन' (वाद) होने के कारण प्रकृत अर्थवाद को 'गुणवाद' कहा जाता है।

उस अर्थवाद को 'अनुवाद' कहा जाता है जिसका प्रतिपाद्य विषय अन्य प्रमाण से भी अवधारित अर्थात् निश्चित (ज्ञात) रहता है। इसीलिए ग्रन्थकार ने 'अनुवाद' का लक्षण करते हुए कहा है—'प्रमाणान्तरावगतार्थ-बोधकोऽर्थवादोऽनुवादः' अर्थात् अन्य प्रमाण या प्रमाणों से ज्ञात (अवगत) अर्थ का ज्ञान कराने वाले अर्थवाद को 'अनुवाद' कहते हैं। ग्रथकार ने यहाँ 'अनुवाद' के उदाहरण के रूप में तैत्तिरीय संहिता (७।४।१८।२) में प्राप्त 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' वाक्य को उद्धृत किया गया है। अग्नि शैत्य की दवा है' अर्थात् शैत्य का विनाश करने के कारण अग्नि शैत्य का विरोधी है। यह वात प्रत्यक्ष प्रमाण से पहिले ही ज्ञात हुई रहती है, उसी ज्ञात विषय का ज्ञापन कराने के कारण 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' वाक्य को 'अनुवाद' कहा जाता है।

अर्थवाद का तीसरा प्रभेद है—'भूतार्थवाद'। 'भूतार्थवाद' शब्द का अर्थ है—'यथाभूतवस्तु अर्थात् यथार्थ का अभिधान करने वाला वाक्य'। जिस अर्थवादस्थल में न तो गुणवादस्थल की भाँति प्रमाणान्तरविरोध होता है और न ही अनुवादस्थल की भाँति प्रमाणान्तरावधारण होता है अर्थात् जहाँ प्रमाणान्तरविरोध एवं प्रमाणान्तरावधारण इन दोनों का अभाव होता है वहाँ 'भूतार्थवाद' संज्ञक अर्थवाद माना जाता है (प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्ति-रहितार्थबोधकोऽर्थवादो भूतार्थवादः)। श्लोक में 'भूतार्थवाद' का लक्षण 'तद्धानात्' किया गया है 'तद्धानात्' का विग्रह 'तयोर्हानात्' होगा और 'तयोः' का अर्थ 'प्रमाणान्तरविरोधप्रमाणान्तरावधारणयोः' होता है। 'भूतार्थ-वाद' अर्थवाद का उदाहरण है—'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' (शतपथ ब्राह्मण १।२।३।३)। इसका अर्थ यह है कि 'इन्द्र ने वृत्र को बध करने के लिए वज्र को उठा लिया। इस स्थल में न तो कोई ऐसा प्रमाण ही प्राप्त

होता है जो 'वृत्र का वध करने के लिये इन्द्र के वज्र उठाने' का विरोध कर सके और न ऐसा ही कोई प्रमाण प्राप्त होता है जिससे यह ज्ञात हो सके कि 'इन्द्र ने वृत्र को मारने के लिये वज्र को उठाया'। उक्त प्रकार से यहाँ 'प्रमाणान्तरविरोध' एवं 'प्रमाणान्तरावधारण' दोनों का अभाव होने के कारण 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' को 'भूतार्थवाद' अर्थवाद का उदाहरण माना जाता है।

इस प्रकार अर्थवादविषयक विचार समाप्त हुआ।

(छ) उपसंहारः

प्रसंग—धर्मभूत याग के प्रतिपादक वेद के पाँचों प्रभेदों-विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद—का विवेचन पूर्ण होने के पश्चात् अब ग्रंथकार ग्रंथ का उपसंहार करते हैं—

(८९ — उपसंहारः)

एवं च 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि निखिलवेदस्य साक्षात् परम्परया वा यागादिधर्मप्रतिपादकत्वं सिद्धम् ।

सोऽयं धर्मो यदुद्दिश्य विहितस्तदुद्देशेन क्रियमाणस्तद्धेतुः । ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः । न च तदर्पण-बुद्ध्यानुष्ठाने प्रमाणाभावः—

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्' इति भगवद्गीतास्मृतेरेव प्रमाण-त्वात् । स्मृतिचरणे तत्प्रामाण्यस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनात् इति शिवम् ।

अर्थ—इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि समस्त वेद साक्षात् अथवा परम्परया याग आदि धर्म का प्रतिपादक है । याग-रूप धर्म का विधान जिस उद्देश्य से किया जाता है यदि उसी उद्देश्य से उसका अनुष्ठान भी होता है तो उस अनुष्ठान से उद्दिष्ट फल की प्राप्ति होती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि—'ईश्वरार्पण बुद्धि से यागानुष्ठान के विधान होने में कोई प्रमाण नहीं है' । कारण, 'हे अर्जुन ! जो करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान करते हो, जो तप करते हो वह सब मुझे अर्पण कर दो' । इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता—स्मृति (९।२७) ही इस विषय में प्रमाण है । जैमिनि ने

प्रथम अध्याय के तृतीयपाद (स्मृतिचरण) में सिद्ध किया है कि वेदमूलक होने के कारण स्मृति भी प्रमाण होती है। इति शिवम्।

अर्थबोधिनी— वेद के विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद इन पाँचों प्रभेदों का सम्पूर्ण विवेचन पिछले विभागों में किया जा चुका है। इस विभाग में ग्रंथकार ने ग्रथ का उपसंहार किया है।

ग्रंथकार ने उपसंहार में प्रायः उसी शब्दावली प्रयोग किया है जिसका आपदेव ने 'मीमांसान्यायप्रकाश' में। आपदेव के शब्द ये हैं:—

'सोऽयं धर्मो यदुद्देशेन विहितः तदुद्देशेन क्रियमाणस्तद्धेतुः। श्रीगोविन्दार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः। न च तदर्पणबुद्ध्या तदनुष्ठाने प्रमाणाभावः।

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

इति स्मृतेः'[1]।

'यजेत स्वर्गकामः' आदि विधियाँ मंत्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद ये सभी वेदभाग साक्षात् अथवा परम्परया यागरूप धर्म का ही प्रतिपादन करते हैं, सभी धर्मपरक हैं[2]। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' यह विधि स्वर्ग को उद्देश्य करके 'ज्योतिष्टोम'-याग-रूप धर्म का विधान करती है। अतएव यदि ज्योतिष्टोम का अनुष्ठान स्वर्ग के उद्देश्य से किया जाता है तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है, यह मीमांसा का परम्परागत सर्वविदित सिद्धान्त है। इसी प्रकार अन्य यागों के अनुष्ठान के विषय में भी समझना चाहिये। किन्तु यदि किसी याग का अनुष्ठान ईश्वरार्पण बुद्धि से किया जाता है तो मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कोई व्यक्ति यह प्रश्न कर सकता है कि 'ईश्वरार्पण बुद्धि से यागानुष्ठान करने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है' इस विषय में क्या प्रमाण है? इस स्थल

१—मीमांसान्यायप्रकाश—पृष्ठ—(१९०—९१)

२—देखिये विभाग संख्या—५

पर प्रमाणरूप में गीता का—'यत्करोषि यदश्नासि' इत्यादि-श्लोक प्रस्तुत किया गया है। फिर प्रश्न यह किया जा सकता है कि 'श्रीमद्भगवद्गीता तो स्मृति है किन्तु श्रौत यागों में श्रुतिवाक्य ही प्रमाण होते हैं, स्मृतिवाक्य नहीं, फिर स्मृति को यहाँ क्यों प्रमाण माना गया है ?'। ग्रंथकार का उत्तर है कि स्मृति को श्रुतिमूलक होने के कारण प्रमाण माना जाता है। जैमिनि ने प्रथम अध्याय के तृतीय पाद (स्मृतिचरण) में श्रुतिमूलक होने के कारण स्मृति को प्रामाणिक सिद्ध किया है।

स्पष्ट है कि मीमांसा दर्शन न तो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता रहा है और न ही निष्काम कर्म एवं मोक्ष में ही। निष्काम कर्म एवं मोक्ष आदि की धारणायें अपेक्षाकृत परवर्ती हैं। इस प्रकार निरीश्वर मीमांसा दर्शन भी परवर्ती विचारों से प्रभावित होकर सेश्वर हो गया। मंगलाचरण एवं उपसंहार के अतिरिक्त ग्रंथ का कोई भी विवेचन सेश्वरता से प्रभावित नहीं है। इस प्रकार ग्रन्थ का विवेचन परम्परागत मीमांसा के सिद्धान्तों पर आधारित शुद्ध विवेचन है तथा मंगलाचरण एवं उपसंहार में सेश्वरता का पुट चढ़ा दिया गया है।

'इति' शब्द ग्रथ की समाप्ति का सूचक है और 'शिवम्' शब्द ग्रंथ के रचयिता, पाठक आदि सबके लिये मंगलकामना व्यक्त करता है।

प्रसंग—अन्त में ग्रंथकार ग्रथ के निर्माण का प्रयोजन बतलाते हैं :—

(९० — अर्थसंग्रहरचनाप्रयोजनम्)

बालानां सुखबोधाय भास्करेण सुमेधसा।
रचितोऽयं समासेन जैमिनीयार्थसंग्रहः ॥

अर्थ—अत्यन्त मेधावी लौगाक्षिभास्कर ने जैमिनीयदर्शन के 'अर्थसंग्रह' नामक ग्रंथ की रचना इसलिये की कि बालकों (अल्पज्ञों) को भी सरलता से कर्ममीमांसा दर्शन का ज्ञान हो सके।

अर्थबोधिनी—लौगाक्षिभास्कर के समय में कर्ममीमांसा दर्शन ह्रासोन्मुख हो चला था। कर्ममीमांसा के वृहत्काय ग्रंथों का अध्ययन एवं अध्यापन सामान्यरूप से कठिन हो रहा था, अतएव आवश्यकता इस बात की थी कि कर्ममीमांसा दर्शन का एक लघुकाय ग्रंथ होता जिसमें कर्ममीमांसा के पदार्थों का संक्षिप्त एवं सरल विवेचन होता और जिसको छात्र सरलता से समझ सकते। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये लौगाक्षिभास्कर ने 'अर्थ-संग्रह' नामक ग्रंथ की रचना की।

'इति श्रीमहामहोपाध्ययायलौगाक्षिभास्करविरचितमीमांसार्थसंग्रह-नामकं प्रकरणं समाप्तिमगात्'

(इस प्रकार महामहोपाध्याय लौगाक्षिभास्कर के द्वारा रचित पूर्व-मीमांसा दर्शन का 'अर्थसंग्रह' नामक प्रकरण ग्रंथ समाप्त हुआ।)

'अर्थबोधिनी' व्याख्या समाप्त

अर्थसंग्रहशब्दार्थकोष

(अङ्क द्वारा विभाग का निर्देश किया गया है। जिन शब्दों का अर्थ नहीं दिया गया है उनका अर्थ प्रासङ्गिक विभागों में देखना चाहिए)

अग्निमत्ता—अग्नि से युक्त होना, ६०

अग्निहोत्र—यागविशेष का नाम, १३, २०, २१, ५२, ७१

अग्नीषोमीय—पशुविशेष (४४, ५४), यागविशेष (५३, ५४)

अङ्ग—२२, ३४, ३७, ३८, ४०, ४३, ४५, ४७, ४८, ५०, ५५, ५६, ५७,

अङ्गजात—अङ्गसमूह, ११

अङ्गत्व—अङ्ग होना, २३, २५–२९, ३१–३५, ३७, ४६, ५२,

अतिदेश—प्रकृति याग के समान विकृति याग के सम्पादन करने का विधायक लौकिक 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या' यह वाक्य, ३४, ३६

अतिरात्र—यागविशेष का नाम ८४

अतिव्याप्ति—लक्षण के तीन दोषों में से एक दोष, ४

अदृष्ट—४८, ६१

अदृष्टार्थ—४८, ६१

अदृष्टार्थत्व—५२

अधिकार—५८

अधिकारविधि—चार विधियों में से एक विधिविशेष १७–१९, ५८

अध्ययनविधि—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह वाक्य, ३, ६०, ८६

अध्ययनविधिसिद्धा—६०

अध्वर्यु—यजुर्वेद से सम्बद्ध ऋत्विक् ४६

अनन्यगत्या—अन्य उपाय न होने के कारण, ६६, ८४

अनर्थ—अनिष्ट, ४, ७५,

अनर्थहेतुत्व—अनर्थ का कारण होना ८५

अनारभ्याधीत--३३

अनीक्षण—न देखना, ७९

अनीक्षणसङ्कल्प—न देखने का सङ्कल्प ७९

अनुकूल—जनक, सहायक ७, ८

अनुबन्ध्य—पशुविशेष ५४

अनुयाज—विशेष यागों का नाम ८०–८२

अनुवाक्या—मंत्रविशेष ४२, ५३

अनुवाद—पुनः कथन (३८, ४३, ५१, ८२), अर्थवाद का एक प्रभेद (८८)

अनुष्ठान—सम्पादन २६, ५२–५७, ८२, ८९

अनुष्ठानसादेश्य—४१, ४४

अनूद्य—अनुवाद करके ७२

अन्तराल—मध्य ३८

अन्यतर—दो में से एक ८६

अन्वय—सम्बन्ध (९, २०, २२, ३९, ६७, ७०, ७६, ७८–८०, ८४) किसी एक के होने पर ही किसी दूसरे का होना (६२)

अन्वेति—सम्बद्ध होता है अन्वित होता है, ९, ११, २२, ३३, ३९, ७६, ७९

अपूर्व—अदृष्ट, (२६, ३३, ३८, ४३, ४४), नवीन (३६)

अपूर्वविधि—एक प्रकार का विधिवाक्य ६२

अपेक्षणीय—आवश्यक ६०, ८४

अपौरुषेय—जिसका निर्माण पुरुष ने नहीं किया है १२

अप्राप्त—अज्ञात, अविहित १३, १५, ६२, ६७, ६९

अभिक्रमण—परिभ्रमण, समीपगमन ३७, ३८

अभिक्राम—देखिए 'अभिक्रमण' ३८

अभिघारण—छिड़काव ५५

उद्भिदा–'उद्भिद्' संज्ञक याग के द्वारा १८, ६७, ६९
उद्यमन–उठाना ३९
उपकार–साहाय्य ३८
उपकारक–साधन ३५
उपकार्य–साध्य ३५, ३९
उपक्रम–प्रारंभ ७८, ७९,
उपक्रम्य–प्रारंभ करके ७९
उपभृत्–पात्रविशेष ३८
उपशम–शान्ति ३६
उपसंहार–एक प्रकार का संकोचन (अवच्छेद) ८३
उपसर्जन–गौण ७६
उपस्थान–पूजन ३०
उपाकरण–पशुक्रियाविशेष ५७
उपात्तत्वेन–प्राप्त होने के कारण ८६
उलप–एक प्रकार का तृण, सरकण्डा ३१
एकप्रसरता–एकवाक्यता ५१
एकवाक्यता–एकवाक्य होना ५०
एकवाक्यत्व–एक वाक्य का होना ३४, ७९
ऐन्द्र्या–'ऐन्द्री' (इन्द्रपरक ऋचा) शब्द के तृतीया एकबचन का रूप। 'ऐन्द्र्या लिङ्गात्' में 'ऐन्द्र्याः' पद है जो कि 'ऐन्द्री' शब्द के षष्ठी एक वचन का रूप है। ३०
औपवसथ्य–दिनविशेष का नाम ४४, ५४
करण–साधन ९, ११, २०
कर्तव्य–किये जाने योग्य है, करना चाहिए ३८, ५४, ५७, ७९, ८६
कर्मनामधेय–क्रिया (याग) का नाम ७०–७४
कलञ्ज–विषाक्त बाण से मारे गये पशु-पक्षी का मांस ७५, ८५

प्रसङ्ग—(अनिष्ट की) प्रसक्ति या प्राप्ति ३७, ८६
प्राप्त—ज्ञात, विहित १४, १७, २२, ३४, ६३, ६५, ७१, ७२, ८०, ८३
प्राप्तबाध—६५
प्राप्ति—विधान ३३, ८०, ८५, ८८
प्राशस्त्य—प्रशंसा ९, ८६, ८७
प्राशुभाव—शीघ्रता ५०
प्रोक्षण—(जल से) छिड़कना २६, ४८
बाध्यबाधकभाव—विरोधसम्बन्ध ८१
बोधक— ज्ञापक २०, २२, ५०, ५८, ७७, ८७, ८८
ब्राह्मणपाठ—ब्राह्मणगत वाक्यों का पाठ, 'पाठक्रम' संज्ञक क्रमप्रमाण का एक प्रभेद ५३
भवन—(उत्पन्न) होना ७
भवितुः—(उत्पन्न) होने वाले का ७
भावना—६, ७, ९, २८, २९, ३७, ३९, ७९
भावयितुः—उत्पादयिता का ७, ८
भावयेत्—सिद्ध करे, सम्पादन करे, अनुष्ठित करे ९, ११, १३–१५, १७, २०, २२, ३३, ३५, ३८, ६९, ७०, ७९
भाव्य—साध्य ९, ४३, ४४, ७९
भास्कर—अर्थसङ्ग्रह' ग्रथ के लेखक का नाम 'भास्कर' है ९०
भूतार्थवाद—अर्थवाद का एक प्रभेद ८८
मत्वर्थलक्षणा—लक्षणाविशेष १५, १७, १८
मत्वर्थलक्षणाभय—किसी शब्द के नामधेय होने में चार निमित्तों में से एक निमित्तविशेष ६८, ६९
मन्त्र—१२, २६ ३१, ३२, ४२, ५३, ६१, ८०, ८२
मन्त्रपाठ—पाठक्रमसंज्ञक प्रमाण का एक प्रभेद—५३
महाप्रकरण—प्रकरण संज्ञक प्रमाण का एक प्रभेद ३६

श्येन—यागविशेष का नाम ४, ७३, बाज पक्षी ७३

श्रवण—सुनना ५९

श्रुतहानि—सुने हुए का अग्रहण ६५

श्रुति—विनियोगविधिगत प्रमाणविशेष २३, २५, २६, २७, २८, ३०, ४६। प्रमाणविशेष (व्यापक अर्थ में) २४। प्रयोगविधिगत क्रमबोधक प्रमाणविशेष ५१, ५७

श्रुतिमूलक—जिसका मूल अर्थात् आधार वेद हो ८९

श्रौती परिसंख्या—परिसंख्याविधि का एक प्रभेद ६४

षोडशिग्रहण—षोडशी को ग्रहण करना ८४

षोडशी—पात्रविशेष का नाम ८४

सङ्कल्प—किसी कार्य को करने के लिए परिपुष्ट मानस कर्म ७९

सङ्कोचन—सीमित करना ८३

सत्त्व—विद्यमान होना ३८, ७४, ७७

सन्दंश—अङ्गाङ्गिभावबोधक प्रकरणप्रमाण के प्रभेद- अवान्तर प्रकरण-स्थल में अङ्गाङ्गिभाव का बोधक न्यायविशेष ३७, ३८, ४३

सन्निकर्ष--समीप ५६

सन्निधि—समीप २२, ३९

सन्निधिपाठ--अङ्गाङ्गिभावबोधक स्थान प्रमाण का प्रभेदविशेष ४१, ४३

सन्निपत्योपक रक—४७—४९

समभिव्याहार—सहोच्चारण, साथ-साथ उच्चारण ३३, ४६

समभिव्याहृत--सहोच्चरित, साथ-साथ उच्चारण किया गया ७७

समाख्या—विनियोगबोध में सहायक प्रमाणविशेष २३, ३१, ४५, ४६

समानाभिधानश्रुति श्रुति का प्रभेदविशेष २८

समास—संक्षेप ९०

समिद्—यागविशेष का नाम ३५, ४७, ७२

समुच्चित—युक्त ७२

सम्पादकत्व—सम्पन्न करने वाला होना, अनुष्ठातृभाव ८५,

सम्प्रतिपन्न—प्राप्त ७४

सवनीय—पशुविशेष, दिनविशेष, यागविशेष ५४

सहकारिभूत—सहायक २३

सहकृत–सहायना प्राप्त २३, ४७

साद्यस्क—यागविशेष का नाम ५४

साधन–हेतु ९, ११, २६, ६२

साध्य–सिद्ध होने योग्य, भाव्य ९ ११, २२, ३३, ६२

सान्नाय्य पात्र–विशेष पात्रों का नाम ४५

सामान्यविधि–सभी यागों के लिए उपयोगी विधिवाक्य ४३

सामान्यशास्त्र–पदार्थ सामान्य का विधान करने वाला वाक्य ८२, ८३

साहित्य–सहभाव, साथ-साथ अनुष्ठित होना ५०, ५४, ५५, ५७

सुत्याकाल—दिनविशेष ५४

सुमेधस्—मेधावान्, विद्वान् ९०

सोम –यागोपयोगी (यागाङ्ग) द्रव्यविशेष १५, १७, १८, २५

सौर्य—एक विकृति याग का नाम ३४

स्तुति—प्रशंसा ७३

स्थान—विनियोगबोध में सहकारी प्रमाणविशेष २३, ३६, ३९, ४५। प्रयोगविधिसम्बन्धी क्रमबोधक प्रमाणविशेष ५१, ५४

स्मृतिचरण–जैमिनसूत्र के प्रथम अध्याय का तृतीयपाद स्मृतिचरण' कहलाता है ८९

स्रुवा—पात्रविशेष ३३

स्वभाव—प्रकृति, वैशिष्ट्य ७७

स्वार्थ—अपना (अभिधेय) अर्थ ८६

हवि—हवनयोग्य द्रव्य २५ ३३, ५५

हिम—सर्दी ८८

हिमविरोधित्व – सर्दी का विरोधी होना ८८

होतुः—होता नामक ऋत्विक् का ४६

———

उपयुक्तपुस्तकसूची

ऐतरेयब्राह्मणम् (सायणभाष्य सहित) प्रथम भाग
विनायक गणेश आपटे द्वारा प्रकाशित, पूना, सन् १९३० ई०

२. शास्त्रदीपिका 'युक्तिस्नेहपूरणी' एवं 'मयूखमालिकां व्याख्याओं सहित। चौखम्वा-प्रकाशन, सन् १९१३ ई०

३. कौमुदी—अर्थसंग्रहव्याख्या । चौखम्वा संस्कृत सीरीज़, वि० संवत् १९७२ ।

४. सारविवेचिनी—मीमांसान्यायप्रकाशव्याख्या चिन्नस्वामिशास्त्रिकृत चौखम्वाप्रकाशन, सन् १९४९ ई०

५. मीमांसान्यायप्रकाश (सारविवेचिनीसहित)—श्रीमदापदेवकृत, चौखम्वाप्रकाशन, सन् १९४९ ई०

६. ऋग्वेदभाष्यभूमिका—सायणविरचिता (बलदेव उपाध्याय द्वारा सम्पादित 'वेदभाष्यभूमिकासंग्रहः' के अन्तर्गत) चौखम्वाप्रकाशन, सन् १९५८ ई०

7. Mīmāṁsānyāyaprakāśa. Transtaled by Edgerton.

8. A History of Indian Logic
by
Dr. Vidyabhusan

9 Indian Logic and Atomism
by
Keith

10. The Karma Mīmāṁsā : Keith

11. A History of Indian Philosophy :
by
Surendranath Dasgupta Vol. I,
Published by the Syndics of the Cambridge University Press, 1951

12. Indian Philosophy.
by
Radhakrishnan, Vol. II, seventh impression, 1956.

;. Arthasaṁgraha, Gajendragadkar edition, 1934.

4. Purva—Mīmāṁsā and it Sources : Dr. G. Jha.